शास्त्रीय ग्रन्थमाला
[प्रथम पुष्पम्]

म०म० आचार्यगोपालशास्त्रिप्रणीतम्

बृहल्लघुपाणिनीयम्

सम्पादक
आचार्यकरुणापतित्रिपाठी

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी

3.2

प्रियबन्धुवर श्री डा. कुन्दनलाई
गोस्वामीजीको सनेह —
(ड. कृष्णपति मिश्र)
पौ. शु. १ —
संवत् २०४२ वि.

शास्त्रीय-ग्रन्थमाला

[प्रथमं पुष्पम्]

म० म० आचार्यगोपालशास्त्रिप्रणीतम्

बृहदृजुपाणिनीयम्

सम्पादकः

आचार्यकरुणापति त्रिपाठी

कुलपतिचरः

संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

अध्यक्षः

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादम्याः

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी, लखनऊ

२०४० तमे वैक्रमाब्दे १९०५ तमे शकाब्दे १९८३ तमे ईशवीये

प्रकाशकः
धर्मनारायणत्रिपाठी
निदेशकः, उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादम्याः

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रयविभागः
संस्कृतभवनम्,
उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी,
न्यू हैदराबाद, लखनऊ-२२६ ००७

प्रथमं संस्करणम्—११०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् : ५०-०० रूप्यकाणि

मुद्रक :
विजय प्रेस
सरसौली, वाराणसी

ŚĀSTRĪYA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. I]

BṚHADṚJUPĀṆINĪYAM

OF

M. M. Ācārya Gopāla Śāstri

Edited
BY

ĀCĀRYA KARUṆĀPATI TRIPĀṬHĪ
Ex-Vice-chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
&
President
Uttara Pradesh Sanskrit Academy

UTTAR PRADESH SANSKRIT ACADEMY
LUCKNOW
1983

Published by—
Dharma Nārāyaṇa Tripaṭhī
Director, Uttar Pradesh Sanskrit Academy,
Lucknow

Available at—
Sales Department,
Sanskrit Bhavanam, Uttar Pradesh Sanskrit Academy
New Haidarabad
Lucknow–226 007

First Edition, 1100 Copies

Price :Rs. 50-00

Printed at :
Vijaya Press
Sarsauli,
Varanasi.

म० म० पण्डितराजः डा० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी'

काशी-पण्डितसभाध्यक्षः राष्ट्रपति-सम्मानितश्च

भैया नमस्कार। इन मौके पर फोन खराब है। अतः सत्य तथ्य संक्षिप्त लिखता हूं। सत्ये नास्ति भयं क्वचित्। जैसे आज लघु कौमुदी भारत में प्रसिद्ध है। उससे दशगुणा आपका यह ऋजुपाणिनीय ग्रन्थ है। आप विशेषाधिकार से ही इस रत्न को जगत में ला दें। मैं आपको ही समर्पण करूंगा। मैं और आप दो ही इसे समझते हैं। अधिक क्या कहूं। जब यह छपकर ग्रन्थाकार में आवेगा तो जगत् चमत्कृत होगा। तब आपको जगत् सम्मानित करेगा। इति। शिवम्

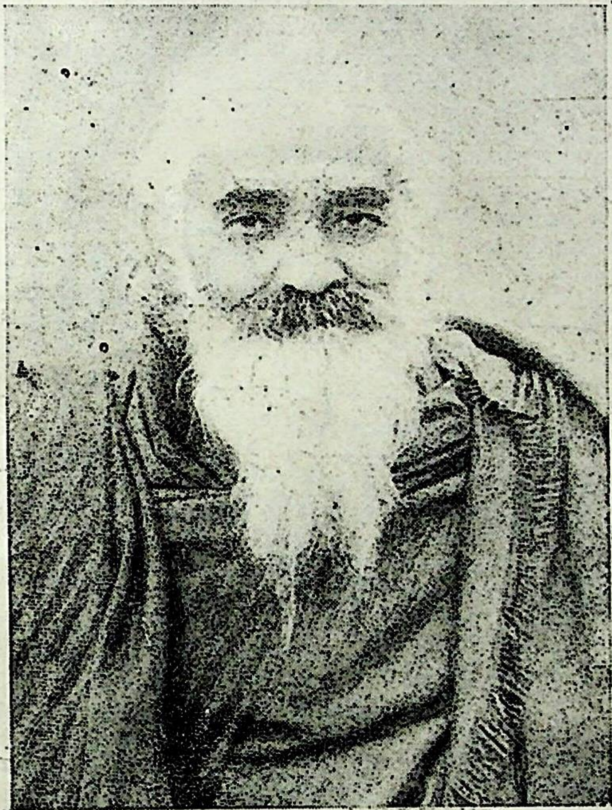
श्री. गोपालः
२/३/८३

डी॰ ५९/३१ सिगरा, वाराणसी

दूरभाष : ६५९९५

समर्पण

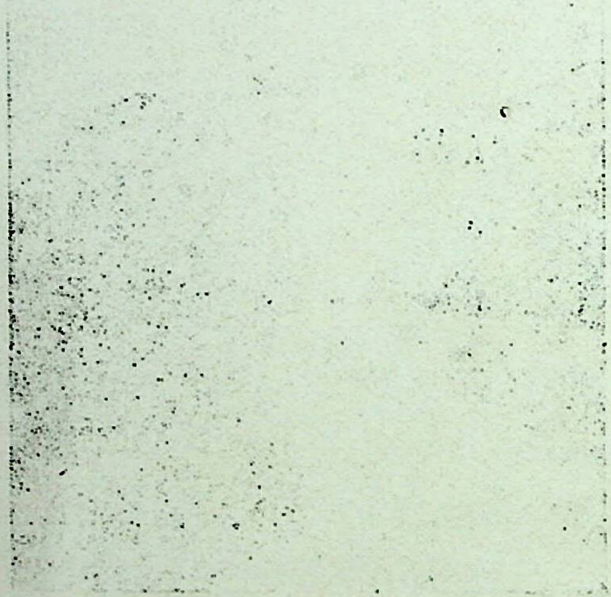
त्वदीयं वस्तु गोपाल ! तुभ्यमेव समर्पये



ब्रह्मलीन श्रद्धास्पद शास्त्री जी को उनकी यह कृति समर्पित करते हुए सम्पादक के रूप में आज मैं अपने को कृतार्थ समझ रहा हूँ। उनके स्वलिखित पत्र द्वारा स्पष्ट है कि वे मुझे यह कृति समर्पित करना चाहते थे। परन्तु आज मैं ही स्वसम्पादित उनकी कृति—श्रद्धाञ्जलि रूप में उन्हीं को समर्पित कर रहा हूँ।

सम्पादक

कृष्णपति त्रिपाठी



श्रीशौ वन्दे

संपादकीय प्रस्तावना

शब्दब्रह्मणे नमः

दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥१॥
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥२॥
वाक्यकारं[1] वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारं च प्रणमामि मुनित्रयम् ॥३॥
योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥४॥

व्याकरण को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लक्षण-शास्त्र कहा है। अर्थात् लक्ष्यों को, प्रयोगों को देखकर ऐसे नियमों का व्याकरण निर्माण करता है, जो लक्ष्यभूत शब्द या भाषा की शुद्धता के लिए सहायक होते हैं। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में व्याकरणविद्या को शब्दानुशासन भी कहा है। भाषा में शब्द-प्रयोग का व्याकरण शासक नहीं है अपितु भाषानुसारी प्रयोगों के अनुशासन को वह व्यवस्थापित करता है।

पाणिनीय व्याकरण की सबसे बड़ी नव्यता और विशिष्टता यह है कि वह वैदिक और लौकिक—दोनों प्रकार की संस्कृत भाषा का व्याकरण एक ही ग्रंथ में है। इसीलिए व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन बताते हुए महाभाष्य में 'पतञ्जलि' ने कहा है—"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्", "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति"।

वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार, वर्णविपर्यय आदि के कारण वैदिक प्रयोगों में लौकिक की अपेक्षा विचित्रता देखकर पाठक की बुद्धि भ्रमित न

---

१. वृत्तिकारम्

हो और पाठान्तर की कल्पना करके अशुद्ध पाठ न करे, इसके लिए व्याकरण पढ़ना आवश्यक है।[1]

इसके अतिरिक्त तीन प्रयोजन—ऊह, लघु और असन्देह भी प्रायः वैदिक प्रयोगों से सम्बद्ध हैं। आगे जो प्रयोजन—"इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि·····"।[2] के द्वारा कहे गए हैं—

वे अन्य अधिकांश प्रयोजन वैदिक-क्रिया-प्रक्रिया यज्ञ-यागादि से ही प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सम्बद्ध हैं।

कहने का इतना ही तात्पर्य है कि पाणिनि का व्याकरण बहुत लोगों के मतानुसार लौकिक-संस्कृत का ही है, किन्तु ऊपर के महाभाष्योक्त व्याकरण-शास्त्र के प्रयोजनों को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पाणिनि का व्याकरण वैदिक और लौकिकोभय-विध संस्कृत भाषा का उत्कृष्ट व्याकरण है। महर्षि पाणिनि का यह व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी (या अष्टक) नाम से विश्वविख्यात है। इस पर वृत्तिकार या वार्तिककार अथवा वाक्यकार वररुचि का वार्तिक लिखा गया है जिसकी व्याख्या और समीक्षा के साथ-साथ पाणिनि-सूत्रों पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण किया है।

ऐसा कहा जाता है कि व्याकरण विद्या का उद्भव सर्वप्रथम भारत वर्ष में ही हुआ। ईसा से हजारों वर्ष पूर्व यहाँ व्याकरण ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। सर्वप्रथम व्याकरण का उदय उस समय हुआ जब वेद के मंत्रभाग अर्थात् वैदिकसंहिता-मंत्रों का पदपाठ प्रतिष्ठित हुआ। ऋग्वेद की मंत्रात्मक ऋचाओं का पदपाठ सर्वप्रथम कण्ठपरम्परा से गुरुओं द्वारा शिष्यों को पढ़ाया जाने लगा। तदनन्तर क्रमपाठ आदि अन्य वैदिक विकृतिपाठों[3] का भी संयोजन हुआ।

---

१. इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ समझने के लिए मेरा शोध-निबन्ध देखें—आचार्य बलदेव उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ—खण्ड तीन हिन्दी/संस्कृत निबन्ध—

'महाभाष्य का पस्पशाह्निक और व्याकरण के प्रयोजन' पृष्ठ ३६।

२. वही—पृष्ठ ३६-३७।

३. अष्टवैदिक पाठविकृतियाँ हैं—(१) जटा (२) माला (३) शिखा (४) रेखा (५) ध्वजो (६) दण्डो (७) रथो (८) घनः अष्टौ विकृतयः प्रोक्ता वेदरक्षा-प्रयोजकाः।

पदपाठ जिस समय निर्धारित हुआ उसी समय से व्याकरण का आरंभिक आविष्कार भी हुआ होगा। क्योंकि मंत्रात्मक संहिताओं के प्रत्येक मंत्र का पदपाठ व्याकरण ज्ञान के द्वारा ही हुआ होगा। व्याकरण अर्थात् पद का प्रयोग, संहिता पदों के परस्पर संधियों का विच्छेदन और तदनुसार उदात्त और अनुदात्त आदि स्वरों में उनका परिवर्तन बिना व्याकरणज्ञान के सम्भव नहीं है। क्रमपाठ में तो व्याकरण ज्ञान की आवश्यकता और भी अधिक पड़ती है। इसी प्रकार सर्वतोऽधिक समादृत विकृति 'घनपाठ'—बिना व्याकरण-ज्ञानके असंभव है।

पाणिनि से अनेक शताब्दी पूर्व अनेक वैयाकरण और नैरुक्तिक हो चुके थे। इसके संबंध में दो-चार शब्द आगे कहे जायेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वैदिक पदपाठ काल से ही किसी न किसी रूप में व्याकरण विद्या जन्म ले चुकी थी।

व्याकरण वेदांग है

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च।
ज्योतिषं च षडङ्गानि..............................॥

इस पद्य में बताया गया है कि वेदों को समझने के लिए षडङ्ग अत्यंत सहायक होते हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्दों-विद्या और (६) ज्योतिष। इनमें शिक्षा का विषय मुख्यरूप से विभिन्न वैदिक-प्रातिशाख्यों में स्व-स्व-शाखा के संप्रदायानुसार वर्णित है। पाणिनि आदि व्याकरणों की भी अपनी-अपनी शिक्षाएँ हैं। व्याकरण और निरुक्त—यह दो भिन्न-भिन्न अंग बताए गए हैं। छन्दःशास्त्र के विषय भी प्रातिशाख्यों में मिल जाते हैं। छन्दशास्त्र अलग भी स्वतंत्र शास्त्र है। वैदिक मन्त्रों के पढ़ने में छन्दों का शुद्ध प्रयोग अत्यावश्यक होता है। इसका भी परम्परया व्याकरण से थोड़ा सम्बन्ध है। पश्चात्य देशों में छन्दःशास्त्र व्याकरण के अन्तंगत ही वर्णित मिल जाता है।

पाठकों ने देखा होगा कि वैदिक-संहिता-ग्रन्थों में विशेषतः ऋग्वेद-संहिता में प्रत्येक सूक्त के आरंभ में विनियोग के अन्तंगत संबद्ध सूक्त के ऋषि, देवता के साथ-साथ छन्दों के नामों का उल्लेख होता है। कारण यह है कि वैदिक मन्त्रों की उच्चारण-शुद्धता अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसके लिए संहितापाठ के अतिरिक्त विकृति-पाठों का आविर्भाव किया गया

था। बहुत से मन्त्रों में व्युत्पत्तियाँ भी दी गई हैं।[1] निरुक्तविद्या भी वस्तुतः प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शब्दशास्त्र का एक अंग है।

महर्षि पाणिनि ही प्रथम वैयाकरण नहीं थे। पर आज सर्वप्राचीन संस्कृत व्याकरण का उपलब्ध पूर्ण ग्रन्थ, भगवान् महर्षि पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' ही है। इसे पाणिनीय का 'अष्टक' भी कहा जाता है। व्याकरण के इतिहास के अनुसार पाणिनि एक ऐसे मध्यबिंदु हैं जिनके पूर्व के वैयाकरणों की स्थिति और ग्रन्थ अस्पष्ट हैं।

बाद के वैयाकरण या तो पाणिनीय संप्रदाय के हैं अथवा उनसे प्रभावित पाणिनीयेतर संप्रदाय के हैं। इस संबन्ध में कुछ प्रकाश आगे डाला जायगा।

पाणिनि का व्याकरण अपने पंचागों के साथ अत्यन्तपूर्ण है। इन पंचागों में है—(१) सूत्रपाठ, (२) गणपाठ, (३) शिक्षा, (४) धातुपाठ और उणादि सूत्रपाठ। उनके अतिरिक्त फिट्सूत्र भी हैं। 'लिंगानुशासन' भी है। सब मिलाकर यह व्याकरण अद्भुत, कल्पनातीत है। भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर पूर्णतः खरा और विश्व में अतुलनीय है। 'गोल्डस्टूकर' ने 'पाणिनि' पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर इनकी प्रशंसा की है। प्राच्य और पाश्चात्य सभी भाषाशास्त्र के विद्वानों ने मुक्त कंठ से और एक स्वर में इनकी महनीयता का विशद यशोगान किया है। पतञ्जलि ने एक स्थान पर कहा है—'ब्राह्ममुहूर्त में संध्यावंदनादि से निवृत्त होकर, शरीर और मन की अत्यन्त पवित्रता के साथ पूर्वमुख बैठकर ध्यानावस्थित अवस्था में महर्षि पाणिनि व्याकरण सूत्रों की रचना में प्रवृत्त होते थे'। व्याकरण शब्द का एक अर्थ यह भी है कि—"व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम्" अर्थात् शब्दों का सर्वाङ्गीण विश्लेषण-विवेचन जिसके द्वारा किया जाय उसका नाम व्याकरण शास्त्र है।

---

१. कतिपय शब्दों के निर्वचनों के उदाहरण निम्नांकित संहिता-मंत्रों में भी देखे जा सकते हैं—

(क) ये सहांसि सहसा सहन्ते। ऋ० ६।६६।९ ॥

(ख) धान्यमसि धिनुहि देवान्। यजु० १।२० ॥

(ग) येन देवा पवित्रेणात्मनं पुमते सदा। साम—उ० ५।२।८।५ ॥

(घ) तीर्थैस्तरन्ति। अथर्व० १७।४।८ ॥

निरुक्तकार यास्क ने भी—"इति वैयाकरणाः" कहकर व्याकरणाचार्यों का उल्लेख किया है। स्वयं पाणिनि ने अपने पूर्व के दश वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

पाणिनीय व्याकरण का इतिहास आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार[1] चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) पूर्व पाणिनीय काल,
(२) उदय काल (ई० पू० ६००-ई० पू० ३००),
(३) व्याख्याकाल (पंचम शती—१४ वीं शती तक)
(४) प्रक्रिया काल (१५ वीं शती से वर्तमान काल तक)

प्रथमकालीन वैयाकरणों का मुख्यतः नाममात्र हम जानते हैं। उनमें कुछ के मतों का पाणिनीय व्याकरण से परवर्ती ग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लेख भी मिलता है। कभी-कभी उनके सूत्र या सूत्रांशों के उद्धरण भी परवर्ती पाणिनीय-व्याकरण ग्रन्थों में मिल जाते हैं। आगे कुछ चर्चा की जायेगी। उदयकाल या पाणिनीय काल में पाणिनीय अष्टाध्यायी और वररुचि के वार्तिकभाग का प्रणयन मुख्यतः हुआ होगा। परन्तु वार्तिकों का ज्ञान हमें 'पतंजलि' के महाभाष्य से ही प्राप्त होता है। वैयाकरण महाभाष्यकार पतंजलि का काल १५७ ई० पू० के पास अर्थात् ई० पू० द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

वस्तुतः ये मुनित्रय अर्थात् पाणिनि, कात्यायन (वररुचि) और पतञ्जलि को मुनित्रय के रूप में पाणिनीय-व्याकरण के इतिहास में अत्यन्त आदर के साथ उल्लिखित किया गया है। इन तीनों को मिलाकर ही वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण की प्रतिमा निर्मित होती है। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वार्तिककार और महाभाष्यकार दोनों ही पाणिनीय सूत्रों के व्याख्याकार अथवा उसमें अपनी नयी खोज को जोड़ने वाले आचार्य हैं। वार्तिकों के सहित अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखकर महापण्डित और सूक्ष्मदर्शी आचार्य पतञ्जलि ने इस व्याकरण की प्रौढता को पराकाष्ठा तक पहुँचाया।

तीसरा प्रवाह इस मुनित्रय के व्याख्याकारों का है। इस धारा में अष्टाध्यायी और महाभाष्य सहित ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गई हैं अथवा अष्टा-

---

१. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास—पृष्ठ ३८१-८५ तक।

ध्यायी के सूत्रानुसार लोकोपयोगी व्याख्या और उदाहरण देकर पाणिनि के व्याकरण को बोधगम्य बनाया गया है। पहले वर्ग में महाभाष्य के टीकाकार 'हरि', 'कैयट', 'नागेश' आदि आते हैं तथा दूसरे वर्ग के अन्तर्गत जया-दित्य, वामन, हरदत्त, आदि।

प्रक्रियाकाल में व्याकरण को अत्यन्त सरलीकृत रूप में 'बालानां सुखबोधाय' बनाने की दृष्टि से कार्य किया गया है। इसमें सर्वप्रथम 'रूपा-वतारकर्ता', 'प्रक्रियाकौमुदी' के लेखक तथा 'सिद्धान्तकौमुदी' के रचयिता आदि और उनके ग्रन्थों के टीका करने वाले माने जा सकते हैं। भट्टोजी दीक्षित ने जहाँ 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी' बनाकर 'प्रक्रियाकौमुदी' को और भी सरलीकृत रूप से उपस्थित किया वहीं, उन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रमानुसार व्याख्या करते हुए 'शब्दकौस्तुभ' नामक विशिष्ट व्याकरण-ग्रन्थ का निर्माण भी किया। इसी प्रकार **'नागेशभट्ट'** ने प्रक्रियाग्रन्थों की टीका 'लघुशब्देन्दुशेखर' आदि लिखकर जहाँ प्रक्रिया परम्परा को प्रौढ बनाया वहीं 'महाभाष्य' और 'कैयट' कृत 'प्रदीप' पर 'उद्योत' टीका लिखकर उसको वैदुष्य की सीमा तक पहुँचा दिया।

मैं व्याकरण शास्त्र का इतिहास यहाँ लिखने नहीं बैठा हूँ। यहाँ ये कतिपय शब्द केवल पाणिनीय व्याकरण की महत्ता इंगित करने के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। परन्तु पाणिनीय पूर्व व्याकरण के आचार्यों के विषय में दो-चार शब्द कहना और उनके नामों का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। भारतीय सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलिशाकटायनाः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

[कविकल्पद्रुम—वोपदेवकृत]

(१) इन्द्र, (२) चन्द्र, (३) काशकृत्स्न, (४) आपिशलि, (५) शाकटायन, (६) पाणिनि, (७) अमर और (८) जैनेन्द्र—ये आठ शाब्दिक (वैयाकरण) हुए हैं।[1] इन्होंने स्व-स्व पद्धति के अनुसार स्व-स्व व्याकरण ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु यह मान्यता पुरानी परम्परागत किंवदन्ती के अनुसार है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में जिन वैयाकरणों का उल्लेख किया है उनमें हैं (वर्णक्रमानुसार)—(१) आपिशलि (२) काश्यप (१-२-२५,

---

१. इनमें 'अमर' यदि कोशकार का ही बोधक हो तो अर्थ कुछ भिन्न होगा।

८–४–६७) (३) गार्ग्य (८–२–२०) [इनका उल्लेख निरुक्त में भी है] (४) गालव, (५) चक्रवर्मण, (६) भारद्वाज, (७) शाकटायन (३–४–१११, ८–३१८, ८–४–५०) (८) शाकल्य, (९) सेनक और (१०) स्फोटायन।

इन सबके सम्बन्ध में आगे अलग-अलग संक्षिप्त रूप में लिखा जायगा। पहले कुछ ऐसे वैयाकरणों के सन्दर्भ में संक्षेप में सूचना दी जा रही है जिनके नाम पाणिनि की अष्टाध्यायी में तो नहीं मिलते पर अन्य स्रोतों से उनकी पाणिनि-पूर्ववर्तिता सिद्ध है। इनके आधार हैं—**वैदिक संहिता, वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थ** तथा **महाभाष्यादि**।

१. इन्द्र—व्याकरण शास्त्र के प्रवाचक के रूप में सर्व प्रथम बिन्दु पर लिया जा सकता है। इनका ज्ञान हमें तैत्तिरीय संहिता (६–४–७) से प्राप्त होता है। वहाँ बताया गया है कि देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने व्याकरणशास्त्र का प्रणयन किया। इनके मतानुसार उनसे पहले संस्कृत भाषा अव्याकृत थी अर्थात् व्याकरणपरक विश्लेषण से विरहित थी। संभवतः संहितापाठ मात्र था।

महाभाष्य में बताया गया है कि—"बृहस्पतिः इन्द्राय शब्दपरायणं प्रोवाच"

अर्थात् आचार्य बृहस्पति ने इन्द्र के लिए शब्दों का परायण किया।[1] अन्यत्र भी ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख मिलता।

तैत्तिरीय संहिता के आधार पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि **इन्द्र** के द्वारा अव्याकृत व्याकरण का व्याकृत—अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय का कल्पनात्मक विश्लेषण—किया गया। इस व्याकरण का ग्रन्थ उपलब्ध न होनेपर भी इस व्याकरण का उल्लेख **वोपदेवकृत 'कविकल्पद्रुम'** एवं **'कथा-सरित्सागर'** आदि में मिलता है। यह भी पता चलता है कि यह व्याकरण बहुत पहले लुप्त हो चुका था।

२. चन्द्र—इस वैयाकरण का भी कोई पाणिनि-पूर्ववती व्याकरणग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। एक अन्य प्राचीन **चान्द्र** व्याकरण उपलब्ध हैं। वह भी अत्यन्त पुराना है। इसके संबन्ध में आगे संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा। **काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि**, आदि के विषय में अलग से बताया जायगा। यहाँ इतना ही कहना है कि **'आपिशलि'** और **काशकृत्स्न**

१. बृहस्पति (देवगुरु) भी शब्दविद्या के आचार्य थे।

के स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी उनके रचित व्याकरणों का अस्तित्व अन्य स्रोतों से असंदिग्ध रूप में प्रमाणित है।

३. **काशकृत्स्न**—इनके ग्रन्थों तथा इनके सूत्रों का उल्लेख भी मिलता है एवं सूत्र-सूत्रांश भी मिलते हैं। इनका स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रन्थ, उपलब्ध नहीं है। परन्तु पूर्वोक्त पद्य में **इन्द्र**, **चन्द्र** और **काशकृत्स्न** के नाम—अष्ट शाब्दिकों की सूची में हैं। '**काशिकाकार**' ने सूत्र ५।१।१८ में उदाहरण के संदर्भ में लिखा है—"**त्रिकं काशकृत्स्नम्**"। पुनः सूत्र ५।१।५५ में "काशकृत्स्न गुरुलाघवम्" कहा है। द्वितीय उक्ति से यह भी अनुमान होता है कि सूत्र-रचना में **गौरव** और **लाघव** का विचार इन्होंने ही प्रवर्त्तित किया।

इनके अनेक सूत्र या सूत्रांश (लगभग १३५) उपलब्ध हैं। इनका धातु पाठ भी **चन्नवीर** द्वारा **कन्नड़** में अनूदित मिलता है जिसका अनुवाद युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत में सम्पादित करते हुए—'काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्' के रूप में "भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर" से २०२२ वि० संवत् में मुद्रित कराया। पाणिनि-धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने भी इनके विशिष्ट मत का उल्लेख—एक स्थान पर किया है।

इन्हें कुछ लोग **पाणिनि-पूर्ववर्त्ती** मानते हैं और कुछ लोग पाणिनि—पतञ्जलि के मध्यवर्त्ती। कारण यह कि इतने बड़े वैयाकरण का पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेख न होना है। पर **महाभाष्य** के **पस्पशाह्निक** (प्रथमाह्निक) में (१) **पाणिनि** (२) **आपिशलि** और (३) **काशकृत्स्न** का नाम आने से ये निश्चय ही **पतञ्जलि** पूर्ववर्त्ती थे। हो सकता है **पाणिनि** पूर्ववर्त्ती भी हों।

४. **पौष्करसादि**—पाणिनि के सूत्र—(वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी के अनुसार) ङ्णोः कुक्टुक् शरि (८।३।८२) में एक वार्त्तिक है—**चयोः द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्**।

इससे ज्ञात होता है कि **पतञ्जलि** और **वररुचि** इन दोनों से **पौष्करसादि** पूर्ववर्ती थे।

तैत्तिरीय-प्रतिशाख्य—३।१६, ५।३७, ५।३८, १४।२, १७।६ और **मैत्रा० प्राति०** ५।३८, ५।४० आदि में '**पौष्करसादि**' आचार्य के मतों का उल्लेख है। वे **कृष्णयजुर्वेदीय शाखा**—विशेष के प्रवक्ता भी हैं। अतः अष्टाध्यायी में उल्लिखित न होने पर भी पाणिनि के पूर्ववर्ती अवश्य हैं।

(५) **भागुरि—'भागुरि'** के मतविशेषों का उल्लेख अनेक व्याकरण-ग्रन्थों में मिलता है। **'न्यास'** ६–२–३७, **'भाषावृत्ति'** ४–१–१० आदि में उनका नाम लिया गया है। इनका ग्रन्थ पद्यबद्ध होने से कहा नहीं जा सकता कि वे पाणिनि पूर्ववर्ती थे या परवर्ती। इनके एक कोशग्रन्थ **'त्रिकाण्ड'** का भी **भाषावृत्ति** और उसकी टीका **अर्थवृत्ति** ४–४–१४३ में नाम मिलता है।

(६) **माध्यन्दिनि—माध्यन्दिनि** की शिक्षा तो मुद्रित हो चुकी है। परन्तु इनका व्याकरण-ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इनका एक पद्यबद्ध वार्तिक **काशिका** में एक सूत्र की व्याख्या ७–१–०४ में उल्लिखित है।

(७) **वैयाघ्रपद—काशिका** से इनके दश अध्याय वाले व्याकरण ग्रन्थ का ज्ञान होता है। परन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

सर्वेषाम्— पाणिनि ने स्पष्ट रूप से अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख नहीं किया है। जिस रूप की व्युत्पत्ति में विवाद संभव होता रहा होगा किन्तु निश्चित कोई प्रयोगरूप सभी को मान्य रहता है, उसके लिए पाणिनि ने **सर्वेषाम्** पद का प्रयोग किया है। ७–३–१००, ८–३–२२। इसका स्पष्ट अर्थ है कि 'सर्वेषाम्'—पदघटित सूत्रों का प्रतिपाद्य अनुशासन सब पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त था। **एकेषाम्**–जहाँ सब आचार्यों का मत नहीं मिलता वहाँ पाणिनि ने वैकल्पिक रूपों के सम्बन्ध में **'एकेषाम्'** (८–३–१०३) पद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार प्राच्यदेशीय वैयाकरणों के मतों का उल्लेख **'प्राचाम्'** पद से किया है। कोई-कोई वैयाकरण इसका अर्थ 'अतिप्राचीन' वैयाकरण मानते हैं। परन्तु लगता यही है कि भारत के पूर्ववर्ती देशों की पूर्वी भाषा या भाषाओं में प्रचलित रूपों का संकेत है। यह भी लगता है कि ये रूप टकसाली संस्कृत अर्थात् परिनिष्ठित संस्कृत के अन्तर्गत नहीं मान्य थे। परिनिष्ठित संस्कृत के अन्तर्गत **महाभाष्य** के अनुसार शिष्ट आर्यों की सुरभारती मानी जाती थी—(सूत्र ६–३–१०९) का महाभाष्य देखें जहाँ **आर्यावर्त्त** की सीमा और **आर्यावर्त्तवासी** शिष्टों का उल्लेख और शिष्टों की भाषा को शिष्ट, परिनिष्ठित संस्कृत भाषा माना गया है। पाणिनि ने **'उदीचाम्'** पद का प्रयोग—**पा० सू०—उदीचां माङो व्यतिहारे** (३।४।१९) का प्रयोग भी किया है। इस पद के द्वारा शिष्ट अथवा परिनिष्ठित संस्कृत व्याकरण के रूपों का सम्भवतः संकेत किया गया है। **'प्राचाम्'** से अभिप्रेत पूर्व देश और **'उदीचाम्'** से संकेतित उत्तर दिशा

का सूचक एक श्लोक काशिका सूत्र १–१–७५ में मिलता है—

"प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्धयर्थं सा नः पातु शरावती॥"

शरावती नदी ही प्राच्य और उदीच्य देशों के मध्य विभाजन-रेखा मानी गई है।

शाङ्खायनब्राह्मण (८।६) की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी कुछ इसी तथ्य का पोषण करती हैं—

उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्।
यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते॥

यहाँ मैं यह कहना चाहता हूँ कि **'पाणिनि'** के पूर्व से ही **मध्यदेश** या **आर्यावर्त** अथवा **उदीच्यदेश** टकसाली संस्कृत बोलने वालों की मान्य धरती रही है। शुद्ध उच्चारण के लिए अथवा अनेक भाषाओं का बोध रखने के लिए यह भूमि वैदिक ब्राह्मण काल से ही उर्वरा रही है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश काल में भी मध्यदेश की पालि अर्थात् **त्रिपिटक की भाषा** का प्रचलन इसी देश में था; यद्यपि उसमें प्राच्य उच्चारणों का पुट भी था। प्राकृत—**अपभ्रंशकाल** में **शौरसेनी** प्राकृत और **शौरसेनी अपभ्रंश** इसी क्षेत्र के आस पास मड़राने वाली भाषाएँ रही हैं। इसीलिए **राजशेखर** ने एक श्लोक में कहा है जिसका अन्तिम चरण है—

"यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः"। अर्थात् मध्यदेश के कवि, भाषा सीखने में इतने निपुण होते हैं कि किसी भी **प्राकृत**, **अपभ्रंश** अथवा **देशी** भाषा को अच्छी तरह सीखकर शुद्ध-शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं।

स्वयं आचार्य **पाणिनि**, **तक्षशिला** के **शालातुर** ग्राम के निवासी उदीच्य थे और इसी उदीच्य भाषा का वैदिक व्याकरण के साथ-साथ उन्होंने परि-निष्ठित-भाषा-व्याकरण लिखा। यह उत्तर-पश्चिम सीमा स्थित तक्षशिला उस समय उदीच्य देश में ही सम्भवतः गिनी जाती रही होगी।

इन कतिपय वैयाकरणों के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि के पूर्व अनेक **प्रातिशाख्यकार**, संहिता के पदपाठ—विभाजक, निरुक्तकार तथा वैयाकरण हो चुके थे। परन्तु आचार्य **पाणिनि** ने जिस अतुलनीय वैदुष्य-प्रतिभा के साथ और भगवान् महेश्वर का वरदान एवं आशीर्वाद

प्राप्त कर अपने **अष्टक** अथवा **अष्टाध्यायी** नामक सूत्र-ग्रन्थ का निर्माण किया—वह अद्वितीय है।

ऊपर कहा जा चुका है कि यह सूत्रपाठात्मक व्याकरण अपने अन्य अंगभूत परिशिष्टों—गणपाठ, धातुपाठ, शिक्षा और उणादि सूत्रपाठ के सहित अत्यन्त प्रभावी व्याकरण है। उणादि-सूत्र भी एक प्रकार का परिशिष्टात्मक सूत्रमय गणपाठ है। इसी भाँति **'शान्तनु'** आचार्य प्रणीत "शान्तनव-फिट्" सूत्रों की पाणिनि व्याकरण में बड़ी मान्यता रही है। प्रसिद्ध पाश्चात्य वैयाकरण और मूल **महाभाष्य** के सम्पादक पंडित कीलहार्न ने इन **फिट्सूत्रों** की भूमिका और व्याख्या से युक्त संग्रह का प्रकाशन किया है। **पतञ्जलि** के कतिपय संकेतों के कारण इन फिट्सूत्रों का रचना-काल पाणिनि से पूर्व का माना जाता है।

अन्य व्याकरण संप्रदायों की चर्चा के पूर्व **पाणिनि** द्वारा **अष्टाध्यायी** में उद्धृत वैयाकरणों के सम्बन्ध में जिन दश पाणिनि-पूर्ववर्त्ती आचार्यों के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं यहाँ संक्षेप में यह वर्णक्रमानुसार चर्चा की जा रही है।

अष्टाध्यायी में उद्धृत पूर्ववर्ती वैयाकरण—

(१) **आपिशलि** का उल्लेख अष्टाध्यायी के एक सूत्र (६।१।९२) में उपलब्ध है। महाभाष्यकार ने भी सूत्र (४।२।४५) के भाष्य में 'अपिशलि' के मत को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। **शाकटायन**-व्याकरण की अमोघा-वृत्ति (३।२।६१) में एक स्थल पर कहा है—**'अष्टका आपिशलपाणिनीयाः।'** इससे अनुमान होता है कि **आपिशलि** का **अष्टक** व्याकरण भी आठ अध्यायों में निर्मित था। **कात्यायन** और **पतञ्जलि** द्वारा **आपिशल** व्याकरण की अध्येत्री ब्राह्मणी को **आपिशला** कहने से यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि उनके युग में **आपिशल** व्याकरण का अध्ययन अवश्य प्रचलित था। इस व्याकरण के उपलब्ध सूत्रों से ज्ञात होता है कि इस आचार्य द्वारा रचित व्याकरण भी **सूत्रात्मक** था। सम्भवतः यह व्याकरण भी वैदिक-लौकिकोभय संस्कृत भाषा का अनुशासनात्मक था। कुछ लोगों का अनुमान है कि **पाणिनि** की **अष्टाध्यायी** पर इसका पर्याप्त प्रभाव था। इस अनुमान के अनुसार सूत्रों, संज्ञाओं, प्रत्ययों और धातुपाठ आदि भी पाणिनीय व्याकरण से साम्य रखते हैं। इनकी शिक्षा भी प्रकाशित है। पाणिनिशिक्षा

से इसका भी साम्य है। निश्चय ही ये पाणिनि-पूर्ववर्ती वैयाकरण आचार्यों और अपने युग में अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण रहे होंगे।

कुछ प्रसंगों पर इनके व्याकरण-सिद्धान्त-अनुशासन विशिष्टता से पूर्ण थे। स्थानाभाव के कारण नीचे उन अंशों को संक्षेप में गिना दिया जा रहा है—(१) लृकार दीर्घ भी, (२) वर्गों की परिभाषा और 'ब' एवं 'व' के मध्य अन्तर, (३) विकार आदि की परिभाषा, (४) पदसंज्ञा की परिभाषा [विभक्त्यन्तं पदम्], (५) कारक, (६) तद्धित के कतिपय सन्दर्भ, (७) तिङन्त पद-साधन-प्रक्रिया।

(२) **काश्यप**—अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में (अष्टा० १।२।२५ तथा ८।४।६७) में इनका उल्लेख है तथा यजुर्वेद प्रातिशाख्य (४।५) में इनके मतों का उल्लेख है। पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

(३) **गार्ग्य**—इनका उल्लेख अष्टाध्यायी के दो सूत्रों [(७।३।९९) तथा (८।३।२०)] में मिलता है। एक सूत्र (८।४।६७) (नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्) में **'काश्यप'** और **'गालव'** आचार्यों के नामों के साथ इनका मत उद्धृत किया गया है।

शब्दों की निरुक्ति के सम्बन्ध में (१) **शाकटायन** के साथ (२) **'गार्ग्य'** का नाम विशिष्ट रूप में लिया जाता है। (१) शाकटायन के मतानुसार सभी **'नाम'** अर्थात् **संज्ञाशब्द** या **प्रतिपदिक धातुज** (आख्यातज) अर्थात् व्युत्पन्न होते हैं और (२) गार्ग्य के मत से सभी नाम **धातुज** नहीं होते, अनेक अव्युत्पन्न **प्रातिपदिक** भी होते हैं। इनका कोई पदपाठ भी था—इसके अनेक प्रमाण हैं। ये **'सामतन्त्र'** के प्रवक्ता भी थे।

(४) **गालव—पाणिनि** ने इनका उल्लेख चार स्थलों पर किया है। **'निरुक्त'**, **'बृहद्देवता'** आदि में भी इनके प्रसंग का उल्लेख है।

(५) **चक्रवर्मण**—इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।३०) और उणादि सूत्रों में तथा **भट्टोजी दीक्षित** के **'शब्दकौस्तुभ'** में मिलता है।

(६) **भरद्वाज—'अष्टाध्यायी'** के केवल एक सूत्र (७।२।६३) में इनका उल्लेख है। परन्तु (२) **तैत्तरीय प्रातिशाख्य** और (२)**मैत्रायणी प्रातिशाख्य** में भी इनका उल्लेख है इनके ग्रन्थ अज्ञात हैं।

(७) **शाकटायन**—ये **वैयाकरण** भी थे और संभवत **नैरुक्त** भी थे। **अष्टाध्यायी** में तीन सूत्रों (३।४।१११, (८।३।१८, ८।४।५०) में इनका

नाम लिया गया है। **यास्क** के निरुक्त और प्रतिशाख्यों में भी इनका नाम लिया गया है। ये प्राचीन युग के महत्त्वशाली पूर्व-पाणिनि वैयाकरण थे। **काशिकाकार** ने बड़े आदर के साथ **(अनुशाकटायनं व्याकरणम्)** इन्हें स्मरण किया हैं। पर इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि व्युत्पत्ति-प्रदान में ये निपुण थे। सब **नामों को आख्यातज** मानते थे और एक-एक नाम की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से दिखाते थे।

(८) शाकल्य—अष्टाध्यायी में चार बार तथा **'शौनक'** और **'कात्यायन'** के **प्रतिशाख्यों** में इनकी चर्चा है। इनका व्याकरण भी वैदिक और लौकिकोभय-संस्कृत भाषा का व्याकरण था। **ऋग्वेद** संहिता का **पदपाठ** इन्होंने किया था—ऐसा मानते हैं। **कवीन्द्राचार्य** की ग्रन्थसूची में **शाकल्य व्याकरण** का नाम है।

(९) सेनक—अष्टाध्यायो में केवल एक जगह (५।४।११) **'सेनक'** का नाम लिखा गया है। और कुछ भी इनके विषय में ज्ञात नहीं है।

(१०) स्फोटायन—इनका नाम अष्टाध्यायी में 'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३) सूत्र द्वारा एकत्र ही निर्दिष्ट है। **पदमञ्जरीकार हरदत्त** ने इन्हें उसी सूत्र के व्याख्यानक्रम में वैयाकरणों के प्रसिद्ध **स्फोटवाद** का प्रवर्त्तक कहा है। यह भी माना है कि इसी कारण इन्हें **'स्फोटायन'** कहा गया है। पर यह मत कहाँ तक ठीक है—नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि **हरदत्त** को कोई प्रमाण मिला हो। [और यह भी संभव है कि उनके नाम में **'स्फोट'** शब्द देखकर उन्होंने केवल अनुमान किया है।]

पाणिनि—प्रोक्त स्वपूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के बारे में इतना दिङ्-निर्देश यहाँ पर्याप्त है।

इसके पश्चात् पणिनीतर सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य व्याकरण-धाराओं के कुछ वैयाकरणों का प्रायः नामोल्लेखात्मक परिचय आगे दिया जा रहा है।

पाणिनीतर अन्यसंप्रदाय—

(१) कातंत्र व्याकरण—यह एक अत्यन्त प्राचीन व्याकरण है। इसका नाम **कौमार्य** भी है और **कालापतन्त्र** व्याकरण भी इसी को कहते हैं। यह व्याकरण अत्यन्त प्राचीन है पर संभवतः पाणिनि का परवर्ती है।

(२) **चान्द्र व्याकरण**—इसका प्रचार कश्मीर, नैपाल और तिब्वत से लेकर लंका तक के बौद्ध देशों में रहा है। यह भी एक अत्यन्त प्राचीन व्याकरण है और इसके साथ गणपाठ, धातुपाठ और उणादिपाठ भी हैं। इस व्याकरण के ग्रन्थकार का नाम चन्द्रगोमी है। जैनियों ने पाणिनीय व्याकरण के अनुकरण पर मुनित्रयम् द्वारा परिष्कृत दृष्टि की मान्यता के अनुसार तीन-तीन प्रसिद्ध व्याकरणों का निर्माण किया।

जैन व्याकरणों में **जैनेन्द्र व्याकरण**—यही सबसे प्राचीन है। और इसके कर्ता आचार्य देवनन्दी थे। उनके बुद्धि-वैभव के कारण जिनेन्द्रबुद्धि आदि का नाम भी इससे जुड़ गया। जैनियों का यह अत्यन्त प्रमुख व्याकरण है। देवनन्दी का काल यद्यपि अनिर्णित है तथापि वे पाणिनि परवर्त्ती थे। साथ ही वे कर्नाटक निवासी भी माने जाते हैं। इस व्याकरण पर अनेक टीकाऐं है।

(३) **शाकटायन व्याकरण**—यह प्राचीन **शाकटायन** का व्याकरण नहीं है अपितु **जैन शाकटायन** का व्याकरण है।

(४) **भोजराज का एकव्याकरण कहा जाता है** जिसका नाम **सरस्वती-कण्ठाभरण है।** इसको उन्होंने स्वयं शब्दानुशासन कहा है। इसमें उन्होंने धातुपाठ को छोड़कर वार्तिकों को, इष्टियों को, गणपाठ को तथा उणादि-प्रत्ययों को एकत्र कर सूत्रों में निबद्ध करने का अत्यन्त महनीय प्रयास किया है। सूत्रों की संख्या भी इसमें अष्टाध्यायी से डेढ़गुना ज्यादा है। इस पर उन्होंने सोपज्ञवृत्ति भी लिखी थी जो अनुपलब्ध है। परन्तु इसपर **नारायण भट्ट की लघुवृत्ति**—'हृदयहारिणी' टीका प्राप्त है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरण कृति है। यह ग्रन्थ समाननामा होने पर भी साहित्य के ग्रन्थ **'सरस्वतीकंठाभरण'** से भिन्न है।

(५) **हेमचन्द्र**—हेमचन्द्र के 'सिद्धहैमव्याकरण' अथवा **हेमचन्द्र** कृत 'शब्दानुशासन' का उल्लेख करना भी अत्यावश्यक है। इस ग्रन्थ की रचना भी सूत्रों में की गई है। इसमें आठ अध्याय हैं और पाणिनीय 'अष्टा-ध्यायी' के समान प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। कुल सूत्रों की संख्या ४६८५ है और १००६ उणादि सूत्र इसके अतिरिक्त हैं। आगे चलकर इसी का एक अंश प्राकृत व्याकरण का है और उसका अन्तिम अंश अपभ्रंश व्याकरण का है। अन्तिम अध्याय मुख्यतः प्राकृत का है जिसके अंतिम अंश अपभ्रंश व्याकरण से संबद्ध है। इस दृष्टि से यह हेमचन्द्रकृत 'शब्दानुशासन' अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है।

पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अष्टम अध्याय के अपभ्रंश-अंश को लेकर उसमें उद्धृत उदाहरण-पद्यों की व्याख्या की है और उस ग्रन्थ को 'पुरानी हिन्दी' की संज्ञा दी है। हेमचन्द्र ने इस व्याकरण पर स्वयं व्याख्या लिखी है। अनेक अन्य टीकाएँ भी इस पर हैं। इसके साथ हेमचन्द्र ने 'हैमधातु-परायण' के रूप में धातुपाठ, अपने सोपज्ञ-वृत्तियों में गणपाठ और उणादिपाठ भी दिया है। इसका 'लिंगानुशासन' भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। इतनी चर्चा से यह प्रकरण समाप्त किया जा रहा है—यद्यपि **सारस्वत** व्याकरण और इसका परिबृंहित संस्करण—**सिद्धान्तचन्द्रिका**, **मुग्धबोध** आदि अनेकानेक व्याकरण ग्रन्थ और उनके रचयिता भी परम प्रसिद्ध हैं।

पाणिनि के संज्ञासूत्र और परिभाषासूत्र—

मैं यहाँ पाणिनि-कृत **संज्ञा-सूत्र और परिभाषा-सूत्रों** के संबंध में विशेष रूप से दो शब्द कह देना चाहता हूँ।[1] अष्टाध्यायी में कुछ **संज्ञासूत्र** हैं जिनका उन्होंने निर्माण किया है और कुछ परिभाषा-सूचक भी संज्ञासूत्र हैं। सामान्यतः **अष्टाध्यायी** के सूत्रों का एक क्रम से ग्रन्थन किया गया है। प्रत्येक अध्याय में भी क्रमव्यवस्थिति है। **प्रथम अध्याय** में संज्ञा औरं परिभाषा सूत्र एवं सूत्र-प्रयोग क्षेत्रसूचक हैं।[2]

---

१. पाणिनि-व्याकरण में सूत्रों के छह प्रकारों की प्रसिद्धि है—

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्र-लक्षणम्।" इनमें ही या इनके अतिरिक्त निषेध-सूत्र होते हैं। इनका परिचय 'पूर्व-पीठिका' में दिया जा रहा है। अर्थात् कुल छह, सात या आठ प्रकार के सूत्र—(१) संज्ञासूत्र, (२) परिभाषासूत्र, (३) विधिसूत्र, (४) नियमसूत्र, (५) अतिदेश सूत्र और (६) अधिकारसूत्र इनके अतिरिक्त ७वाँ निषेधसूत्र और ८वाँ उपविधिसूत्र भी है।

२. अष्टाध्यायी में सूत्रों के क्रम की एक निश्चित और स्वव्याकरणानुसार योजित हैं। उसके अनुसार मुख्यतः—

प्रथम अध्यायमें—संज्ञा-परिभाषा-सूत्र, द्वितीय अध्याय में—विभक्त्यर्थ और समास, तृतीय अध्याय में—धातु–विहित प्रत्यय, चतुर्थ और पंचम अध्यायों में—तद्धित-प्रत्यय, छठे अध्याय में—प्रकृतिसम्बन्धिकार्य-सहायक कार्य के रूप तिङ्, विषयक चर्चा, सन्धि-विषयक निरूपण तथा स्वरादि का तथा अन्य निरूपण, सप्तम अध्याय में—अङ्गाधिकारस्थ विषय तथा अष्टमाध्याय में द्वित्वादि-विधान, तदनंतर असिद्ध (पूर्वत्रासिद्धम्) के अनुसारी प्रसंगो आदि का समायोजन है। यह भी अत्यन्त वैज्ञानिक क्रम है।

यहाँ संज्ञासूत्र और परिभाषा-सूत्र दोनों एक ही वर्ग में रखे गऐ हैं। इसमें बहुत सी संज्ञाएँ या परिभाषाएँ उन्होंने अपनी स्वरचित रखीं है और कुछ पूर्वाचार्यों से ली हैं। पूर्वाचार्यों से ली हुई कुछ संज्ञाएँ अपनी अष्टाध्यायी में परिभाषित की हैं और कुछ संज्ञाएँ उन्होंने अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण वैसे ही ग्रहण कर ली हैं। इसका प्रयोग पूर्वाचार्यों की परम्परा में व्याकरण शास्त्र करता रहा है। **वृद्धिरादैच्** (अष्टा०-१।१।१) सूत्र के द्वारा दीर्घ 'आ' 'ऐ' और 'औ'-इन तीन स्वरों या वर्णों का बोध निर्धारित किया गया है।

'वृद्धि' शब्द का अर्थ लोक में बढ़ना होता हैं परन्तु पाणिनीय व्याकरण में इसका अर्थ 'आ ऐ औ'—तीन स्वर होते हैं। 'वर्धन'-वाचक अन्वर्थ वृद्धि पद के अर्थक्षेत्र को नियमित करते हुए पाणिनि ने केवल उक्त तीन स्वरों तक ही उसकी सीमा बाँध दी है। इस संदर्भ में **तैत्तरीय प्रतिशाख्य** के 'वैदिकाभरण' 'भाष्य' की उक्ति देखी जा सकती है—

अन्वर्थत्वं महासंज्ञा व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च।
पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः ॥

(वैदिकाभरणभाष्य १।२)

इसका आशय यह है कि पारिभाषिक संज्ञाएं 'लघु' होती हैं। पाणिनि ने भी ऐसी संज्ञाएं बनाई हैं जो केवल इसी व्याकरण में सहायक हैं।

यथा—टि, घु, इत् इत्यादि। परन्तु बड़ी संज्ञाएँ अन्वर्थानुसारी हैं, अर्थान्तर की व्यञ्जना करती हैं और इसी कारण पूर्वाचार्यों ने तथा सूत्रकार ने उन्हें अपने शास्त्रों में स्वीकार किया है। 'वृद्धि' संज्ञा भी अन्वर्थक और पूर्वोक्त स्वरत्रय-बोधक भी है। ह्रस्व वर्णों में वृद्धि संज्ञा होने से वे एक-मात्रिक से द्विमात्रिक हो जाते हैं। महाभाष्यकार ने अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र के प्रथम 'वृद्धि'-शब्द को मङ्गलार्थक मंगलाचरण माना है। यह 'वृद्धि' संज्ञा भी पाणिनि ने यद्यपि 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्र द्वारा परिभाषित की है तथापि यह पूर्वाचार्यों से ली गई है। इसी लिए महाभाष्यकार पतञ्जलिने (१।१।१) में लिखा—"इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः? आचार्यैः"। वाजसनेयी – प्रातिशाख्य में "तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहते"। अदेङ् गुणः (१।१।१) भी 'अ ए ओ' की गुण संज्ञा का द्वारा बोध कराता है। यह शब्द भी संभवतः पूर्वाचार्यों से गृहीत तथा अंशतः अन्वर्थक है। इसीप्रकार की संज्ञा—"संयोग" है, जिसकी परिभाषा अष्टाध्यायी में है-"हलोऽनन्तराः संयोगः" (अष्टा० १।१।७)। 'हल्' शब्द यहाँ प्रत्याहार-सूचक है।

[प्रत्याहार के विषय में आगे कहा जायेगा] 'हल्' का अर्थ है ह् य् व् र् ल् ञ् म् ङ् ण् न् झ् भ् घ् ढ् ध् ज् ब् ग् ड् द् ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् श् ष् स् और ह् अर्थात् समस्त व्यञ्जन। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि यदि स्वर से हीन व्यञ्जन एक से अधिक हों और उनके मध्य में स्वर (अच्) न हों तो उनकी **'संयोग'** संज्ञा होती है। शौनक' ने 'ऋक् प्रातिशाख्य' में कहा है "संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः" (ऋ० प्रा० १।३।८।

इस वर्ग के पूर्वाचार्य-गृहीत अन्य संज्ञाएँ भी हैं। इनमें अनेकाक्षर संज्ञाओं का नामोल्लेखमात्र किया जा रहा है। कुछ बड़ी संज्ञाएँ हैं तथा साथ ही साथ कुछ दृष्टि से अन्वर्थक भी हैं। उनके कुछ उदाहरण ये हैं— अनुनासिक (देखिए—ऋ० प्रा० १।४ तथा १।६३), सवर्णसंज्ञा (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् अष्टा० १।१।१०) देखिए—(ऋ० प्रा० १।५५), प्रगृह्यसंज्ञा (अष्टा० १।१।११) (देखिए—ऋ० पा० १।६८)।

कभी-कभी ऐसा भी दिखाई पड़ता है कि पाणिनि ने अत्यन्त मान्य संज्ञा-शब्दों को बिना परिभाषित किए भी ले लिया है और प्राचीन अर्थ में उनका व्यवहार किया है। 'संख्या' संज्ञा भी इसी वर्ग की है। सर्वनाम संज्ञा यह अन्वर्थक भी हैं, सर्वादिगण में पठित शब्दों की बोधिका भी है, अंशतः परिभाषित भी। पाणिनि ने 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (अष्टा० १।१।२७) के द्वारा 'सर्वादि'—गण में पठित शब्दों को **'सर्वनाम'** माना है जिसके अन्तर्गत 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द भी पठित होने के कारण 'सर्वनाम' होते हैं। पतंजलि ने कहा है (१।१।२७) कि सर्वादि वाचक होने पर ही 'सर्वादि' ('सर्वादिगण' में पठित) शब्दों की 'सर्वनाम संज्ञा होती है। यदि किसी व्यक्ति विशेष का नाम 'सर्व' हो तो वह 'सर्वनाम' संज्ञक नहीं होगा।

अव्यय'—**'अव्यय'** संज्ञा पाणिनि के अनुसार निपात की होती है। [अष्टा० स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३७)] 'निपात' वर्ग के शब्द भी पूर्व वैयाकरणों से गृहीत हैं और **'अव्यय'** शब्द भी है। जिन शब्दों के रूप तीनों लिंगों, सभी विभक्तियों और तीनों वचनों में विकृत नहीं होते अर्थात् लिंग-वचन-विभक्ति-परक कारणों से जिन शब्दों या रूपों में विकार नहीं होता—वे सर्वदा एकरूप रहते हैं, वे अव्यय कहे जाते हैं। उपसर्ग और गतिसंज्ञक तथा अनेक कृदन्तादि पद भी अव्यय हैं। यह संज्ञा भी अन्वर्थक है और पूर्वाचार्यों से गृहीत है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि विशेषणरूप

यहाँ संज्ञासूत्र और परिभाषा-सूत्र दोनों एक ही वर्ग में रखे गए हैं। इसमें बहुत सी संज्ञाएँ या परिभाषाएँ उन्होंने अपनी स्वरचित रखीं है और कुछ पूर्वाचार्यों से ली हैं। पूर्वाचार्यों से ली हुई कुछ संज्ञाएँ अपनी अष्टाध्यायी में परिभाषित की हैं और कुछ संज्ञाएँ उन्होंने अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण वैसे ही ग्रहण कर ली हैं। इसका प्रयोग पूर्वाचार्यों की परम्परा में व्याकरण शास्त्र करता रहा है। **वृद्धिरादैच्** (अष्टा०–१।१।१) सूत्र के द्वारा दीर्घ 'आ' 'ऐ' और 'औ'–इन तीन स्वरों या वर्णों का बोध निर्धारित किया गया है।

'वृद्धि' शब्द का अर्थ लोक में बढ़ना होता हैं परन्तु पाणिनीय व्याकरण में इसका अर्थ 'आ ऐ औ'—तीन स्वर होते हैं। 'वर्धन'-वाचक अन्वर्थ वृद्धि पद के अर्थक्षेत्र को नियमित करते हुए पाणिनि ने केवल उक्त तीन स्वरों तक ही उसकी सीमा बाँध दी है। इस संदर्भ में **तैत्तरीय प्रतिशाख्य** के 'वैदिकाभरण' 'भाष्य' की उक्ति देखी जा सकती है—

अन्वर्थत्वं महासंज्ञा व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च।
पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः॥

(वैदिकाभरणभाष्य १।२)

इसका आशय यह है कि पारिभाषिक संज्ञाएं 'लघु' होती हैं। पाणिनि ने भी ऐसी संज्ञाएं बनाई हैं जो केवल इसी व्याकरण में सहायक हैं।

यथा—टि, घु, इत् इत्यादि। परन्तु बड़ी संज्ञाएँ अन्वर्थानुसारी हैं, अर्थान्तर की व्यञ्जना करती हैं और इसी कारण पूर्वाचार्यों ने तथा सूत्रकार ने उन्हें अपने शास्त्रों में स्वीकार किया है। 'वृद्धि' संज्ञा भी अन्वर्थक और पूर्वोक्त स्वरत्रय-बोधक भी है। ह्रस्व वर्णों में वृद्धि संज्ञा होने से वे एक-मात्रिक से द्विमात्रिक हो जाते हैं। महाभाष्यकार ने अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र के प्रथम 'वृद्धि'-शब्द को मङ्गलार्थक मंगलाचरण माना है। यह 'वृद्धि' संज्ञा भी पाणिनि ने यद्यपि 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्र द्वारा परिभाषित की है तथापि यह पूर्वाचार्यों से ली गई है। इसी लिए महाभाष्यकार पतञ्जलिने (१।१।१) में लिखा—"इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः? आचार्यैः"। वाजसनेयी–प्रातिशाख्य में "तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहते"। अदेङ् गुणः (१।१।१) भी 'अ ए ओ' की गुण संज्ञा का द्वारा बोध कराता है। यह शब्द भी संभवतः पूर्वाचार्यों से गृहीत तथा अंशतः अन्वर्थक है। इसीप्रकार की संज्ञा—"संयोग" है, जिसकी परिभाषा अष्टाध्यायी में है–"हलोऽनन्तराः संयोगः" (अष्टा० १।१।७)। 'हल्' शब्द यहाँ प्रत्याहार-सूचक है।

[प्रत्याहार के विषय में आगे कहा जायेगा] 'हल्' का अर्थ है ह् य् व् र् ल् ञ् म् ङ् ण् न् झ् भ् घ् ढ् ध् ज् ब् ग् ड् द् ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् श् ष् स् और ह् अर्थात् समस्त व्यञ्जन। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि यदि स्वर से हीन व्यञ्जन एक से अधिक हों और उनके मध्य में स्वर (अच्) न हों तो उनकी **'संयोग'** संज्ञा होती है। शौनक' ने 'ऋक् प्रातिशाख्य' में कहा है "संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः" (ऋ० प्रा० १।३।८।

इस वर्ग के पूर्वाचार्य-गृहीत अन्य संज्ञाएँ भी हैं। इनमें अनेकाक्षर संज्ञाओं का नामोल्लेखमात्र किया जा रहा है। कुछ बड़ी संज्ञाएँ हैं तथा साथ ही साथ कुछ दृष्टि से अन्वर्थक भी हैं। उनके कुछ उदाहरण ये हैं— अनुनासिक (देखिए—ऋ० प्रा० १।४ तथा १।६३), सवर्णसंज्ञा (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् अष्टा० १।१।१०) देखिए—(ऋ० प्रा० १।५५), प्रगृह्यसंज्ञा (अष्टा० १।१।११) (देखिए—ऋ० पा० १।६८)।

कभी-कभी ऐसा भी दिखाई पड़ता है कि पाणिनि ने अत्यन्त मान्य संज्ञा-शब्दों को बिना परिभाषित किए भी ले लिया है और प्राचीन अर्थ में उनका व्यवहार किया है। 'संख्या' संज्ञा भी इसी वर्ग की है। सर्वनाम संज्ञा यह अन्वर्थक भी हैं, सर्वादिगण में पठित शब्दों की बोधिका भी है, अंशतः परिभाषित भी। पाणिनि ने 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (अष्टा० १।१।२७) के द्वारा 'सर्वादि'—गण में पठित शब्दों को **'सर्वनाम'** माना है जिसके अन्तर्गत 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द भी पठित होने के कारण 'सर्वनाम' होते हैं। पतंजलि ने कहा है (१।१।२७) कि सर्वादि वाचक होने पर ही 'सर्वादि' ('सर्वादिगण' में पठित) शब्दों की 'सर्वनाम संज्ञा होती है। यदि किसी व्यक्ति विशेष का नाम 'सर्व' हो तो वह 'सर्वनाम' संज्ञक नहीं होगा।

अव्यय'—**'अव्यय'** संज्ञा पाणिनि के अनुसार निपात की होती है। [अष्टा० स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३७)] 'निपात' वर्ग के शब्द भी पूर्व वैयाकरणों से गृहीत हैं और **'अव्यय'** शब्द भी है। जिन शब्दों के रूप तीनों लिंगों, सभी विभक्तियों और तीनों वचनों में विकृत नहीं होते अर्थात् लिंग-वचन-विभक्ति-परक कारणों से जिन शब्दों या रूपों में विकार नहीं होता—वे सर्वदा एकरूप रहते हैं, वे अव्यय कहे जाते हैं। उपसर्ग और गतिसंज्ञक तथा अनेक कृदन्तादि पद भी अव्यय हैं। यह संज्ञा भी अन्वर्थक है और पूर्वाचार्यों से गृहीत है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि विशेषणरूप

में प्रयुक्त **'निपात'**, **'अव्यय'** संज्ञक नहीं होते। **'संप्रसारण'** संज्ञा भी पाणिनीय ने पूर्वं व्याकरणाचार्यों से ले ली है और परिभाषित भी की है। **'काशकृत्स्न'** व्याकरण सूत्र (९९) **गोपथब्राह्मण** (१।१।२६) में इसके लिए **'प्रसारण'** शब्द प्रयुक्त है। 'प्रत्याहार' शब्द भी बड़ी और अन्वर्थक संज्ञा हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'काशकृत्स्न' व्याकरण-—जैसा कि ऊपर कहा गया है—**पाणिनि पूर्ववर्ती** हैं। उसका जो सूत्रसंग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें लगभग १३५ सूत्र या सूत्रांश उपलब्ध हैं। उसी के अनुसार यह ९९ संख्यक है। पूर्वाचार्यों के व्याकरण में प्रयुक्त होने के कारण इस शब्द का प्रयोग तो पाणिनि ने नहीं किया हैं किन्तु 'प्रत्याहार' बोध्य वर्णों का 'बोधन' कराने के लिए उनका सूत्र है—"आदिरन्त्येन सहेता" (१।१।७१)। प्रातिपादिकसंज्ञा, धातुसंज्ञा, पदसंज्ञा, कारकसंज्ञा, परस्मैपदसंज्ञा, आत्मनेपदसंज्ञा, संहितासंज्ञा, समाससंज्ञा, प्रत्ययसंज्ञा, तद्धितसंज्ञा, अभ्याससंज्ञा, अभ्यस्तसंज्ञा, आम्रेडितसंज्ञा, विभाषासंज्ञा, ह्रस्वसंज्ञा, दीर्घसंज्ञा, प्लुतसंज्ञा, विभक्तिसंज्ञा, सार्वधातुकसंज्ञा, आर्धधातुकसंज्ञा, उदात-अनुदात्त-स्वरित आदि संज्ञाएँ एवं इसी प्रकार के अनेक संज्ञापदों को अपने व्याकरण में स्थान दिया है। 'गुरु', 'लघु' संज्ञाएँ परिभाषित भी हैं और लोकव्यवहारानुसारी। अनद्यतभूत, 'नदी' संज्ञा भी इन्हीं के अन्तर्गत आती है। वर्तमान, परोक्षभूत, भविष्यत्, अनद्यतन भूत, विधि, आज्ञा, आदि तथा प्रथमा द्वितीयादि-विभक्ति वाचक शब्द इन्होंने अवश्य ही पूर्वाचार्यों से लिया है। सम्भवतः यह शब्द व्याकरण शास्त्र में पर्याप्त व्यवहृत थे। और लोक में भी प्रसिद्ध और अभीष्टार्थ बोधक थे। 'अवसान' संज्ञा भी है (जिसके अर्थबोधनार्थं सूत्र है—विरामोऽवसानम् (अष्टा० १।४।११०)। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, द्वन्द्व, बहुव्रीहि आदि समास भेदों को भी ले लिया है। अपनी मान्यता के अनुसार पाणिनि ने इनकी अर्थसूचक परिभाषा भी बता दी है। और भी संज्ञाएँ भी इन वर्गों की हो सकती हैं। परन्तु उदाहरणार्थ इतना ही पर्याप्त है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि ये संज्ञाएँ अधिकांश अंशतः अन्वर्थक भी हैं और व्याकरण शास्त्र में विशेष रूप से प्रयुक्त एवं बहुधा परिभाषित भी रही हैं या अपरिभाषित रूप में ही पाणिनि पूर्वं-प्रसिद्धि के कारण गृहीत हैं। कुछ की परिभाषा न देकर व्याकरण शास्त्र में अत्यन्त प्रचलन के कारण प्रयुक्त हैं और कुछ सूत्रों द्वारा अर्थनिर्देश से

बोधित हैं। परन्तु इन सबका जिस पूर्णता और परिपक्वता के साथ पाणिनीय व्याकरण में उपयोग हुआ है वह अत्यंत समाहित प्रज्ञाका परिचायक है और अतुलनीय भी।

ऊपर यह भी संकेत किया जा चुका है कि कुछ पाणिनि की अपनी नवीन संज्ञाएं—जैसे–टि, घ, घु, इत् आदि है। इनका प्रयोग पाणिनि ने अत्यन्त सीमित-परिभाषित और अपने व्याकरण की उपयोगिता के लिए ही किया है। ये संज्ञाएँ अधिकतः **एकाक्षर** ही है। 'व्याडि' का तथा-कथित, पाणिनि और पतंजलि का मध्यवर्ती **'संग्रह'** अथवा **श्लोक-संग्रह** अथवा **लक्ष्यश्लोकात्मक**—संग्रह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः यदि वह उपलब्ध होता तो पाणिनि, पूर्ववर्ती आचार्यों और संज्ञाओं के सन्दर्भ पर और अधिक प्रकाश पड़ता। उक्त ग्रन्थ की महिमा में कहा गया है कि—संक्षेपरुचि और अल्पविद्यापरिग्रह वैयाकरणों को देखकर और 'संग्रह-ग्रन्थ' के लुप्त प्राप्त होने पर तीर्थंदर्शी महापण्डित व्याकरणशास्त्र के परमगुरु पतंजलि ने इस व्याकरणविषयक न्यायबीजात्मक महाभाष्य ग्रंथ का निर्माण किया—

प्रायेण संक्षेपरूचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान्संग्रहेऽस्तमुपागते॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धनम्॥

यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख पक्षों की ओर यथाशक्ति और यथाज्ञान ऊपर इंगित किया गया है।

'बृहद्दृजुपाणिनीयम्' में अष्टाध्यायी का वर्णसमाम्नाय आरम्भ में दिया गया है। यह चौदह सूत्रात्मक है जिनको माहेश्वर सूत्र भी कहते हैं। पाणिनीय-शिक्षा में कहा गया है—

येनाक्षरसमाम्नायामधिगम्यमहेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

इससे संकेतिक है कि महर्षि पाणिनि को—जैसा ऊपर कहा गया है—ये 'अइउण्' आदि चतुर्दश-सूत्र महेश्वर से प्राप्त हुए। ताण्डवनृत्य के अन्त में नटराज राज नटेश्वर ने ९+५ (१४) बार ढक्का (डमरू) बजाया।

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्‌ विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

इसी पद्य के आधार पर इन चतुर्दश सूत्रों को नन्दिकेश्वर ने **माहेश्वर** सूत्र कहा है। परन्तु डमरु की ध्वनि से गुञ्जित होने से पर भी अवश्य ही **पाणिनि** ने इनका जाल स्वयं फैलाया।

वर्णों का जो क्रम रूप इन चतुर्दश सूत्रों में मिलता है वह निश्चय ही पाणिनिकृत है—यही तर्कसंगत, शास्त्रीयबोध और ऐतिहासिक मनीषा के द्वारा माना गया है। इसमें चौदह सूत्रों के अन्त में जो "ण्, क्, म्" आदि इत् 'हल्' या व्यञ्जन हैं वे निश्चय ही पाणिनिकृत हैं। वे ही पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के सर्वप्रमुख आधार हैं। उन्हीं के आधार पर पाणिनीय व्याकरण का रथ तीव्र गति से अग्रसर होता है। 'बृहदृजुपाणिनीयम्' के प्रणेता **म० म० श्री दर्शनकेशरी जी** ने एक पद्य बनाया है, जिसके अनुसार इन ४१ प्रत्याहारों के विषय में अत्यन्त सूत्रात्मक ढंग से जानकारी प्राप्त हो जाती है—

एकं त्रीणि पुनश्चैकं चत्वार्येकं त्रयं त्रयम्।
एकं द्वे षट् तथैवेकं चतुः पञ्च षडेव च॥

उपर्युक्त ४१ प्रत्याहार होते हैं—१. अण्। २. अक्, इक्, उक्। ३. एङ्, ४. अच्, इच्, एच्, ऐच्। ५. अट्। ६. अण्, इण्, यण्,। ७. अम्, यम्, ङम्, ८. यञ्। ९. झष्, भष्। १०. अश्, हश्, वश्, झश् जश्, बश्,। ११. छव्,- १२. यय्, मय्, झय्, खय्। १३. यर्, झर्, खर्, चर्, शर्। १४. अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्॥ ४१॥

प्रसंगतः यहाँ एक बात बता देना आवश्यक है कि प्रत्याहार के इन अन्तिम अस्वर व्यञ्जनों को अनुबन्ध कहा जाता है। पर पाणिनीय की अष्टाध्यायी में उनकी संज्ञा—इत् है। 'अनुबन्ध' पद भी विचित्र और गृहीत हैं। 'इत्' संज्ञा का सूचक सूत्र है—'आदिरन्त्येन सहेता'। कुछ विधान भी पाणिनि ने अपने व्याकरण के लिए बनाये हैं जिनमें से कतिपय 'सिद्धान्त कौमुदी' के परिभाषा प्रकरण में देखे जा सकते हैं। अनेक ऐसे विधि-विधानादिसूचकसूत्र 'सिद्धान्तकौमुदी' में और अन्यत्र भी हैं और जो अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में प्रायः आ गए हैं। यथा—"एच इग्घ्रस्वादेशे", "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ", "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इत्यादि। अष्टाध्यायी के प्रथम पाद में प्रायः ऐसे सूत्र आ चुके हैं; वहीं देखे जा सकते हैं। प्रसंगतः यह बातें यहाँ कही गई हैं।

वर्ण-समाम्नाय के सम्बन्ध में यहाँ कहा जा रहा था। इस समाम्नाय में वर्णों का क्रम-विधान अत्यन्त वैज्ञानिक, दूरदर्शितापूर्ण, एवं पूरी अष्टाध्यायी की भावी योजना को सामने रखकर किया गया है। या तो **महर्षि पाणिनि** सचमुच ही **हस्तामलक तत्त्वदर्शी** योगी थे अथवा समग्र अष्टाध्यायी का निर्माण कर चुकने के बाद अपने **वर्ण समाम्नाय** के चतर्दश सूत्रों की योजना बनाई। साथ ही योजनानुसार उन सूत्रों में 'इत्' का संयोजन किया। इन्हीं **वर्णसमाम्नाय** निर्दिष्ट प्रत्याहारों का आधार अष्टाध्यायी के समग्र सूत्रों से सम्पृक्त हैं।

इन सूत्रों की योजना में प्रथम चार सूत्रों में स्वर वर्णों को योजनानुसार रखा गया है। पञ्चम और षष्ठ सूत्रों में प्रथम वर्ण (ह्) को छोड़कर अन्तस्थ व्यञ्जनों की योजना है। सातवें सूत्र में वर्ग के पंचम वर्ण हैं। आठवें और नवम में वर्ग के चतुर्थ वर्ण हैं। दशम सूत्र में वर्ग के तृतीय वर्ण हैं। एकादश सूत्र में समस्त वर्ग के द्वितीय महाप्राण वर्ण और तीन (च् ट् त्) अल्प-प्राण है। बारहवें में पुनः वर्ग के दो अल्पप्राण वर्ण 'क् प्' तथा तेरहवें में 'श् ष् स्' अर्थात् ऊष्म-ध्वनियाँ हैं। अन्तिम चौदहवां सूत्र 'हल्'— 'ह्'व्यंजन का रूप है। इस प्रकार पञ्चम तथा चतुर्दश दोनों सूत्रों में 'ह्' आ जाता है। इसका विशेष कारण यह है कि ह् को महर्षि पाणिनि अट् प्रत्याहार में और शल् प्रत्याहार में भी रखना चाहते हैं। उनकी योजनानुसार यह आवश्यक था। इन दोनों प्रत्याहारों का उल्लेख सम्बद्ध सूत्रों में होता है।

इस वर्ण समाम्नाय की एक और भी विशेषता है कि **बाह्यप्रयत्नों** के अन्तर्गत **नाद** और **घोष** ध्वनियों का संग्रथन स्थान एक निश्चित क्रम के अनुसार है और उसमें अल्पप्राण और महाप्राण नादों को अलग अलग सूत्रों में गुम्फित किया गया हैं। इसी प्रकार अघोष-श्वास-ध्वनियाँ भी अलग सूत्रों में हैं तथा उनमें भी कुछ अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण-ध्वनियों से अलग कर दी गई हैं। यह सब केवल आकस्मिक नहीं है वरन् अष्टाध्यायी की समग्र भावी योजना को ध्यान में रखकर किया गया हैं।

'बृहद्‌ऋजुपाणिनीयम्' के ग्रन्थकार ने पाँच और प्रत्याहारों का उल्लेख किया है जो उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किया जा रहा है :—

(र) 'उरण् रपरः' १।१।५१, चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः ८।४।४८ वा० ञमन्ताड्ड:, उ० १।११९, स्पर्शवर्ण तथा स्पृष्ट प्रयत्न के लिए 'ञय्'

प्रत्याहार' तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ इस सूत्र से 'थ' में रहने वाले अकार को इत् मानकर 'ख' (ख फ छ ठ थ) प्रत्याहार महाप्राण संग्रह करने के लिए ग्रहण किया गया है। इन सबको मिलाकर ४६ प्रत्याहार हैं।

मेरा ऐसा अनुमान है कि संस्कृत की वर्णमाला का प्रचलित क्रम लोक में सामान्यतः वही रहा होगा, जो आज नागरी वर्णमाला में प्रचलित है। अर्थात् क् से लेकर म् तक पाँच वर्ग—(क वर्ग च वर्गादि,) चार अन्तस्थ ध्वनियाँ य्, र् ल् व्, तीन ऊष्म ध्वनियाँ (श्, ष् स्) तथा ह्। इनके अतिरिक्त इनसे पूर्व वे सब ध्वनियाँ जो उस समय वेद जैसे ळ् (ङ्) और लोक में प्रचलित रही होंगी। पर इस विषय में निश्चितरूप कुछ नहीं कहा जा सकता। **वर्णशास्त्र** के विशेषज्ञ ही इस पर प्रकाश डाल सकते हैं।

इस प्रसंग में एक बात और कहने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। पाणिनीय व्याकरण में **'कु, चु, टु, तु, और पु'** इन पाँच **उकारान्तों** के द्वारा क्रमशः क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग ओर प वर्ग के पच्चीस (क् से लेकर म् तक की) ध्वनियों का बोध होता रहा है। स्वयं पाणिनि ने इसका प्रयोग किया है—'ष्टुना ष्टुः (८।४।४१) स्तोः श्चुना श्चुः। (८।४।४०)।'

पाणिनीय व्याकरण को ठीक-ठीक समझने के लिए और भी बहुत सी बातें आवश्यक है, पर स्थानाभाव और समयाभाव के कारण इतना ही दिङ्निर्देशमात्र कर देता हूँ।

पाणिनि के अष्टक या अष्टाध्यायी का समुचित विनियोग और उपयोग करने में स्थान (अर्थात् ध्वनियों का उच्चारण स्थान) और प्रयत्नों—आस्य-प्रयत्न अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्नों की अत्यन्त अपरिहार्य उपयोगित होती है। स्थान और प्रयत्न का वर्णन और उनके अन्तर्गत आने वाले वर्णों का ज्ञान पाणिनीय शिक्षा से मिल जाता है। यहाँ एक उदाहरण-परक उद्धरण मैं देना चाहता हूँ जिसमें मेरे 'कु चु टु तु पु' विषयक उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है—

"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालुः। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।"

स्थान समझने के साथ-साथ प्रयत्नों को भी समझना इसलिए आवश्यक है कि इनका उपयोग सवर्णसंज्ञा के विधान में सहायक है। सवर्ण-संज्ञा-

विधायक पाणिनि का सूत्र है—"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९ इसका अर्थ है–कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न–ये दोनों जिन वर्णों के समान होते हैं वे परस्पर **सवर्ण-संज्ञक** होते हैं। दीर्घ आदि के विधान में सवर्ण वर्णों की उपयोगिता अनिवार्य है। शिक्षानुसारी स्थान बताए जा चुके हैं। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं **आभ्यन्तर** अर्थात् भीतरी और **बाह्य** अर्थात् बाहरी। सवर्णसंज्ञा के लिए जिस **आभ्यन्तर** प्रयत्न की अनिवार्य आवश्यकता है वे चतुर्धा कहे जाने पर भी पाँच प्रकार के भी कहे जा सकते १. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. विवृत, ४. (संवृत और ५. ईषद्विवृत)

(१) स्पृष्ट प्रयत्न—स्पर्श ध्वनियों का अर्थात् क से म तक पंच वर्गीय (अर्थात्-कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, तथा पवर्ग) ध्वनियों का; (२) ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न–अंतस्था वर्णों का अर्थात् य् र् ल् व् का, विवृत प्रयत्न–ऊष्मध्वनियों और स्वरवर्णों का। ह्रस्व 'अ' वर्ण प्रयोग-काल में संवृत्त होता है और प्रक्रिया दशा में विवृत। संवृत को ही पक्ष भेद से ईषत्-विवृत भी कहते हैं।[1]

म० म० दर्शनकेशरी जी ने स्थान और आभ्यंतर प्रयत्न के विषय में एक सारणी (अष्टा० पृ० २१, द्वि० स०) दी है जो नीचे दी जा रही है—

स्थान तथा प्रयत्न

प्रत्याहार	१ कण्ठ	२ तालु	३ ओष्ठ	४ मूर्द्धा	५ दन्त	हिन्द संज्ञा	प्रयत्न
अक्	अ	इ	उ	ऋ	ऌ	स्वतंत्रस्वर	विवृत (एच् भी) (सब अच् विवृत)
ञय्	कु	चु	पु	टु	तु	वर्ग, स्पर्श	स्पृष्ट
यण्	:	• य्	व्	र्	ल्	अन्तःस्थ	ईषत्-स्पृष्ट
शल्	ह्	श्	)(	ष्	स्	ऊष्म	विवृत 'अ' मतान्तर में ईषद् विवृत (प्रयोगावस्था में)

इस सारणी में ए ओ ऐ औ के स्थान नहीं दिए गए हैं—ए, ऐ का स्थान है—कंठतालु और ओ औ का स्थान है–कंठौष्ठ

१. यह विवरण पाणिनि व्याकरणानुसारी है। आधुनिक भाषाविज्ञानविद्या के मत से स्वर भी—कुछ स्वर संवृत, कुछ अर्धसंवृत, कुछ अर्धविवृत और कुछ विवृत होते हैं।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह हैं—(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) घोष, (६) अघोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त (११) स्वरित। इनमें अन्तिम तीन वैदिक मंत्रादि के पाठ में नितांत उपयोगी हैं। पाणिनि-काल में या परवर्ती काल में कुछ दिनों तक ये ध्वनियाँ उच्चारणमात्र से बोधगम्य थीं। परन्तु आज जो वैदिक इनके अनुसार उच्चारण करते हैं वे शुद्ध उच्चारण करते हुए भी बहुत कम ही यह जानते हैं कि कौन-कौन सा स्वर उदात्त अथवा अनुदात्त अथवा स्वरित है। इन दोनों-आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों की सारणी नीचे दी जा रही है। नीचे की सारणी के सस्वर व्यंजन अस्वर समझे जायें।

(१) आभ्यान्तर और (२) बाह्य प्रयत्नों की सूचक सारणी

(१) आभ्यान्तर प्रयत्न	स्पृष्ट			ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत		विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श			अन्तःस्थ	उष्म		स्वर उदात्त, अनुदात्त स्वरित	
व्यञ्जन-स्वर	क ख प फ च छ ट ठ त थ	ग ङ ब म ज भ ड ण द न	घ भ झ ढ ध	य व र ल	श ष स	ह	अ इ ए उ ओ ऋ ऐ ऌ औ	प्रयोग में ह्रस्व अ
(२) बाह्यप्रयत्न	अ०प्रा० म०प्रा० विवार श्वास अघोष	अ०प्रा० संवार नाद घोष	म० प्र० संवार नाद घोष	अल्प संवार नाद घोष	म. प्रा. विवार श्वास अघोष	म. प्रा. संवार नाद घोष	अल्प प्राण संवार नाद घोष	अल्प प्राण संवार नाद घोष

ऊपर कहा गया है कि स्थान जौर प्रयत्नों की उपयोगिता **सवर्णसंज्ञा** के लिए है। ऋ और ऌ इन दोनों को परस्पर सवर्ण स्वर माना गया है। कवर्ग के पाँचो वर्ण परस्पर सवर्ण हैं। इसी प्रकार चवर्ग, तवर्ग टवर्ग तथा

पवर्ग के भी सभी पाँचों वर्ण परस्पर सवर्ण हैं। पाणिनि के अनुसार 'अ' और 'आ' आदि परस्पर सवर्ण है। पाणिनि का एक सूत्र है—

ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ प्लुतः (१।२।२७) इस सूत्र में यह बताया गया है कि उ कार, ऊ कार ऊ३कार—इनके उच्चारण में जितना समय लगता है उस काल में उच्चारित होने वाले स्वर-वर्णों को क्रमशः ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर और प्लुतः स्वर कहते हैं। अ, इ, उ और ऋ ये स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों ही होते हैं।[1] ऌ स्वर के ह्रस्व और प्लुत के दो ही भेद हैं।'ऌ' दीर्घ नहीं होता है।

पदसंज्ञा

पाणिनि ने पद संज्ञा अर्थात् वाक्यप्रयोग शब्द का विधान करने वाला सूत्र लिखा है—'सुप्तिङन्तं पदम् (१।१।१८) अर्थ है सुबन्त अर्थात् सुब्-विभक्त्यन्त और तिङन्त अर्थात् तिङ्-विभक्त्यन्त शब्दों को पद कहते हैं। पदसंज्ञा करने की आवश्यकता यह है–अपदं न प्रयुञ्जीत। अर्थ यह है कि संस्कृत भाषा में कोई शब्द तब तक प्रयुक्त होने की अर्हता नहीं रखता जब तब वह **पदसंज्ञक** न हो। जो पद नहीं होता वह वाक्य में प्रयोग के अनर्हं होता है। अव्यय आदि—जहाँ पर विभक्तियाँ दिखाई नहीं देती वे शब्द भी विभक्त्यन्त होते हैं। पाणिनि के सूत्र नियमा-

---

१. अ, इ, उ, ऋ इन चार स्वर ध्वनियों में प्रत्येक के पाणिनीयव्याकरण में अट्ठारह-अट्ठारह भेद मानें गए हैं—(क) ह्रस्व, (ख) दीर्घ (ग) प्लुत = ३ प्रत्येक के (अ) अनुदात्त (आ) उदात्त और (इ) स्वरित = ३ × ३ = ९ भेद। प्रत्येक के दो भेद होते हैं (१) अननुनासिक और (२) सानुनासिक। प्रत्येक स्वर अननुनासिक और सानुनासिक भेद से हुआ ३ × ३ × २ = १८ इस प्रकार पूर्वोक्त के अट्ठारह भेद होते हैं। ऌ स्वर में दीर्घ न होने के कारण उसके बारह ही भेद होते हैं। ए, ऐ, ओ, औ इन चारों स्वरों में ह्रस्व न होने के कारण तथा अनुदात्त-उदात्त-स्वरित और सानुनासिक से गुणित होकर बारह ही भेद होते हैं। ए ओ ऐ औ को संयुक्त स्वर भी कहा जाता है। यद्यपि आधुनिक भाषा विज्ञान के अनुसार ए, ओ संयुक्त स्वर नहीं हैं। केवल 'ऐ', 'औ' संयुक्त स्वर हैं। विशेष व्याख्या यहाँ अनावश्यक है।

नुसार वहाँ विभक्तियों का लोप रहता है अर्थात् वे लुप्त विभक्तिक पद होते हैं—जैसे यदा, कदा, उच्चैः, नीचैः दिवा, सायम्, चिरम् इत्यादि। इनमें विभक्तियाँ दृश्य नहीं हैं, लुप्त हैं। पर ये विभक्त्यन्त और पदसंज्ञक हैं। प्रातिपादिकों अर्थात् शब्दों और कृदन्त, तद्धितान्त तथा समासान्त शब्दों के आगे सुब्-विभक्तियाँ लगाकर **सुबन्तपद** बनाए जाते हैं और धातुओं के आगे **तिङ्-विभक्तियाँ** लगाकर **तिङन्त-पद** बनाए जाते हैं। **तिङ्-विभक्तियों** में परस्मैपद और आत्मनेपद दो प्रकार की नौ-नौ तिङ्-विभक्तियाँ होती हैं। पाणिनि-सूत्रों के अनुसार क्रमशः सूत्र स्वौज''''४।१।२ के द्वारा **सुब्-विभक्तियों** को बताया गया है और सूत्र तिप्तस्''''३।४।७८ द्वारा अट्ठारह **तिङ्-विभक्तियाँ** बताई गई हैं जिन्हें '**लादेश**' अर्थात् निर्धारित नियमानुसार '**लट् लिट्**' (जिनमें केवल 'ल्' बचता है उन्ही के स्थान पर आदेश होने से उन्हें लादेश) कहा गया है। निम्नलिखित दो सारिणियों के द्वारा सुप् और तिङ् का परिचय दिया जा रहा है—

(१) सुब् विभक्तियों की सूचक सारणी

सु	औ	जस्	प्रथमा	स्	औ	अः १
अम्	औट्	शस्	द्वितीया	अम्	औ	अः २
टा	भ्याम्	भिस्	तृतीया	आ	भ्याम्	भिः ३
ङे०	भ्याम्	भ्यस्	चतुर्थी	ए	भ्याम्	भ्यः ४
ङसि	भ्याम्	भ्यस्	पञ्चमी	अः	भ्याम्	भ्यः ५
ङस्	ओस्	आम्	षष्ठी	अः	ओः	आम् ६
ङि.	ओस्	सुप्	सप्तमी	इ	ओ	सु ७
सु	औ	जस्	सम्बोधन	स्	औ	अः सं०

इस सारणी के अनुसार सुबन्त विभक्तियाँ प्रत्ययों के योग से बनने वाले अत्यन्त सरल 'मरुत्' शब्द के रूप नीचे दी जा रही हैं—

मरुत् + सु = मरुत्, मरुद्	ने प्रथमा	वायु या वायुने
मरुत् + औ = मरुतौ		दो वायु या दो वायुने
मरुत् + अः = मरुतः		बहुत वायु या बहुत वायुओंने
मरुत + अम् = मरुतम्	को द्वितीया	वायुको
मरुत् + औ = मरुतौ		दो वायुओं को
अरुत्+अः = मरुतः		बहुत वायुओं को
मरुत् + आ = मरुता	से तृतीया	वायु से
मरुत् + भ्याम् = मरुद्-भ्याम्[1]		दो वायुओं से
मरुत् + भिः = मरुद्भिः		बहुत वायुओं से
मरुत् + ए = मरुते	के लिए—चतुर्थी	वायु के लिए
मरुत् + भ्याम् = मरुद्भ्याम्		दो वायुओं के लिए
मरुत् + भ्यः = मरुद्भ्यः		बहुत वायुओं के लिए
मरुत् + अः = मरुतः	से पञ्चमी	वायु से
मरुत् + भ्याम् = मरुद्भ्याम्		दो वायुओं से
मरुत् + भ्यः = मरुद्भ्यः		बहुत वायुओं से
मरुत् + अः = मरुतः	का,की,के,षष्ठी	वायु का
मरुत् + ओः = मरुतोः		दो वायुओं का
मरुत् + आम् = मरुताम्		बहुत वायुओं का
मरुत् + इ = मरुति	में,पर,पै,सप्तमी	वायु में
मरुत् + ओः = मरुतोः		दो वायुओं में
मरुत् + सु = मरुत्सु		बहुत वायुओं में
हे मरुत् + सु = हे मरुत्, हे मरुद् !	हे, अरे, रे सम्बोधन	हे वायो !
		हे दो वायुओं !
हे मरुत् + औ = हे मरुतौ !		हे बहुत वायुओं !
हे मरुत् + अः = हे मरुतः !		

(नोट—प्रथमा वि. की विभक्तियां ही संबोधन में लगती हैं।)

इसी प्रकार हलन्त शब्दों की विभक्तियों में मूल शब्दों को जोड़कर पद बना लेना चाहिए। अण् आदि प्रत्याहारों के सभी शब्द के रूप भी ऐसे ही चलेंगे।

---

१. जिन हलादि विभक्तियों में घोष अक्षर पहले (आये) हैं उनमें मिलते समय शब्द का अघोष अक्षर अपने प्राण के अनुसार घोष होकर मिलता है। इसके लिए सूत्र है—झलां जशोऽन्ते ८।२।३९।

आदरणीय शास्त्री जी ने कुछ आदर्श शब्दोंका पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगों के लिए निर्देश किया है जो नीचे दिए जा रहे हैं—

रामो हरिः करी भानुर्मरुत् कर्त्ता च चन्द्रमाः।
विद्वाँश्च भगवानात्मा दशैते पुंसि नायकाः॥
रमा रुचिर्नदी धेनुर्वाक्स्त्री श्रीर्गौर्वधूस्तथा।
क्षुत् प्रावृट् च शरच्चैव द्वादश स्त्रीषु नायकाः॥
ज्ञानं दधि पयो वर्म धनुर्वारि जगत्तथा।
मधु नाम मनोहारि दशैतानि नपुंसके॥

(क) प्रथम पुरुषवाचक सर्वनाम या अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम।
(ख) मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम।
(ग) उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम।
(घ) सर्वादिगण पठित कतिपय शब्द।

इनके रूपों को भी प्रामाणिक शब्द रूपावली से कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

(२) तिङ् विभक्तियों की सूचक सारणी

तिङ्	परस्मैपद			आत्मनेपद		
पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	ति	तः	अन्ति (अति)	ते	आते (इते)	अते (अन्ते)
मध्यम पुरुष	सि	थः	थ	से	आथे (इथे)	ध्वे
उत्तम पुरुष	मि	वः	मः	ए	वहे	महे

तिङन्त प्रत्ययों से बनने वाले धातु-रूपों को किसी भी प्रामाणिक धातु रूपावली से कंठस्थ किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि धातुरूपों का इतना विस्तार है कि उन्हें देने के लिए यहाँ प्रर्याप्त स्थान नहीं है। धातुओं के दश 'लकार' हैं अर्थात् विभिन्न कालों और प्रयोगों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं तथा तीन धातु वर्ग भी है—(१) परस्मैपदी, आत्मनेपदी और उभयपदी हैं। इनके अतिरिक्त सन्प्रत्यान्त, यङन्तप्रत्यान्त यङ्लुङन्त और रूप भी होते हैं

इनके अलावा तीन वाच्य भी हैं—(१) कर्तृवाच्य, (२) कर्मवाच्य, और (३) भाववाच्य। इन वाच्यों के सम्बन्ध में आगे बताया जाएगा। पाणिनि के धातुपाठ में धातुओं की संख्या लगभग दो सहस्र है। इनके दश गण हैं अर्थात् भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, प्रभृति। विकरण के कारण अर्थात् धातु और तिङ् प्रत्यय के मध्य में (गणपाठ प्रभाव से) आने वाले मध्यवर्ती विकरणों के कारण इनमें रूपभिन्नता होती है। आदरणीय शास्त्री जी ने गणों के नाम कण्ठस्थ करने योग्य एक श्लोक में गुम्फित किये हैं—

भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिर्दिवादिः स्वादिरेव च।
तुदादिश्च रुधादिश्च तनादिक्रीचुरादयः॥

तात्पर्य कहने का इतना ही है कि विस्तार भय के कारण यहाँ धातुरूपों को देने का अवकाश नहीं है। प्रामाणिक धातुरूपावली से ही पाठक कण्ठस्थ करें।

धातुरूपों के विस्तार के प्रसंग में तीन वाच्यों की चर्चा की गई है।

(१) **कर्तृवाच्य** में कर्ता के अनुसार क्रिया के **वचन** और **पुरुष** होते हैं अर्थात् **कर्ता प्रथमपुरुष** एकवचन होगा तो क्रिया भी वैसी ही होगी। क्योंकि क्रियारूपों में भी तीन पुरुष—(क) प्रथम पुरुष, (जिसको हिन्दी में अन्यपुरुष भी कहते हैं) और जो मध्यम और उत्तम पुरुष से भिन्न सभी सर्वनाम तथा प्रातिपादिक—पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं। (ख) **मध्यमपुरुष** और (ग) **उत्तमपुरुष**। **युष्मद्** शब्द के प्रथमा (कर्त्ता) रूपों के साथ मध्यमपुरुष का धातुरूपों का प्रयोग होता है और **अस्मद्** शब्द के (प्रथमा विभक्ति) कर्तारूपों के साथ **उत्तमपुरुष** का। शेष कर्त्तारूपों के साथ प्रथम पुरुष के कर्तारूपों का प्रयोग होता है। कर्म द्वितीयान्त रहेगा।

(२) **कर्मवाच्य** की क्रिया **कर्ता** के नुसार न होकर कर्मानुसारी होती है। कर्म प्रथमान्त रहेगा, कर्त्ता यहाँ प्रथमा विभक्त्यन्त न होकर तृतीया विभक्ति का होता है। धातु रूपों की दृष्टि से इन्हीं दो वाच्यों की ही विशेषता है।

(३) **भाववाच्य**—इसका प्रयोग अर्थात् **भावे प्रयोग** अकर्मक धातुओं के साथ होता है। **तिङन्तरूप** की दृष्टि से इसकी विशेषता नहीं है। इसमें कर्मविभक्ति-रूपों का अभाव होता है और कर्तृकारक तृतीया विभक्ति में होती है। क्रिया केवल अन्य पुरुष एक वचन की ही आती है।

इन वाच्यों की और विशेषताएँ स्थान-स्थान पर सूत्रों में वर्णित हैं, यहाँ दिङ्निर्देश मात्र किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए शास्त्री जी की अष्टाध्यायी भूमिका देखें।

पाणिनि के धातुओं का पाठ दश गणों (वर्गों) में विभक्त है। धातुपाठ के लगभग २००० धातुओं में सर्वाधिक संख्या **'भ्वादिगण'** की धातुओं की है। विभिन्न गणों के धातुरूप भी विभिन्न विकरणों के योग से बनते हैं। भ्वादिगण के **'शप्'** विकरणमें **इत् संज्ञा** होकर श् और प् का लोप हो जाता है, केवल 'अ' बचता है। अतः इसके रूप सब गणों की अपेक्षा सरल होते हैं। यथा परस्मैपदी लट्लकार (प्रथमपुरुष के एकव० द्विव० बहुवचन) √'भू' के रूप—**भवति भवतः भवन्ति** आदि। आत्मनेपदी √एध् धातु उसी प्रकार के रूप हैं—**'एधते, एधेते एधन्ते'** आदि। अन्य गणों के रूप अपेक्षा-कृत कठिन होते हैं। **'अदादि'** गण के रूप √अद् (अद् भक्षणे) धातु का रूप—**'अत्ति अत्तः अदन्ति**। होता है।

'जुहोत्यादिगण' में और भी क्लिष्टता है। √हु (हु दानादानयोः, हवनेत्यादि) के रूप होते हैं—**जुहोति जुहुतः जुह्वति**। √दिव् के (दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) = दिवादिगण के रूप पुनः कुछ सरल होते हैं, दीव्यति, दीव्यतः दीव्यन्ति। स्वादि के रूप पुनः कठिन होते हैं— √सु (षुञ् अभिषवे—अभिषवः स्वपनं सुरा-संधानं च) के रूप होते हैं—**सुनोति सुनुतः सुन्वन्ति** आदि। **तुदादि गणीय धातुओंके रूप** पुनः सरलहोते हैं— √तुद् (तुद व्यथने) के रूप परस्मैपद में होते हैं—**तुदति तुदतः तुदन्ति** और आत्मनेपद में होते हैं **तुदते तुदेते तुदन्ते**। **रुधादिगण** रूप पुनः कुछ कठिन होते हैं। √रुध् (रुधिर् आवरणे) **रुणद्धि रुन्धः रुन्धन्ति**। **तनादिगण** की धातुओं के रूप होते हैं— √तन् (तनु विस्तारे, उभयपदी) **तनोति तनुतः तन्वन्ति**। **तनुते तन्वाते, तन्वते** इत्यादि। **'क्र्यादिगण'** के रूप पुनः कुछ कठिन और सरल भी होते हैं। √क्री (डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये) **क्रीणाति क्रीणीतः क्रीणन्ति**। यह भी उभयपदी हैं। **क्रीणीते क्रीणाते क्रीणते** (आत्म०)। इसके बाद सबसे अन्त में चुरादिगण है जिसके रूप बहुत कुछ प्रेरणार्थक रूपों से मिलते-जुलते होते हैं √चुर (चुर = स्तेये) **चोरयति चोरयतः चोरयन्ति**। आत्मनेपद में इसका रूप होता है—**चोरयते चोरयेते चोरयन्ते**।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान काल के (वर्तमाने लट्) अर्थात् लट् लकार के प्रथम पुरुष के **एकवचन, द्विवचन बहुवचन,** रूपों को ही देकर यहाँ विस्तार भय के कारण सन्तोष करना पड़ रहा है। 'धातु-रूपावली' प्रकाशित मिलती हैं। उनमें से देखकर धातुरूपों को कंठस्थ करना ही हितकर हैं, क्योंकि धातुरूप जटिल और कठिन भी होते हैं।

'बृहदृजुपाणिनीयम्' के प्रणेता

स्व० म० म० गोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' जी की व्याकरणशास्त्र-साधना, व्याकरण-अध्यापन की तपस्या और प्रस्तुत 'बृहद्ऋजुपाणिनीयम्' के सम्बन्ध में दो शब्द कहना—उनके कृपापात्र मेरे जैसे व्यक्ति का परम सौभाग्यसूचक तथा पावन कर्तव्य है। उन्होंने व्याकरण-शिक्षा के लिए, विशेषतः पाणिनीय व्याकरण के द्वारा व्याकरण-अध्येता, कोमल-बुद्धि बालकों के हेतु अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें अनेक प्रकाशित हैं। उनमें से कुछ के नाम नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) पाणिनीय-प्रबोध, (२) संस्कृत-शिक्षक, (३) ऋजुपाणिनीयम् तथा वर्तमान **बृहदृजुपाणिनीयम्** आदि। इनके अतिरिक्त सपूर्व-पीठिका 'पाणिनि-विरचिता अष्टाध्यायी' का विशिष्ट सम्पादन भी उन्होंने किया है। इसके द्वितीय संस्करण का पदच्छेद, वृत्ति-वार्तिक तथा अधिकारसूत्र और अनुवृत्ति-सूचक टाईप भेद आदि से एवं सूत्रांको की योजना-बद्ध निर्देश-प्रक्रिया के द्वारा विशिष्ट सम्पादन किया गया है।

इसमें शास्त्री ने अपने ज्ञान तथा अपनी योजना के प्रयोग और अनुभव के अनुसार विशिष्टता भरकर रख दी है। 'बृहद्ऋजुपाणिनीयम्' के अध्ययन में इसका बहुत बड़ा उपयोग है। अन्त में परिशिष्ट भी दिए हुए हैं, जिनमें पाणिनीय शिक्षा, सूत्रपाठ, अनुबन्ध-विचार, अष्टाध्यायी-सूत्रों की वर्ण-क्रमानुसारी सूची देकर उक्त सम्पादन को अत्यन्त सारगर्भित और छात्रोपयोगी बनाया गया है। **बृहद्ऋजुपाणिनीयम्**' के अध्ययन-अध्यापन-कर्ता यदि 'दर्शनकेशरी'—सम्पादित अष्टाध्यायी का सहयोग लें तो उन्हें अधिक सुविधा होगी।

प्राचीन काल में पाणिनीय व्याकरण पढ़ने की पद्धति **अष्टाध्यायी क्रमानुसार** थी। पतञ्जलि ने **अष्टाध्यायी पर महाभाष्य** और उसके पूर्व **वार्तिककार** ने सूत्रों पर **वार्तिक-रचना** भी उसी क्रम से की थी। वही

व्याख्या-पद्धति **काशिका** और उसके व्याख्याकारों ने स्वीकार की थी। परन्तु आगे चल कर प्रक्रिया-परक, अष्टाध्यायी-सूत्रक्रम से रहित पद्धति—रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, मध्यकौमुदी, लघुकौमुदी आदि में नयी सरणि लोकप्रिय होकर प्रचलित हुई जो सर्वत्र व्याप्त हो गई। इसलिए अष्टाध्यायी-क्रमानुसार पठन-पाठन की प्रक्रिया लुप्त हो गई। परन्तु परिव्राजकाचार्य **स्वामी विरजानन्द सरस्वती** ने विक्रम की २० वीं शताब्दी के आरम्भ में प्राचीन अष्टाध्यायी-सूत्रक्रमानुसारी पद्धति का पुनरुद्धार किया और उनकी पद्धति का प्रचार **स्वामी दयानन्द** जी ने किया। काशी के स्वर्गीय वैयाकरण 'ब्रह्मदत्तजिज्ञासु' जी भी इस पद्धति के समर्थक थे। इन्होंने अष्टाध्यायी की हिन्दी व्याख्या बहुत सुन्दर और विस्तृतरूप से की है। स्व० 'दर्शनकेशरी' जी ने लगभग ६५ वर्षों की अपनी कठिन साधना, तपस्या और प्रयोग के द्वारा इस सुबोध पद्धति का प्रचार-प्रयास किया। जोशीमठ के संस्कृत महाविद्यालय में रहते हुए सूत्रों को पढ़ाकर प्रयोग द्वारा इस पद्धति की सार्थकता अनुभूत की। वहाँ से काशी आने पर इसी के प्रचार और प्रसार में वे लगे रहे। इन्हीं सब अनुभव, प्रयोग, साधना और तपस्या से संभूत ग्रन्थ—'बृहदृजुपाणिनीयम्' का सम्पादन-प्रकाशन करते हुए मैं अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली और कृतकृत्य मान रहा हूँ। श्री 'दर्शनकेशरी' जी की मुझपर अपार अनुकम्पा और वात्सल्य स्नेह रहा है। अतः यह कार्य मेरा पावन कर्त्तव्य रहा जिसे सम्पन्न कर मैं कृतकृत्य हो उठा हूँ।

स्व० पं० गोपालशास्त्री जी द्वारा पूर्व लिखित और निर्देशित पूर्वपीठिका जिसका अब उनके शिष्य-स्वामी प्रह्लादगिरि जी ने पुनर्लेखन किया है—उसे संक्षेप रूप देना ही मुझे समीचीन लगता है। इसमें भी मैंने आवश्यक संक्षेपीकरण के साथ कुछ संशोधन-परिवर्तन भी किया है। जिसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। क्योंकि 'दर्शनकेसरी' जी अपने **'ऋजुपाणिनीयम्'** के अध्ययन और अध्यापन के निमित्त आवश्यक ज्ञान को जिस पूर्णता के साथ समझते थे उसे अन्य कोई नहीं जान सकता। अतः इस सम्पादकीय वक्तव्य के बाद संक्षिप्त रूप में उसे दे देना ठीक समझकर वह अलग दे दिया जा रहा है।

इसके सम्पादन में डा० **रामप्रसाद त्रिपाठी** (भू० पू० व्याकरण विभागाध्यक्ष) प्रकाशनाधिकारी डा० **हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी**—(दोनों ही सं० वि०

वि० वाराणसी) विशेषरूप से धन्यवाद के पात्र हैं। **आचार्य स्वामी शारदानन्द जी** श्री दक्षिणामूर्ति मठ वाराणसी और 'दर्शनकेशरी' जी के शिष्य **स्वामी प्रह्लादगिरि** जी ने मुद्रण-कार्यों में अत्यधिक सहायता दी है। उनके श्रम का मूल्यांकन न करते हुए, उन्हें हृदय से साधुवाद और आशीर्वाद देता हूँ। 'दर्शन-केशरी' जी के पुत्र **बन्दिकृष्ण त्रिपाठी** 'एडवोकेट' को भी हृदय से आशीर्वाद है जो ग्रन्थ के मुद्रण में समय-समय पर मूल्यवान् सुझाव देते रहे हैं।

डा० चन्द्रकान्त द्विवेदी के अथक श्रम और आद्यन्त सहायता के बिना यह ग्रंथ समय से कभी मुद्रित नहीं हो पाता। अतः वे भी भूरिशः आशीर्वादार्ह हैं। कठिन मुद्रणकार्य को बड़े श्रम से पूर्ण करने वाले 'विजय प्रेस', वाराणसी के मालिक को भी धन्यवाद देता हूँ।

सबसे अंत में उन लेखकों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके ग्रन्थ या निबन्ध से **संपादकीय-लेखन** में सहायता ली गई है। अपने आदरणीय गुरु आचार्य श्री पं० बलदेव उपाध्याय का ग्रन्थ—**संस्कृत शास्त्रों का इतिहास** से पर्याप्त सामग्री मिली है। अतः गुरुवर के चरणों में प्रणाम है।

त्वरा, अज्ञान और प्रमाद के कारण जो भी त्रुटि इसमें रह गई हो उसके लिए मैं विद्वज्जनों से क्षमा चाहता हूँ—

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवेदेव प्रमादतः।"

अन्त में 'मुनित्रयं नमस्कृत्य'—अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ और क्षमा-याचना के साथ प्रार्थना है कि इसके सम्पादन में जो त्रुटि रह गई हो—उसकी सूचना विद्वान् लोग मुझे दें।

पौष कृष्णा सफला एकादशी संवत् २०४० वि०, —**करुणापति त्रिपाठी**
वाराणसी।

ॐ

श्रीकृष्णः शरणं मम

पूर्वपीठिका

धातुर्ब्रह्मैव संप्रोक्तो जीव आख्यातमुच्यते।
प्रकृतिः कृत्सुबन्तादिर्धातुब्रह्मात्मने नमः॥

सूत्रों को समझने के लिए—

सबसे पहले छात्र क्रमसे 'अष्टाध्यायी' या 'ऋजुपाणिनीयम्' में दिए गए सूत्रों को कण्ठस्थ करलें। उसके बाद शब्दरूप, धातुरूप, सन्धि तथा समास इनको संक्षिप्तरूपसे जान लें। इस ग्रन्थस्थित पूर्वपीठिका को ठीक से पढ़ लें। इसको बिना पढ़े आगे वाले ग्रन्थ को नहीं पढ़ पायेंगे। सूत्रों की सन्धियों को अलगकर पदच्छेद कर लें। उसके बाद निम्नलिखित नियम के अनुसार सूत्रार्थं करें। 'अस्ति' तथा 'भवति' क्रियापद का आवश्यकता के अनुसार लें।

सूत्रों की सन्धियों को अलगकर पदच्छेद करके सूत्रमें आए हुए पदों को हिन्दी-अर्थ के अनुसार अन्वय करके क्रियापद लगाकर सूत्रार्थं करें। जैसे—'वृद्धिरादैच् १।१।१' = पदच्छेद—वृद्धिः १।१ आत् १।१ ऐच् १।१। वृत्ति—आत् ऐच् वृद्धिः (संज्ञः भवति)। हिन्दी-अर्थं—आ, ऐच् (ऐ, औ) की वृद्धि (संज्ञा) होती है। (१)

महर्षि पाणिनि का आठ अध्यायों वाला ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी सूत्रपाठ' है। इसलिए इसका नाम अष्टाध्यायी पड़ा। प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस पाद होते हैं। इसमें संस्कृत भाषा के शब्द तथा उनके प्रयोग के लिए नियम लिखे गए हैं। इन विधानों के सूत्र का निम्नलिखित लक्षण है—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

सूत्र उसे कहते हैं जो अल्प अक्षरवाला, असन्दिग्ध, गंभीर अर्थका सूचक तथा अनिन्द्य हो। सूत्र छह, सात या यहाँ आठ प्रकार के होते हैं (किसी के मत में सूत्र छह प्रकार के होते हैं। हम आपको निषेध सूत्र और 'उपविधि' सूत्र को बताकर आठ प्रकार के सूत्र बतायेंगे।) जैसे—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च निषेधश्चेति सप्तकम्॥
(षड्विधं सूत्र लक्षणम्)॥

संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश, अधिकार तथा निषेध ये सात प्रकारके सूत्र होते हैं। यहाँ उपयोगी 'उपविधि' को मिलाकर आठ प्रकारके होते हैं।

(१) संज्ञासूत्र—

'शक्तिनियामकम्' वा 'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धबोधकं संज्ञासूत्रम्'। शब्द में स्थित शक्ति का बोध कराने वाले प्रकार को संज्ञा सूत्र कहते हैं अथवा संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्धको बनाने वाले सूत्रों को संज्ञा सूत्र कहते हैं। जैसे—**'वृद्धिरादैच् १।१।१', 'अदेङ् गुणः १।१।२'** इत्यादि सूत्र।

(२) परिभाषासूत्र—

'अव्यवस्थायां व्यवस्थासम्पादकसूत्रं परिभाषासूत्रम्'। विधि-प्रभृति सूत्रों में स्थित अव्यवस्था को व्यवस्था कर देने वाले सूत्र को परिभाषासूत्र कहते हैं। जैसे **'इको गुणवृद्धी १।१।३'।**

(३) विधिसूत्र—

'आदेशागमादिविधायकसूत्रं विधिसूत्रम्' आदेश, आगम आदि रूप कार्यके विधान करने वाले सूत्र को विधिसूत्र कहते हैं। जैसे—**'इको यणचि ६।१।७७'** यह सूत्र यण्-संधि का विधान करता है।

(४) नियमसूत्र—

'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते'। पूर्व-सूत्रोंसे स्वतः सिद्ध कार्यको पुन दूसरे सूत्र से विधान करना नियम कहलाता है। जैसे—**'धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८०'** यह एक नियमसूत्र है। **'वान्तोयि प्रत्यये ६।१।७९'** यह सूत्र कहता है कि यकारादि प्रत्यय के परे रहने पर

ओ औ का अव आव् आदेश होता है। 'गो+यम्' और नौ+यम् में 'ओ का अव् तथा 'औ का आव् आदेश होने से गव्यम् और नाव्यम् प्रयोग बनते हैं। इसी प्रकार इस सूत्र की प्रवृत्ति 'ओ+यते' तथा 'औ+यते' में भी होनी चाहिए किन्तु 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८०' यह नियम सूत्र नियम करता है कि यकारादि प्रत्यय के परे रहने पर धातु के एच् का यदि वान्तादेश हो तो प्रत्यय निमित्तक ही यच् का, दूसरे का नहीं। अतः वेञ् धातु से कर्मवाच्य में यक् (=य) प्रत्यय कर सम्प्रसारण से लट् लकार में बने हुए ओ+यते=ओयते' तथा 'आट्' (=आ) के साथ वृद्धि कर के लङ् लकार के 'औ+यते=औयत' में वान्तादश नहीं हुआ। 'लू+यम्=लो+यम्=लव्यम्' तथा 'अवश्य+लू+यम्=अवश्य+लौ+यम् =अवश्यलाव्यम्' में प्रत्ययनिमित्तक वान्तादेश हुआ है। इस प्रकार से विधि सूत्रों को नियमित करनेवाले नियम सूत्रों को ठीक से सलझ लें।

(५) अतिदेशसूत्र—

'आदेशस्थानिनोर्मध्येऽभेदसम्बन्धस्थापकसूत्रमतिदेशसूत्रम्। आदेश और स्थानी में अभेद-सम्बन्ध के स्थापक को अतिदेश सूत्र कहते हैं। जैसे—**'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६।** इस अतिदेश सूत्र का कहना है कि आदेश स्थानी की तरह होता है, अल्विधि को छोड़कर। अतः इसके अनुसार 'राम+ङे' (=ए) में **'ङेर्यः ७।१।१३'** से ङे के स्थान में 'य' आदेश हुआ ङे का नहीं है, सुप् का है; क्योंकि ङे सुप् है। इस प्रकार से 'य' भी सुप् कहलायेगा।

(६) अधिकारसूत्र—

'स्वदेशे फलशून्यत्वे सति उत्तरोत्तरफलजनकत्वमधिकारसूत्रत्वम्, जो अपनी जगह फल न दे सके किन्तु आगे के सूत्र में जाकर अपना अर्थ समर्पण कर सूत्रार्थ को स्पष्ट करे 'उसे अधिकारसूत्र कहते हैं। जैसे—**'धातोः ३।१।९१', 'प्रत्ययः ३।१।१', 'परश्च ३।१।२, 'अनभिहिते २।३।१'** इत्यादि। महर्षि पाणिनि ने **'स्वरितेनाधिकारः १।३।११'** इस सूत्र से निर्देश किया है। इन सूत्रों के कार्य विशेषरूप से ग्रन्थ में विद्यमान है।

कुछ अधिकार सूत्र हैं जो कि अधिकृत सूत्रों में जाकर अर्थ पूर्ण कराते हैं। जैसे—**वर्तमाने लट् ३।२।१२३'**=पदच्छेद—वर्तमाने ७।१।

(सप्तमी एकवचन) लट् इस सूत्रमें ऊपर से **'प्रत्ययः ३।१।१'** (पञ्चमाध्याया-पर्यन्त), **'परश्च ३।१।२'** (पञ्चमाध्यायापर्यन्त), तथा **'धातोः ३।१।९१'** (तृतीयाध्यायापर्यन्त) ये तीनों अधिकार सूत्र आते हैं।

(७) निषेधसूत्र—

'पूर्वसूत्रकार्य-निषेधक-सूत्रं निषेधसूत्रम्'। जो पूर्व सूत्र के कार्यं को रोकता है उसे निषेध सूत्र कहते हैं। जैसे—**'न विभक्तौ तुस्माः १।३।४'** इत्यादि।

(८) उपविधिसूत्र—

'विधिसूत्रसहायकसूत्रमुपविधिसूत्रम्'। जो विधि सूत्र में सहायता करते हैं उसे उपविधि सूत्र कहते हैं। जैसे—**'यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०'**। यह सूत्र **'एचोऽयवायावः ६।१।७८'** इस विधि सूत्र के विधान में क्रमशः होनेका विधान करता है।

इस प्रकार से आठ प्रकार के सूत्र मानते हैं, किन्तु इसका विधिसूत्र में अन्तर्भाव होने के कारण वैयाकरण लोग छः प्रकार के सूत्र मानते हैं। निषेध सूत्रों को कम से कम अलग करने सात प्रकार के सूत्र मानना चाहिए, ऐसा ही मत समीचीन लगता है।

सूत्रभेदों के लक्षण, उदाहरण और व्याप्तिसीमा ऊपर जा चुकी है।

इन सभी सूत्रों का अन्वय करके अर्थ कर लेते हैं—जैसे—**वर्त्तमाने धातोः परः लट् प्रत्ययः** (भवति)। हिन्दी-अर्थ विभक्ति के अनुसार करें। जैसे—वर्तमान (काल) में धातु से परे लट् प्रत्यय होता है।

अनुवृत्ति—जिस सूत्र का अर्थ हो रहा है, उसमें स्थित पदों से यदि अर्थ पूरा नहीं हो पाता है, तो पूर्वसूत्र (ऊपर के सूत्र) से अनुवृत्ति लाकर अर्थ पूर्ण किया जाता है—

(क) सूत्र में जिन विभक्तिवाले पद होते हैं पूर्वसूत्रसे उन विभक्तिवाले पद अनुवृत्ति से नहीं आते हैं। अर्थात् समान-विभक्तिक पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। जैसे **'क्ङिति च १।१।५'** = पदच्छेद—**'क्ङिति ७।१। च अव्ययपद**। इस सूत्रों के पदों से अर्थ पूरा न हो पाने के कारण पूर्वसूत्र **'न धातुलोप आध-धातुके।१।१।४'** से 'न' तथा

'इको गुणवृद्धी १।१।३' से 'इको गुणवृद्धी' ये पद आ जाते हैं। तब अन्वय करके अर्थ बनता है—क्ङिति च इको गुणवृद्धी न (भवतः)। यहाँ पर 'क्ङिति च १।१।५' इस सूत्र में 'क्ङिति' सप्तम्यन्त पद है। अतः 'धातुलोप आर्धधातुके' ये पद भी सप्तम्यन्त होनेके कारण इनकी अनुवृत्ति नहीं आती है।

(ख) सूत्र में स्थित पदों से यदि अर्थ पूरा नहीं होता है तो ऊपर के सूत्रों से समान विभक्तिवाले पदों की भी अनुवृत्ति तब होती है, जब अनुवृत्ति में आने वाले पद विशेषण या विधेय हों। जैसे—'हलन्त्यम् १।३।३' = पदच्छेद—हल् १।१। अन्त्यम् १।१। इस सूत्र में 'उपदेशेऽजंनुनासिक इत् १।३।२' से 'उपदेशे' और 'इत्' ये दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है। तब अन्वय करके सूत्रार्थ करते हैं—उपदेशे अन्त्यं हल् इत् (भवति)। विभक्ति के अनुसार हिन्दी में अर्थ होगा—उपदेश में अन्त्य हल् इत् होता है। यहाँ पर 'हलन्त्यम् १।३।३' इस सूत्र में 'हल्' विशेष्य तथा 'अन्त्यम्' विशेषण, ये दोनों प्रथमान्त उद्देश्य पद हैं। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२' इस सूत्र में उपदेशे 'सप्तम्यन्त', 'अच्' और 'अनुनासिकः' ये दोनों क्रमशः विशेष्य तथा विशेषण वाले प्रथमान्त पद है। 'इत्' विधेय प्रथमान्त पद है। 'हलन्त्यम् १।३।३' इसमें 'अच्' और 'अनुनासिकः' दोनों प्रथमान्त पद होने के कारण इन दोनों की अनुवृत्ति नहीं आती। 'इत्' प्रथमान्त समान विभक्तिक होता हुआ भी विधेय पद होने के कारण अनुवृत्ति में आ जाता है। 'उपदेशे' यह सप्तम्यन्त पद तो साधारण नियम (क) के अनुसार असमान विभक्तिक होनेसे अनुवृत्ति में आ जाता है। इस नियम का ज्ञान सूत्रार्थ करने में आवश्यक है।

(४) 'षष्ठी स्थाने योगा १।१।४९' यह सूत्र कहता है कि जहाँ पर सम्बन्ध विशेष की षष्ठी विभक्ति होती है वहाँ पर षष्ठी के आगे 'स्थाने' इस पद को लगाकर अर्थ करें। जैसे—'इको यणचि ६।१।७७' = पदच्छेद—इकः ६।१। यण् १।१। अचि ७।१। इस सूत्र में 'संहितायाम् ६।१।७२' इससे 'संहितायाम्' यह पद अनुवृत्ति में आ जाता है। अब अन्वय-करके अर्थ करते हैं—इकः स्थाने यण् (भवति) अचि (परे) संहितायाम्। यहाँ

पर 'इकः' यह षष्ठ्यन्तपद किसी सम्बन्ध—विशेष में षष्ठी नहीं है। अतः इसके आगे 'स्थाने' इस पद को बैठाकर 'इकः स्थाने' इस प्रकार अर्थं करते हैं। 'परे', 'विषये' तथा 'निमित्ते' ये पद तो हिन्दी में सप्तमी-विभक्ति के ही अर्थ हैं। 'संहितायाम्' के साथ 'विषये' इस पद को लगा सकते हैं।

(५) **'येन विधिस्तदन्तस्य १।१।७२'** यह सूत्र कहता है कि सप्तमी विभक्ति को छोड़ कर अन्य विभक्ति वाले विशेषणों में 'अन्त' शब्द लगा कर अर्थ करें। जिस विभक्ति के विशेषण में 'अन्त' लगता है, 'अन्त' शब्द उसी विभक्ति वाला बन जाता है। इसी प्रकार **'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे'** यह परिभाषा कहती है कि केवल सप्तमी विभक्तिवाले विशेषण में 'आदि' शब्द लगाकर अर्थं करें। सप्तमी विभक्ति वाले विशेषण में लगने से 'आदि' शब्द सप्तमी विभक्ति वाला वन जाता है। जैसे—**'सुपि च ७।३।१०२'** = पदच्छेद—सुपि ७।१ च अव्यय पद। इस सूत्र में **'अङ्गस्य ६।४।१'** का अधिकार आता है और **'अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१'** यह सूत्र अनुवृत्ति में पूरा आ जाता है। अब अन्वय करके लगता है—अतः अङ्गस्य दीर्घो यञि सुपि। यहाँ पर 'अङ्गस्य' का 'अन्त' षष्ठी विभक्ति वाला विशेषण है। इसलिए 'अतः' में 'अन्त' लगाकर स्वविभक्ति के अनुसार 'अदन्तस्य' ऐसा बना लेते हैं। इसी प्रकार 'सुपि' का 'यञि सप्तमी विभक्ति वाला विशेषण है। इसलिए 'यञि' में 'आदि' पद लगा-कर स्वविभक्ति के अनुसार 'यञादौ' ऐसा हो बना लेते हैं। अब अर्थं इस प्रकार होता है—अदन्तस्य अङ्गस्य दीर्घो (भवति) यञादौ सुपि (परे)।

(६) **'इको गुणवृद्धी १।१।३'** यह सूत्र कहता है कि जहाँ 'गुण' व 'वृद्धि' सूत्र में हो या अनुवृत्ति में ऊपर के सूत्र से आकर अर्थ कराते हों वहाँ 'इकः' यह षष्ठ्यन्तपद आकर अर्थ कराता है। जैसे—**'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।३।१'** = पदच्छेद—सिचि ७।१। वृद्धिः १।१। परस्मैपदेषु ७।३। इस सूत्र में ऊपर से **'अङ्गस्य' ६।४।१'** का अधिकार आता है। सूत्र में 'वृद्धिः' पद रहने के कारण 'इकः' यह षष्ठ्यन्तपद आकर लग जाता है। 'अङ्गस्य' का 'इकः' विशेषण होने से इसमें 'अन्त' पद लग जाता है। अब सबको मिला के अन्वय कर के अर्थं करते हैं—इगन्तस्य अङ्गस्य वृद्धिः (भवति) सिचि परस्मैपदेषु।

इसी प्रकार 'सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७।३।८४' = पदच्छेद—सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७।२। इसमें ऊपर से 'अङ्गस्य ६।४।१' का अधिकार आता है तथा 'मिदेर्गुणः ७।३।८२' से 'गुणः' आता है। 'गुणः' इस पद के आने के कारण 'इकः' यह षष्ठ्यन्तपद आकार उपस्थित होता है। 'अङ्गस्य' का इकः विशेषण होने से इसमें 'अन्त' पद लग जाता है। अब सब को मिला कर अन्वय करके अर्थ करते हैं—इगन्तस्य अङ्गस्य गुणः (भवति) सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः (परयोः)।

(७) 'अचश्च १।२।२८' यह सूत्र ('ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः १।२।२७' से 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' यह पद अनुवृत्ति के रूप में 'अचश्च १।२।२८' सूत्र में आता है। कहता है कि जहाँ 'ह्रस्व', 'दीर्घ' या 'प्लुत' सूत्र में हों अथवा ऊपर से अनुवृत्ति के रूप में आए हुए हों वहाँ 'अचः' यह षष्ठ्यन्तपद आकर उपस्थित हो जाता है। जैसे—'ह्रस्वः ७।४।५९' = पदच्छेद—ह्रस्वः १।१। इसमें ऊपर के सूत्र 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७/४/५८' से 'अभ्यासस्य' अनुवृत्ति में आता है। सूत्र में 'ह्रस्वः' यह पद होने से 'अचः' यह षष्ठ्यन्तपद आकर यहाँ पर लग कर अर्थ कराता है—अभ्यासस्य अचः ह्रस्वः (भवति)।

इसी प्रकार दीर्घ के लिए 'नामि ६।४।३' = पदच्छेद—नामि ७।१। इस सूत्र में ऊपर से 'अङ्गस्य ६।४।१' का अधिकार आता है तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११' से 'दीर्घ' शब्द के आने से यहाँ पर 'अचः' यह षष्ठ्यन्तपद आकर लग जाता है। 'अङ्गस्य' का 'अचः' विशेषण होने से इसमें 'अन्त' पद लग जाता है। अब अर्थ इस प्रकार बनता है—अजन्तस्य अङ्गस्य दीर्घः (भवति) नामि (परे) (= षष्ठी—बहुवचन के 'नाम्' विभक्ति के परे रहने पर)।

प्लुत के उदाहरण के लिए भी 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ८।२।८२', यह एक अधिकार सूत्र है। इसमें 'प्लुतः' शब्द के कारण 'अचः' यह षष्ठ्यन्त पद आकर लग जाता है। तब अर्थ इस प्रकार बनता है—वाक्यस्य टेः अचः प्लुतः (भवति स च) उदात्तः। आवश्यकता पड़ने पर अर्थ स्पष्टता के लिए 'च' 'तद्' शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं पर कर लेते हैं।

अब आपके लिए कुछ निर्णायक-सूत्रों का विवेचन किया जा रहा है। इन्हें भलीभांति समझ लेना आवश्यक है।

निर्णायक सूत्रों का विवेचन—

'विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२' यह सूत्र बताता है कि जहाँ पर तुल्य-बल (समानबल) वाले सूत्रों की प्रवृत्ति उपस्थित होती है, वहाँ पर अष्टाध्यायी के क्रम में बाद सूत्र वलशाली होता है तथा उसी के नियमानुसार कार्य होता है। यह क्रम सवा सात अध्याय तक चलता है। इसके साथ-साथ 'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' (परिभाषा) के अनुसार परादि अपवादों में पर से नित्य बली, नित्य से अन्तरङ्ग बली तथा पर, नित्य और अन्तरङ्ग से अपवाद बली होता है। नित्यः कृताकृतप्रसङ्गी विधिः। अन्तरङ्गम् = अल्पापेक्षकम्। बरिङ्गम् = बह्वपेक्षकम्। अपवादः = निरवकाशो विधि नियमः = प्राप्तौ सत्यां विधिः स्यात्।

इसी प्रकार 'पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१' यह सूत्र तथा अधिकार की हैसियत से दो प्रकार की बातों का निर्देशन करता है। यहाँ पारिभाषिक तथा आधिकारिक दोनों अवस्थाओं में इसके कार्यों को समझना चाहिए।

(क) पारिभाषिक अवस्था—

'पूर्वत्रासिद्धम् ८।२१' परिभाषा की हैसियत से आठवें अध्याय, दूसरे पाद का पहला सूत्र होने से अर्थ होगा—अध्याय अष्टम प्रथम पाद (प्रथमाध्यायसे लेकर अष्टमाध्याय के प्रथमपादान्त तक) के सूत्रों में त्रिपादी अष्टमाध्याय के द्वितीय पाद से लेकर चतुर्थपादान्त तक) के सूत्र असिद्ध हैं। अर्थात् उदाहरण जैसे—'धातुलोपे + आर्धधातुके' यहाँपर 'एचोऽयवायावः ६।१।७८' से 'ए' का 'अय्' होने से 'धातुलोप + आर्धधातुके' ऐसा ही वन गया। अब 'लोपः शाकल्यस्य ८।१।१९' से 'य्' का लोप हो जानेसे 'धातुलोप + आर्धधातुके' ऐसा प्रयोग बन गया है। इस अवस्थामें जब 'अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१' आकर दीर्घादेश करने चलता है तब 'पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१' यह निर्णायक सूत्र पारिभाषिक बनकर उसे से कहता है कि तुम्हारी दृष्टि से यह 'य्' का लोप कार्य असिद्ध है, अर्थात् 'य्' का लोप नहीं हुआ है, 'य्' वहाँ पर विद्यमान है। इसलिए 'अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१' की प्रवृत्ति वहाँ पर नहीं होती है। तब 'धातुलोप आर्द्धधातु' के ऐसा हो रूप वना। अब आधिकारिक अवस्था के कार्यों को देखें।

(ख) आधिकारिक अवस्था—

'पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१' यह अधिकार की हैसियत से आठवें अध्याय, दूसरे पाद का पहला सूत्र बनकर कहता है कि त्रिपादी के सूत्रों में भी पूर्व के सूत्रों को दृष्टि से पर के सूत्र असिद्ध हैं। उदाहरण जैसे—'सत् + चित्' यहाँ पर 'स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०' जब श्चुत्व करने चलता है तब 'झलां जशोऽन्ते ८।२।१९' ने असिद्ध करा कर 'त्' को 'द्' कर दिया। तब 'स्तोः श्चुना श्चुः ८।१।४०' से 'द्' को 'ज्' हो गया। सबके बाद में आकर 'खरि च ८।४।५५' सूत्र ने 'ज्' का 'च्' कर दिया। तब 'सच्चित्' ऐसा ही रूप बना।

इस प्रकार सभी नियमों को जान कर सूत्रार्थ स्वयं करते हुए व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करें।

माहेश्वरसूत्र—

१–अइउण्। २–ऋऌक्। ३–एओङ्। ४–ऐऔच्। ५–हयवरट्। ६–लण्। ७–ञमङणनम्। ८–झभञ्। ९–घढधष्। १०–जबगडदश्। ११–खफछठथचटतव्। १२–कपय्। १३–शषसर्। १४–हल्।

प्रत्याहाराक्षर—

१–अइउऋऌ। २–एओ ऐऔ। ३–हयवरल। ४–ञमङणन। ५– झभघढध। ६–जबगडद। ७–खफछठथ। ८–चटतकप। ९–शषसह।

प्रत्याहार—

प्रत्याहार—प्रत्याह्रियन्ते (संक्षिप्यन्ते) वर्णा यत्र स प्रत्याहारः। जो संक्षिप्तरूप होकर अनेक वर्णों का बोध करा दे उसे प्रत्याहार कहते हैं। किसी भी सूत्र के आदि या मध्य अक्षर को बैठाकर इसी सूत्र या आगे के सूत्रों में आए हुए हल् निःस्वर व्यञ्जन को साथ बैठाने पर जो शब्द बनता है उसे प्रत्याहार कहते हैं। उस प्रत्याहार के आदि अक्षर और साथ में बैठे हुए अक्षर के बीच में जितने अक्षर आएंगे वे सब उसी प्रत्याहार के अक्षर माने जाते हैं। ध्यान रहे कि प्रत्याहार में अन्तिम हल् का ग्रहण नहीं होता है। जैसे—'अइउण्' सूत्र में प्रत्याहार बनता है 'अण्'। 'अण्'

कहने से 'अइउ' इन तीनों अक्षरों का बोध तो होता है, पर 'ण्' का नहीं। इसी प्रकार 'अक्' कहने से 'अइउऋऌ' इन पाँचों अक्षरों का ही बोध होता है। प्रत्याहार के निर्माण की विधि संक्षेपतः यहाँ है। विस्तार के लिए दर्शनकेशरी जी की अष्टाध्यायी देखें।

चय् (वार्तिक—चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः ८।४।४८)। [सिद्धान्तकौमुदी में—'ङ्णोः कुक्टुक्शरि ८।३।२८ के अन्तर्गत] **ञम्** (उणादिसूत्र० ञमन्ताड्डः १।१।११)। 'र' प्रत्याहार = हयवरट् ५वाँ सूत्र के 'र' से लण् ६वाँ सूत्र के 'ल' में रहने वाले 'अ' तक दोनों र् + अ मिल कर 'र' प्रत्याहार बनता है। यहाँ एक विशेष नियम यह है कि **'उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२'** इस सूत्र से उपदेश (धातुसूत्रगणोणादि-वाक्यलिङ्गानुशासनम्। आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥) अवस्था में स्थित अनुनासिक (एकाजुर्णुञदन्ताः ये दीधी-वेव्योश्च जीर्यतेः। जागर्तेश्च द्वरिद्रातेर्नानुनासः प्रयुज्यते॥) अच् की इत् संज्ञा होती है। इस सूत्र से 'ल' का 'अ' भी इत्-संज्ञक माना गया है। ऐसे तो 'ह' आदि अक्षरों के साथ जो (ह् + अ = ह) अकार है यह तो केवल उच्चारण के लिए है। इस प्रकार से 'र' प्रत्याहार बन जाता है। 'र्' (उरण् रपरः १।१।५१)। 'र' प्रत्याहारिक के ही समान 'थ' में रहनेवाले अकार को इत् मानकर **'ख'** (खफछठथ) प्रत्याहार बनता है। यह प्रत्याहार महाप्राण संग्रह के लिए है। इसके साथ-साथ स्पर्श वर्ण तथा स्पृष्ट प्रयत्न ग्रहण के लिए **'ञय्'** प्रत्याहार का ग्रहण किया गया है। वैसे तो प्रत्याहार बहुत बनते हैं। लेकिन आवश्यकता के अनुसार उपरोक्त (सब मिलकर) ४६ प्रत्याहारों का ग्रहण हुआ है। प्रत्याहार बनाने के लिए निम्नलिखित सूत्र हैं—**(१) उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२। (२) हलन्त्यम् १।३।३। (३) स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा १।१।६८। (४) आदिरन्त्येन सहेता १।१।७।**

पदज्ञान—सम्बन्ध तथा सम्बोधन ये दोनों कारक नहीं माने जाते हैं। अतः कारक छः हैं और विभक्तियाँ आठ हैं। उपरोक्त सारी विभक्तियाँ प्रातिपदिक के आगे लगती हैं। पाणिनि के सूत्र **'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५** तथा **'कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६'** के अनुसार जो धातु, प्रत्यय तथा प्रत्ययान्त से भिन्न हो लेकिन उसका कुछ न कुछ अर्थ हो ऐसे शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। **'कृत्'** प्रत्ययान्त तथा तद्धित प्रत्ययान्त एवं समस्त शब्द को भी प्रातिपदिक कहते हैं।

उपसर्ग-निपात—

पहले में बताया गया है कि उपसर्ग तथा निपात—ये भी सुबन्त के ही भेद हैं। संस्कृत में अव्यय निपात को कहते हैं। अव्यय वे हैं जो सभी लिङ्ग-वचन-विभक्तियों में एकरूप रहते हैं। इनमें किसी लिङ्ग, वचन तथा विभक्तियों के कारण परिवर्तन नहीं होता है। इनके लिए निम्नलिखित लक्षण श्लोक है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

उपसर्ग तथा गति संज्ञक शब्दों को भी अव्यय कहते हैं।

उपसर्ग धातु के पूर्व लगते हैं। कभी-कभी ये धातु के मूल अर्थ में परिवर्तन कर देते हैं तथा कभी-कभी समर्थन भी कर देते हैं। इतना ही नहीं बल्कि यदा-कदा धातु को विशिष्टार्थक भी बना देते हैं। इनके लिए है—

धातवश्चोपसर्गाश्च निपाताश्चेति ते त्रयः।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्॥
धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा॥

और भी—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार-संहार-विहार — परिहारवत्॥

उपर्युक्त श्लोक में 'हृ' धातु के प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया गया है। एक ही 'हृ' हरणार्थक धातु प्रादि उपसर्गों के योग से प्रहार, आहार, संहार, विहार आदि विभिन्नार्थक बन गया है।

तिङन्त—

महर्षि पाणिनि ने 'धातुपाठ' नामका एक परिशिष्ट लिखा है। इसमें 'भू' आदि लगभग दो हजार धातुओंका संकलन किया है। उनका भी सुविधा की दृष्टि से दश गणों में विभाग किया गया है। जैसे—

भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिर्दिवादिः स्वादिरेव च।
तुदादिश्च रुधादिश्च तनादिक्रीचुरादयः॥

भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि तथा चुरादि—ये दशगण हैं। इनमें कुछ प्रत्ययान्त धातु भी हैं। ये निम्न बारह प्रत्ययोंसे युक्त होते हैं।

सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यषोऽथाचारक्विब्णिज्यङौ तथा।
यगायेयङ्णिङश्चेति द्वादशामी सनादयः॥

लकार दश होते हैं। अर्थ के अनुसार इनका विभाजन हुआ है। इन्हें शिव-सूत्र के अनुसार जानने का उपाय यह है कि 'लट्' इसमें 'ल' में अ जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार क्रमशः इ, उ, ऋ, ए तथा ओ जोड़कर लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्—इन छह लकारों को बना लें। उसके बाद 'लङ्' आदि में भी अ की तरह इ, उ तथा ऋ जोड़कर लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् इन चार लकारों को बना लें। इन दश लकारों में से लट् आदि छह लकार टित् हैं तथा लङ् आदि चार लकार ङित् हैं। दश लकारों में से एक लकार लेट् का वेद में ही प्रयोग होता है और अवशिष्ट नौ लकारों का लोक में (व्यवहार में) प्रयोग होता है। दो तरह के अर्थ के कारण लिङ् लकार के दो भेद होते हैं। (१) विधिलिङ्—विधि सम्भावना आदि अर्थ में तथा (२) आशीर्लिङ्—आशीर्वाद अर्थ में। एक लकार के पुनः बढ़ जाने से लोक में दश लकारों के प्रयोग मिलते हैं। लोट् लकार विधि आदि लिङ् लकार के अर्थवाला होने पर भी इसे आदेश के अर्थ में ही प्रयोग करते हैं और आशीर्वाद के अर्थ में 'तात्' प्रत्यय का प्रयोग करतेहैं।

अर्थ के अनुसार लकारोंका निर्णय पाणिनि जी ने—वर्तमाने लट् ३।२।१२३, परोक्षे लिट् ३।२।११५, अनद्यतने लुट् ३।३।१५, लृट् शेषे च ३।३।१३, लिङर्थे लेट् ३।४।७, लोट् च ३।३।१६२, अनद्यतने लङ् ३।२।१११, आशिषि लिङ्लोटौ ३।३।१७३, लङ् ३।२।११०, लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९, इन सूत्रों से निर्देश किया गया है।

संस्कृतमें पुरुष तीन होते हैं। (१) प्रथम पुरुष, (२) मध्यमपुरुष तथा (३) उत्तमपुरुष। वचन भी तीन होते हैं। (१) एकवचन, (२) द्विवचन तथा (३) बहुवचन।

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	वह	वे दोनों	वे लोग
मध्यमपुरुष	तुम	तुम दोनों	तुम लोग
उत्तमपुरुष	मैं	हम दोनों	हम लोग

इसे ध्यान में रखने से संस्कृत की वाक्य-रचना अत्यंत सुगम होगी।

सभी धातुओं से 'कर्तरि शप्' विकरण होता है। लेकिन गणों के अनुसार इसे सीमितकर पाणिनि के अनुसार निम्नलिखित विकरण होते हैं—

'भ्वादिभ्यः शप्' ('भू' आदिगणके धातुओं से केवल 'शप्' (अ) विकरण होता है), 'अदादिभ्यः शपः लुक्' ('अद्' आदि गण के धातुओं से शप् का लुक् हो जाता है), 'जुहोत्यादिभ्यः शपः श्लुः' ('हु' आदिगण के धातुओं से शप् का श्लु होता है। श्लु होने से धातु का द्वित्व आदि कार्य होता है, तभी तो यहाँ पर 'हु' का द्वित्वादि कार्य होकर 'जुहोति' बना है।), दिवादिभ्यः श्यन्' (दिव आदि गण के धातुओं से 'श्यन्' (य) विकरण होता है), 'स्वादिभ्यः श्नुः ('सुञ्' आदि गण के धातुओं से 'श्नु' (नु) विकरण होता है), 'तुदादिभ्यः शः' ('तुद' आदिगण के धातुओं से 'श' (अ) विकरण होता है), 'रुधादिभ्यः श्नम्' ('रुध' आदिगण के धातुओं में 'श्नम्' (न) विकरण होता है)। तनादिकृञ्भ्यः उः' ('तन' आदिगण के धातुओं से 'उ' विकरण होता है), 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (डुक्रीञ्' आदि गण के धातुओं से 'श्ना' (ना) विकरण होता है)। चुरादिभ्यः णिच्' तत्पश्चात् 'शप्' ('चुर' आदिगण के धातुओं से 'णिच्' (इ = अय्) विकरण होकर उसके बाद 'शप् (अ) विकरण पुनः होता है)।

प्रत्ययों में भी दो भेद होते हैं। (१) सार्वधातुक प्रत्यय हैं = धातु से विधान किए गए तिङ् (तिप्, तस् झि इत्यादि अठारह प्रत्यय) तथा शित् (शप्, श्यन्, श, शतृ, शानच्, श्ना तथा खश् आदि) प्रत्यय। (२) आर्धधातुक प्रत्यय हैं = तिङ् तथा शित् इन प्रत्ययों को छोड़ कर धातु से विहित प्रत्यय। इनमें छह लकार आर्धधातुक है। जैसे—लुट् में तास्, लृट् तथा लृङ् मे स्य, लुङ् में च्लि, तृच् इत्यादि कृत्प्रत्यय, लिट्, तथा आशीर्लिङ्। पाणिनि ने 'तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३' तथा 'आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४' इन सूत्रों से सार्वधातुक तथा आर्धधातुक का निर्देश किया है।

सार्वधातुक-प्रत्यय—

सार्वधातुक लकार चार है—लट्, लङ्, लोट् और विधिलिङ्। इनमें गणभेद के कारण विकरणभेद होता है। सार्वधातुक लकारों में विकरण-

भेद से चार गणी (भ्वादि, दिवादि, तुदादि तथा चुरादि) तथा छह गणी (अदादि, जुहोत्यादि, स्वादि, रुधादि, तनादि तथा क्र्यादि) के नाम से दो भेद होते हैं। चार गण अदन्त विकरण वाले हैं—भ्वादि, दिवादि, तुदादि तथा चुरादि गणों के प्रत्ययों को निम्नलिखित प्रकार से कण्ठस्थ करना चाहिए।

(वर्तमान) लट्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	ए. व. १	द्विव. २	बहु. व. ३		ए. व. १	द्विव. २	बहु. व. ३
प्र. पु. १	ति	तः	अन्ति	१	ते	इते	अन्ते
म. पु. २	सि	थः	थ	२	से	इथे	ध्वे
उ. पु. ३	मि	वः	मः	३	ए	वहे	महे

(अनद्यतनभूत) लङ्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	त्	ताम्	अन्	१	ते	इताम्	अन्त
२	स्	तम्	त	२	थाः	इथाम्	ध्वम्
३	अम्	व	म	३	इ	वहि	महि

(आज्ञा) लोट्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	तु, तात्	ताम्	अन्तु	१	ताम्	इताम्	अन्ताम्
२	हि, तात्	तम्	त	२	स्व	इथाम्	ध्वम्
३	आनि	आव	आम	३	ऐ	आवहै	आमहै

(विधि) विधिलिङ्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	इत्	इताम्	इयुः	१	ईत	ईयाताम्	ईरन्
२	इ	इतम्	इत	२	ईथाः	ईयाथाम्	ईध्वम्
३	इयम्	इव	इम	३	ईय	ईवहि	ईमहि

ये तो हुए चार गणों के सार्वधातुक में चार लकारों के रूप। अब छह गणों के अदादि, जुहोत्यादि, स्वादि, रूधादि, तनादि तथा क्र्यादि गणों के सार्वधातुक में चार लकारों के प्रत्ययों को कण्ठस्थ करना चाहिए।

लट्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	पूर्वोक्त प्रत्यय होंगे			१	ते	आते	अते
२	×	×	×	२	से	आथे	ध्वे
३	×	×	×	३	ए	वहे	महे

लङ्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	×	×	×	१	त	आताम्	अत
२	×	×	×	२	थाः	आथाम्	ध्वम्
३	×	×	×	३	इ	वहि	महि

लोट्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	×	×	×	१	ताम्	आताम्	अताम्
२	×	×	×	२	स्व	आथाम्	ध्वम्
३	×	×	×	३	ऐ	आवहै	आमहै

विधिलिङ्लकार

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	१	२	३		१	२	३
१	यात्	याताम्	युः	१	×	×	×
२	याः	यातम्	यात	२	×	×	×
३	याम्	याव	याम	३	×	×	×

उपर्युक्त प्रत्यय सार्वधातुक में छहगणों के धातुओं से होते हैं। इनको कण्ठस्थ कर लें। आगे की पंक्तियों में अब आप के लिए आर्धधातुक-प्रत्ययों को बतलाया जा रहा है।

आर्धधातुक-प्रत्यय—

पहले बताया गया है कि आर्धधातुक-प्रत्यय के अनुसार लृट्, लृङ्, लुट्, लुङ्, लिट् तथा आशीर्लिङ् ये छह आर्धधातुक लकार होते हैं। इसमें कोई गणभेद नहीं है, 'शप्' आदि विकरण-भेद भी नहीं होते हैं। अतः दशगणों के प्रत्यय एक समान होते हैं। आर्धधातुक में धातु-भेद सर्वाधिक महत्त्व का विषय है। धातुओं के तीन भेद होते हैं—सेट्; (धातु के साथ 'इट्' = होना), अनिट् (धातु के साथ 'इट्' = न होना) तथा वेट् (धातु के साथ 'इट्' = विकल्प से होना)। सभी अजन्त धातु अनिट् होते हैं, कुछ नीचे कारिका में गिनाए गए सेट् धातुओं को छोड़कर। जैसे—

अनिट् स्वरान्तो भवतीति दृश्यतामिमांस्तु सेटः प्रवदन्ति तद्विदः।
अदन्तमृदन्तमृतां च वृङ्वृञौश्विडीङिवर्णेष्वथ शीङ्श्रिञावपि ॥१॥
गणस्थमूदन्तमुतां च रुस्नुवौ क्षुवन्नथोर्णोतिमथो युणुक्ष्णवः।
इति स्वरान्तो निपुणं समुच्चितास्ततो हलन्तानपि सन्निबोधत ॥२॥

उपर्युक्त गिनाए गए अजन्त धातु सेट् होते हैं। सामान्यतः अजन्त धातु अनिट् ही होते हैं। इसी प्रकार सभी हलन्त धातु सेट् होते हैं। केवल कारिका में नीचे गिनाए गए धातु अनिट् होते हैं। जैसे—

शकिस्तु कान्तेष्वनिडेक इष्यते घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारणी।
रभिस्तु भान्तेष्वथ मैथुने यभिस्ततस्तृतीयो लभिरेव नेतरे ॥१॥
यमिर्यमन्तेष्वनिडेक इष्यते रमिश्च यश्च श्यनि पठ्यते मनिः।
नमिश्चतुर्थो हनिरेव पञ्चमो गमिश्च षष्ठः प्रतिषेधवाचिनाम् ॥२॥
दिहिर्दुहिर्मेहतिरोहती वहिर्नहिस्तु षष्ठो दहतिस्तथा लिहिः।
इमेऽनिटोऽष्टाविह मुक्तसंशया गणेषु हान्ताः प्रविभज्य कीर्त्तिताः ॥३॥
दिशिं दृशिं दंशिमथो मृशिं स्पृशिं रिशिं रुशिं क्रोशतिमष्टमं विशिम्।
लिशिं च शान्ताननिटः पुराणगाः पठन्ति पाठेषु दशैव नेतरान् ॥४॥
रुधिः सराधिर्युधिबन्धिसाधयः क्रुधिक्षुधी शुध्यतिबुध्यती व्यधिः।
इमे तु धान्ता दश येऽनिटो मतास्ततः परं सिद्ध्यतिरेव नेतरे ॥५॥
शिषिं पिषिं शुष्यति पुष्यती त्विषिं विषिं श्लिषिं तुष्यति दुष्यती द्विषिम्।
इमान् दशैवोपदिशन्त्यनिड्विधौ गणेषु षान्तान् कृषिकर्षती तथा ॥६॥

तपिं तिपिं चापिमथो वपिं स्वपिं लिपिं लुपिं तृप्यतिदृप्यती सृपिम् ।
स्वरेण नीचेन शपिं छुपिं क्षिपिं प्रतीहि पान्तान् पठितांस्त्रयोदश ॥७॥

अदिं हृदिं स्कन्दिभिदिच्छिदिक्षुदोन् शदिं सदिं स्विद्यतिपद्यती खिदिम् ।
तुदिं नुदिं विद्यति विन्त इत्यपि प्रतीहि दान्तान् दश पञ्च चानिटः ॥८॥

पचिं वचिं विचिरिचिरञ्जिपृच्छतीन्
निचिं सिचिं मुचिभजिभञ्जिभृज्जतीन् ।
त्यजिं यजिं युजिरुचिसञ्जिमज्जतीन्
भुजिं स्वजिं सृजि मृजो विध्यनिट् स्वरान् ॥

उपरोक्त कारिकाओंसे सेट् तथा अनिट् का ज्ञान कर लें। वेट् के लिए कुछ विशेष सूत्र है। जहाँ-जहाँ विकल्प से 'इट्' होता है वहाँ-वहाँ सेट या अनिट्—धातु वही होते हैं। वेट् के लिए अलग से कोई धातु नहीं है। सेट् तथा अनिट् के लिए काशिका के उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०' सूत्रमें स्थित कारिकाओंको कण्ठस्थ कर लें। इसके साथ ही दशगणों के आर्धधातुक-प्रत्ययोंको कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

सन्धिप्रकरणम्

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहिता[1]। दो वर्णोंके अत्यन्त समीप होनेके कारण कुछरूपान्तरित होकर परस्पर मिल जाने को सन्धि कहते हैं। वहीं सन्धि किए गए पदों को अलग अलग कर पूर्वस्वरूप में रख देने को सन्धि-विच्छेद कहते हैं। सन्धि मुख्यतः तीन प्रकार की है। (१) स्वर-सन्धि (२) व्यञ्जन-सन्धि तथा (३) विसर्ग-सन्धि। आगे इनका क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

स्वर (अच्) सन्धि

स्वर वर्णों के परस्पर मिलनको स्वर-सन्धि कहते हैं। जैसे—विद्या + आलय। इसे पाणिनि-व्याकरणमें अच् सन्धि कहते हैं। स्वर-सन्धि के मुख्यरूप से ५ भेद होते हैं। और मुख्य रूपसे इनके अपवाद भी दो हैं। जैसे—(१) दीर्घ (२) गुण (३) वृद्धि (४) यण् तथा (५) अयादि ये पाँच प्रकार

१. परः सन्निकर्षः संहिता (अ० सू०—१।४।१०९)—इस सूत्र के अनुसार संहिता की उपर्युक्त परिभाषा है, या संहिता पद का अर्थ है। यह सूत्र संहितां-संज्ञा-विधायक है।

प्रकार की सन्धियाँ हैं। इनके अपवादस्वरूप (६) पूर्वरूप तथा (७) प्रकृतिभाव ये दो सन्धियाँ हैं। श्लोक के माध्यम से सन्धिज्ञान करें।

(१) जिसका संक्षिप्त विवरण अंकानुसार निम्नवत् है—

अकोऽकि दीर्घसन्धिमाहुरादगुणो भवेदिकि,
त्ववर्ण एचि वृद्धिमेत्विको यणच्ययादयः।

स्युरेच एङ एत्यति प्रपूर्वता पदान्नगात्,
सदा द्वितीयमीत्वमूत्वमेत्वमेति नान्यताम् ॥ १ ॥

(१) अक् प्रत्याहार के बाद अक् प्रत्याहार हो तो क्रमशः दोनों मिला कर दीर्घ हो जाता हैं। (२) अवर्ण से इक् प्रत्याहार रहने पर गुण होता है। (३) अवर्ण से एच् प्रत्याहार परे रहने पर वृद्धि होतीं है। (४) इक् प्रत्याहार से अच् प्रत्याहार से परे रहने पर इक् की यण् सन्धि होती है। (५) एच् प्रत्याहार को अच् प्रत्याहार से परे रहने पर अयादि (अय्, अव्, आय्, आव्) सन्धि होती है। (६) पदान्त एङ् प्रत्याहार से अति (ह्रस्व अकार) परे हो तो दोनों मिलकर पूर्वकार हो जाता है। (७) द्विवचन ई ऊ ए परिवर्तित नहीं होते हैं। अर्थात् जैसे के तैसे रहते हैं। (इसे प्रकृतिभाव कहते हैं)। सन्धि-सूत्र आगे दिए जा रहे हैं।

१—**'अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१'** = अक् के बाद सवर्ण अक् हो तो दोनों मिल कर दीर्घ होते हैं। अर्थात् ह्रस्व या दीर्घ अक् (स्वर अ, इ, उ, ऋ, ऌ.) के बाद समान वर्णवाला ह्रस्व या दीर्घ अक् हो तो दोनों मिलकर दीर्घ होते हैं। **अक् + अक् = दीर्घ**। उदाहरण जैसे—वेद + अध्ययनम् = वेदाध्ययनम्। विद्यालयः। मुनीन्द्रः। कपीशः। गौरीन्दुः गौरीशः। साधूत्सवः। बाहूर्ध्वम्। चमूल्लासः। चमूर्मिः। पितॄणाम्। होतॄकारः इत्यादि।

२—**'आदगुणः ६।१।८७'** = अ या आ के बाद इक् हो तो गुण होता है। **'अदेङ् गुणः १।१।२'** 'अ, ए, तथा ओ को गुण कहते हैं। अ या आ के बाद ह्रस्व या दीर्घ इक् (इ, उ, ऋ, ऌ, हो तो दोनों मिलकर क्रमशः ए, ओ, अर्, अल् हो जाते हैं। **अ, आ + इक् = एङ् अर् अल्**। उदाहरण जैसे—रामेच्छा = राम + इच्छा। देवेशः। महेन्द्रः। रमेशः। सूर्योदय। चन्द्रोर्ध्वम्। महोत्सवः। लतोर्ध्वम्। देवर्षि। महर्षि। तवल्कारः। महल्कारः।

३—'वृद्धिरेचि ६।१।८८' अ या आ के बाद एच् प्रत्याहार हो तो वृद्धि होती है। 'वृद्धिरादैच् १।१।१' आ, ऐ, औ को वृद्धि कहते हैं। अ या आ के बाद एच् (ए, ओ, ऐ, औ) हो तो दोनों मिलकर ऐ, औ हो जाता है। अ या आ + एच् = ऐच्। उदाहरण जैसे—एक + एकम् = एकैकम्। सदैव। सूपौदनम्। लतैधते। महैश्वर्यम्। गङ्गौघः। कृष्णौत्सुक्यम्। महौदार्य्यम्।

४—'इको यणचि ६।१।७७' = इक् का यण् होता है अच् परे रहने पर। ह्रस्व या दीर्घ इक् (इ, उ, ऋ, लृ,) के बाद ह्रस्व या दीर्घ कोई भी असवर्ण अच् (स्वर) हो तो इक् का क्रमशः य्, व्, र्, ल् हो जाता है। इक् + अच् = यण् अच्। उदाहरण जैसे—यदि + अपि = यद्यपि। दधि + ऋणम् = दध्यृणम्। लक्ष्म्यौत्सुक्यात्। नन्वत्र। वध्वैश्वर्यम्। पित्रर्थः। ऌकारौ।

५—'एचोऽयवायावः ६।१।७८' = एच् के बाद अच् हो तो एच् (ए, ओ, ऐ, औ) का क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् होता है। यदि उसके आगे कोई भी स्वर हो। एच् + अच् = अयादि अच्। उदाहरण जैसे—ने + अनम् = नयनम्। भवनम्। नायकः। पावकः।

६—'एङः पदान्तादति ६।१।१०९' = पदान्त एङ् से अ परे हो तो अ एङ् में मिलकर पूर्व रूप हो जाता है। अर्थात् पदान्त ए, ओ के बाद यदि केवल ह्रस्व अ हो तो अ उसी ए, ओ में मिल जाता है तथा 'अ' का ऽ (अवग्रह अथवा खण्डकार अ) हो जाता है। पदान्त एङ् + ह्रस्व अ = एङ् ऽ। उदाहरण जैसे—रामे + अत्र = रामेऽत्र। भानोऽत्र।

७—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५' = प्लुत और प्रगृह्य अच् परे रहते सदा प्रकृतिभाव से होता है। 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११' = ईदन्त, अदन्त और एदन्त द्विवचन को प्रगृह्य कहते हैं। किसी धातु या शब्द के द्विवचन रूप यदि दीर्घ ई, ऊ, या ए अन्त वाले हो तो आगे स्वर रहने पर सन्धि नहीं होती है अर्थात् यथारूप ही बना रहेगा। द्विवचन ई, ऊ, ए + अच् = यथापूर्व द्विवचन ई अच्, द्विवचन ऊ अच्, द्विवचन ए अच्)। उदाहरण जैसे—कवी + इह = कवीइह। हरीआगतौ। भानूउदितौ। मालेआनय। पचेतेअम्।

प्रकार की सन्धियाँ हैं। इनके अपवादस्वरूप (६) पूर्वरूप तथा (७) प्रकृतिभाव ये दो सन्धियाँ हैं। श्लोक के माध्यम से सन्धिज्ञान करें।

(१) जिसका संक्षिप्त विवरण अंकानुसार निम्नवत् है—

अकोऽकि दीर्घसन्धिमाहुरादगुणो भवेदिकि,
त्ववर्ण एचि वृद्धिमेत्विको यणच्ययादयः।
स्युरेच एङ एत्यति प्रपूर्वता पदान्तगात्,
सदा द्वितीयमीत्वमूत्वमेत्वमेति नान्यताम् ॥ १ ॥

(१) अक् प्रत्याहार के बाद अक् प्रत्याहार हो तो क्रमशः दोनों मिला कर दीर्घ हो जाता हैं। (२) अवर्ण से इक् प्रत्याहार रहने पर गुण होता है। (३) अवर्ण से एच् प्रत्याहार परे रहने पर वृद्धि होती है। (४) इक् प्रत्याहार से अच् प्रत्याहार से परे रहने पर इक् की यण् सन्धि होती है। (५) एच् प्रत्याहार को अच् प्रत्याहार से परे रहने पर अयादि (अय्, अव्, आय्, आव्) सन्धि होती है। (६) पदान्त एङ् प्रत्याहार से अति (ह्रस्व अकार) परे हो तो दोनों मिलकर पूर्वकार हो जाता है। (७) द्विवचन ई ऊ ए परिवर्तित नहीं होते हैं। अर्थात् जैसे के तैसे रहते हैं। (इसे प्रकृतिभाव कहते हैं)। सन्धि-सूत्र आगे दिए जा रहे हैं।

१—**'अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१'** = अक् के बाद सवर्ण अक् हो तो दोनों मिल कर दीर्घ होते हैं। अर्थात् ह्रस्व या दीर्घ अक् (स्वर अ, इ, उ, ऋ, ऌ.) के बाद समान वर्णवाला ह्रस्व या दीर्घ अक् हो तो दोनों मिलकर दीर्घ होते हैं। **अक् + अक् = दीर्घ।** उदाहरण जैसे—वेद + अध्ययनम् = वेदाध्ययनम्। विद्यालयः। मुनीन्द्रः। कपीशः। गौरीन्दुः गौरीशः। साधूत्सवः। बाहूर्ध्वम्। चमूल्लासः। चमूर्मिः। पितॄणाम्। होतॄकारः इत्यादि।

२—**'आदगुणः ६।१।८७'** = अ या आ के बाद इक् हो तो गुण होता है। **'अदेङ् गुणः १।१।२'** 'अ, ए, तथा ओ को गुण कहते हैं। अ या आ के बाद ह्रस्व या दीर्घ इक् (इ, उ, ऋ, ऌ, हो तो दोनों मिलकर क्रमशः ए, ओ, अर्, अल् हो जाते हैं। **अ, आ + इक् = एङ्, अर्, अल्।** उदाहरण जैसे—रामेच्छा = राम + इच्छा। देवेशः। महेन्द्रः। रमेशः। सूर्योदय। चन्द्रोर्ध्वम्। महोत्सवः। लतोर्ध्वम्। देवर्षि। महर्षि। तवल्कारः। महल्कारः।

३—'**वृद्धिरेचि ६।१।८८**' अ या आ के बाद एच् प्रत्याहार हो तो वृद्धि होती है। '**वृद्धिरादैच् १।१।१**' आ, ऐ, औ को वृद्धि कहते हैं। अ या आ के बाद एच् (ए, ओ, ऐ, औ) हो तो दोनों मिलकर ऐ, औ हो जाता है। **अ या आ + एच् = ऐच्**। उदाहरण जैसे—एक + एकम् = एकैकम्। सदैव। सूपौदनम्। लतैधते। महैश्वर्यम्। गङ्गौघः। कृष्णौत्सुक्यम्। महौदार्य्यम्।

४—'**इको यणचि ६।१।७७**' = इक् का यण् होता है अच् परे रहने पर। ह्रस्व या दीर्घ इक् (इ, उ, ऋ, ऌ,) के बाद ह्रस्व या दीर्घ कोई भी असवर्ण अच् (स्वर) हो तो इक् का क्रमशः य्, व्, र्, ल् हो जाता है। **इक् + अच् = यण् अच्**। उदाहरण जैसे—यदि + अपि = यद्यपि। दधि + ऋणम् = दध्यृणम्। लक्ष्म्यौत्सुक्यात्। नन्वत्र। वध्वैश्वर्यम्। पित्रर्थः। लकारौ।

५—'**एचोऽयवायावः ६।१।७८**' = एच् के बाद अच् हो तो एच् (ए, ओ, ऐ, औ) का क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् होता है। यदि उसके आगे कोई भी स्वर हो। **एच् + अच् = अयादि अच्**। उदाहरण जैसे—ने + अनम् = नयनम्। भवनम्। नायकः। पावकः।

६—'**एङः पदान्तादति ६।१।१०९**' = पदान्त एङ् से अ परे हो तो अ एङ् में मिलकर पूर्व रूप हो जाता है। अर्थात् पदान्त ए, ओ के बाद यदि केवल ह्रस्व अ हो तो अ उसी ए, ओ में मिल जाता है तथा 'अ' का ऽ (अवग्रह अथवा खण्डकार अ) हो जाता है। **पदान्त एङ् + ह्रस्व अ = एङ् ऽ**। उदाहरण जैसे—रामे + अत्र = रामेऽत्र। भानोऽत्र।

७—'**प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५**' = प्लुत और प्रगृह्य अच् परे रहते सदा प्रकृतिभाव से होता है। '**ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११**' = ईदन्त, अदन्त और एदन्त द्विवचन को प्रगृह्य कहते हैं। किसी धातु या शब्द के द्विवचन रूप यदि दीर्घ ई, ऊ, या ए अन्त वाले हो तो आगे स्वर रहने पर सन्धि नहीं होती है अर्थात् यथारूप ही बना रहेगा। **द्विवचन ई, ऊ, ए + अच् = यथापूर्व द्विवचन ई अच्, द्विवचन ऊ अच्, द्विवचन ए अच्)**। उदाहरण जैसे—कवी + इह = कवीइह। हरीआगतौ। भानूउदितौ। मालेआनय। पचेतेअम्।

यह तो हुई अच् (स्वर) सन्धि। अब हल् (व्यञ्जन) सन्धि का विवेचन किया जा रहा है।

व्यञ्जन (हल्) सन्धि

व्यञ्जन वर्ण, स्वर वर्ण या स्वर-व्यञ्जन वर्णों के परस्पर मिलन को व्यञ्जन सन्धि कहते हैं। यथा-वाक् + ईशः = वागीशः। जगत् + लयः = जगल्लयः। इसे संकेत में हल सन्धि कहते हैं। अब आप इस सन्धिको श्लोक के माध्यम् से समझें।

सतू शचू षटू समेत्य तत्सवर्णतामितः
पदान्तझलू तु जश सदा च चर्खरि प्रजायते।
स ञम् ञमि प्रयाति वा लघोः परोऽचि ङम् सदा
द्विरेति वा पदान्तझयृपरोऽमि शश्छकारताम् ॥

(१) सकार, तवर्ग, शकार, चवर्ग तथा षकार टवर्ग से मिलकर उन्ही के सर्वण हो जाते हैं। (२) पदान्त झल् सदा जश् हो जाता है। (३) वही झल् स्वर परे रहने पर चर् हो जाता है। (४) लेकिन ञम् परे रहने पर तो वही झल् जश् होकर ञम् हो जाता है। (५) लघु स्वर के बाद का ङम् अच् परे रहने पर दित्व हो जाता है। (६) पदान्त झम् से परे श छ हो जाता है, यदि उसके बाद अम् हो तो।

(क) १—स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०' = सकार तवर्ग का शकार चवर्ग के योग से शकार चवर्ग होता है। दन्त्य अक्षर 'तु और स' का तालव्य अक्षर 'चु और श' के साथ योग होने पर 'तु (त, द, न) और स' के स्थान प्रयत्नों के अनुसार क्रमशः तालव्य अक्षर 'चु (च, ज, ञ) और श' हो जाते हैं। स्तु + श्चु = श्चु श्चु। उदाहरण जैसे—रामस् + शेते = रामश्शेते। रामस् + चलति = रामश्चलति। सत् + चित् = सच्चित्। जगच्छत्रम्। मरुज्जयः। राजञ्जयः। (ख) 'ष्टुना ष्टुः ८।४।४१' = सकार तवर्ग का षकार-टवर्ग के योगसे षकार-टवर्ग होता है। दन्त्य अक्षर तु और स् का मूर्द्धन्य अक्षर 'टु और ष्' के साथ योग होने पर 'तु (त्, द्, न्) और स्' को स्थान प्रयत्न के अनुसार क्रमशः मूर्द्धन्य अक्षर 'टु (ट्, ड्, ण्) और ष्' हो जाते हैं। स्तु + ष्टु = ष्टु ष्टु। उदाहरण जैसे—रामस् + षष्ठः

= रामष्षष्ठः । रामस् + टीकते = रामष्टीकते । तत् + टीका = तट्टीका । उड्डीयते । रणढ्ढक्का । लिखण्णकारम् ।

२—'झलां जशोऽन्ते ८।२।२९' = पदान्तमें झल् का जश् होता है । झल् में केवल चय् (च्, ट्, त्, क्, प्) का जश् (ज्, ड्, द्, ग्, ब्) होता है। चय् के बाद अश् के रहने पर। चय् + अश् = जश् अश्। उदाहरण जैसे—अच् + अन्तः = अजन्तः। मधुलिड्यम्। तद्गच्छा। वागीशः। गुब्बन्धः।

३—'खरि च ८।४।५५' = खर् परे रहते झलों को चर् होते हैं। झल में केवल जश् (ज, ड्, द्, ग्, ब्) का चय् (च्, ट्, त्, क्, प्) होता है जश् के बाद खर् (अघोष के १३ अक्षर = वर्गका पहला, दूसरा और श्, ष्, स्) के रहने पर। जश् + खर् = चय् खर्। उदाहरण जैसे—वाग् + क्रुता = वाक्क्रुता। तत्सत्। पाट्सरति। ककुप्प्रकाशते।

४—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५' = पदान्त यर् को अनुनासिक परे रहते विकल्प से अनुनासिक होता है। यर् में केवल चय् (च्, ट्, त्, क्, प्) का विकल्पसे अनुनासिक (ञम् = ञ् ण् न् ङ म्) होता है। चय् के बाद अनुनासिक ञम् के रहने पर एक पक्ष 'झ' जशोऽन्ते' सूत्र से अपना तीसरा अक्षर होता है। चय् + ञम् = ञम् ञम्। उदाहरण जैसे—वाक् + महिमा = वाङ्महिमा। तन्नित्यम्। ङमुण्नित्यम्।

५—'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८।३।३२' = ह्रस्व से परे ङम् हो उसी ङम् से परे रहने वाले अच्को प्रायः ङमुट् का आगम होता है।

ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ) के बाद यदि ङम् (ङ्, ण्, न्) हो और उसके बाद कोई भी स्वर (अच्) हो तो ङ् ण्, न् द्वित्व का (दो बार होना) हो जाता है। ह्रस्वस्वर ङम् + अच् = ह्रस्वस्वर ङम् ङम् अच्। उदाहरण जैसे—प्रत्यङ् + आत्मा = प्रत्यङ्ङात्मा। 'प्रत्यङ्' के त्यमें ह्रस्वस्वर अ है। अ के बाद 'ङम् का ङ् है। पुनः ङ् के बाद अच् (स्वर) का आ है। अतः उपर्युक्त नियम से प्रत्यङ् में स्थित ङ् का द्वित्व (दो बार होना) होने से 'प्रत्यङ् ङ्' ऐसा ही रूप बन करके अच् के मिल जाने पर प्रत्यङ्ङात्मा' ऐसा रूप बन गया है। इसी प्रकार सुगण + इह = सुगण्णिह। तस्मिन्नदो।

उदाहरण जैसे—राजन् + तथा = राजंस्तथा। तस्मिंधकारे। राजंश्चला। दोषांश्छादय। गच्छंष्टीकते। पठंष्ठक्कुरः।

नमौ पदस्य मध्यगावनुस्वरौ :परे झलि
त्वनुस्वरो ययि ध्रुवं सवर्णतां स विन्दते।
म आश्वनुस्वरत्वमेति हल्परः पदान्तगः
स वैत्यनुस्वरः पदान्तगः सवर्णतां ययि॥

११—पद के मध्य में रहने वाले नकार मकार झल् परे रहने पर अनुस्वार हो जाते हैं। १२—वह अनुस्वार यम् परे रहने पर परसवर्ण हो जाता है। अर्थात् जिस वर्ग का अक्षर रहेगा उसी का पञ्चम अक्षर नित्य हो जायेगा। १३—हल् परे रहने पर पदान्त मकार• अनुस्वार हो जाता है। १४—वह पदान्त अनुस्वार यम् परे उसी का सवर्ण अक्षर विकल्प से होता है अर्थात् वह वर्ग का पञ्चम अक्षर विकल्प से होता है। एक पक्ष में अनुस्वार ही रहता है।

११—'नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४' = अपदान्त नकार मकारको अनुस्वार होता है झल् परे रहने पर। अपदान्त न् या म + झल् = अनुस्वार (ं) झल्। उदाहरण जैसे—यशान् + सि = यशांसि। आक्रम् + स्यते = आक्रंस्यते। हंसः। भ्रंशः।

१२—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८' = अनुस्वार के यय् से परे रहने पर सवर्ण होता है। अपदान्त वाला अनुस्वार यय् प्रत्याहार परे रहने पर नित्य परसवर्ण होता है, अर्थात् अनुस्वार यय् का जो वर्ण होगा उसी वर्ण के अपने वर्ण में स्थित पाँचवा अक्षर हो जाता है। अपदान्त अनुस्वार (ं) + यय् = परसवर्ण यय्। उदाहरण जैसे—शां + तः = शान्तः। पम्पा। लङ्का। चञ्चलः। दण्डः।

१३—'मोऽनुस्वारः ८।३।२३' = मान्त पद को अनुस्वार होता है हल् परे रहते। पदान्त मकार को हल् परे रहता अनुस्वार होता है। पदान्तम् + हल् = अनुस्वार (ं)हल्। उदाहरण जैसे—हरिम् + वन्दे = हरिं वन्दे। रामं सरति। नेत्रं रुजति। हरिं हरति।

१४—'वा पदान्तस्य ८।४।५९' = पदान्त अनुस्वार को यय् परे रहते विकल्प से परसवर्ण होता है। पदान्त अनुस्वार (ं) + यय् = परसवर्ण

यय् या अनुस्वार (ं) यय्। उदाहरण जैसे—त्वं + करोषि = त्वङ्करोषि या त्वं करोषि। सँय्यावः या संयावः।

विसर्ग-सन्धि—

विसर्ग के स्वर या व्यञ्जन वर्ण के साथ परस्पर मिलन को विसर्ग सन्धि कहते है। जैसे—रामः + स्तथा = रामस्तथा। रामो गच्छति। विसर्ग-सन्धि के कार्य मुख्यतः दो प्रकार के हैं। (१) खर् (अघोष) परे रहते एक कार्य होता है। (२) अश् (घोष) परे रहते दूसरा कार्य होता है। खर् परे रहते इसके चार कार्य होते हैं। (१) विसर्ग का ज्यों का त्यों रह जाना। (२) विसर्ग का क् और ख् परे रहते जिह्वामूलीय हो जाना। (३) विसर्ग का प् और फ् परे रहते उपध्मानीय हो जाना। (४) विसर्ग का त्, थ्, स् परे रहते स्, च्, छ्, श् परे रहते श् तथा ट्, ठ्, ष् परे रहते ष् हो जाना। अश् परे परे रहते विसर्ग के पूर्व स्वर के अनुसार तीन कार्य होते हैं। (५) इच् के बाद के विसर्ग का रेफ हो जाना। (६) आ के बाद के विसर्ग का लोप हो जाना (७) अ के बाद के विसर्ग का लोप और उ हो जाना। अश् परे रहते ये तीन कार्य होते हैं। इनके अपवाद स्वरूप भी दो कार्य होते हैं। (८) स् और एष् के बाद के विसर्ग का आल् परे रहते लोप हो जाना तथा (९) अण् से परे रेफ (रु के रूप में बदला हुआ विसर्ग) के बाद रेफ रहते पहला रेफ का लोप हो जाना तथा अण् का दीर्घ हो जाना।

ये दो कार्य अपवाद स्वरूप होते हैं। अब इन्हें श्लोक के माध्यम से याद करें।

कखो ≍ पफोर्विसर्ग एति वार्द्धतां स वा शरि
च्छवि त्रयं तथा समेति तस्य वर्णसाम्यतः।
अतोऽति रुत्वमुत्वमेत्यतो हशीदमेव हि
त्ववर्णतोऽशि रुत्वमेति लोपगां यकारताम्॥

(१) विसर्ग से क्, ख् तथा प्, फ् परे रहते विसर्ग आधा विसर्ग (≍) विकल्प से हो जाता है। (२) विसर्ग से शर् परे रहते विकल्प से और छव् परे रहते नित्य ही विसर्ग शर् तथा छव् प्रत्याहार के वर्णो के साम्य से श्, ष्, स् हो जाता है। (३) ह्रस्व अकार के बाद का रु (विसर्ग) ह्रस्व अकार परे या हश् परे रहते (अ, आ) उकार हो जाता है। (४)

अवर्ण के बाद का विसर्ग (रु) अश् परे लोप हो जाने वाला य् हो जाता है।

१—'ससजुषो रुः ८।२।६६' = पदान्त सकार और सजुष् शब्द के षकार को रु होता है। ,खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५' = खर् परे रहते अथवा अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग होता है। 'कुप्वो ≍क ≍पौ च ८।३।३७' = कवर्ग परे विसर्ग का क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय विकल्प से होता है। पक्षान्तर में विसर्ग ही रहता है। विसर्ग के बाद यदि क्, ख् हों तो विसर्ग का जिह्वामूलीय होकर '≍क, ≍ख' ऐसे रूप बनते हैं तथा प्, फ् हों तो उपाध्मानोंय '≍प,≍फ' ऐसे रूप बनते हैं। जहाँ पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय नहीं होंगे वहाँ पर विसर्ग पूर्णरूप से रहेगा। उदाहरण जैसे—रामः करोति। राम≍करोति। हरिः खनति। हरि≍खनति। मेघः पतति। मेघ≍पतति। वृक्षः फलति। वृक्ष≍फलति।

२—'विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४' = विसर्ग को स् होता है खर् परे रहते। 'वा शरि ८।३।३६' = शर् परे रहते विसर्ग का विसर्ग होता है विकल्प से। विसर्ग के बाद खर् में छव् या शर् परे रहते विसर्ग को स् होता है। **विसर्ग + छव् या शर् = स् छव् या शर्।** उदाहरण जैसे—रामस्तथा। रामश्चलति। रामष्टीकते। हरिश्शेते। रामष्षष्ठः। जहाँ शर् परे रहते स् नहीं होता वहाँ पर विसर्ग रहता है। इच् के बाद का विसर्ग अश् परे रहते रेफ हो जाता है। **इच् विसर्ग + अश् = रेफ अश्।** उदाहरण जैसे—हरिः अत्र = हरिरत्र। ग्लौर्हसति।

'अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३' = अप्लुत अ के बाद के रु को उ होता है अप्लुत अ परे रहते। **'हशि च ६।१।११४'** = अप्लुत् अ के बाद के रु को उ होता है हश् परे रहते। ह्रस्व अकार के बाद का रु (विसर्ग) ह्रस्व अकार परे या हश् परे रहते उकार जाता है। **ह्रस्व अ रु (विसर्ग + ह्रस्व अ या हश् = ह्रस्व अ उ ऽ (अ का खण्डकार) या हश्।** उदाहरण जैसे—शुद्धः + अहम् = शुद्धोऽहम्। बुद्धोऽहम्। सच्चिदानन्दोऽहम्। रामः वदति = रामो वदति। कृष्णो जयति।

'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' ८।३।१७ = भो-भगो-अघो और अकार पूर्वक रु को य् होता है अश् परे रहते। **'लोपः शाकल्यस्य'** ८।३।१९ = अवर्ण-पूर्व पदान्त यकार वकार का विकल्प से लोप होता है अश् परे रहते।

'हलि सर्वेषाम्' ८।३।२२ = भो-भगो-अघो-अपूर्वक यकार का लोप होता है हल् परे रहते। अकार के बाद का विसर्ग आच् परे रहते लोप हो जाता है। लोप के बाद पुनः अच् सन्धि नहीं होती है। अ विसर्ग + आच् = अ आच्। उदाहरण जैसे—रामः आगच्छति = राम आगच्छति। आकार के बाद का विसर्ग अश् परे रहते लोप हो जाता है। लोप के बाद पुनः अच् सन्धि नहीं होती है। आ विसर्ग + अश् = आ अश्। उदाहरण जैसे—देवाः अत्र = देवा अत्र। देवा हसन्ति। देवा इह।

स एष एत आल्परौ विसर्गशून्यतां सदा
रि रश्च लोपमेति तत्पुरोऽसमेति दीर्घताम्।

सुबुद्धिभिः सुपाठकैः स्वसन्धिरोगनाशकैः
समग्रसन्धिरुच्यते रसैर्हि पञ्चचामरैः॥

(५) स और एष ये दोनों पद आल् परे रहने पर सदा विसर्ग से शून्य रहते हैं। (६) रेफ के रेफ परे रहते लोप हो जाता है और उसके पूर्व में रहने वाले स्वर को दीर्घ हो जाता है। इस प्रकार सुबुद्धिमान् पाठक जो अपना सन्धिरोग नाश करना चाहते हैं वे पञ्चचामर छन्द से विरचित श्लोकों के द्वारा सारी सन्धियाँ कर लेते हैं।

५—'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' ६।१।१३२ = ककार-रहित एतत् और तत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप होता है नञ् समास को छोड़ कर। स और एष के बाद में रहने वाला विसर्ग लोप होता है आल् परे रहते, नञ् समास में हो तो लोप नहीं होगा। (लोप के बाद अच् सन्धि नहीं होती है)। स या एष विसर्ग + आल् = स या एष आल। उदाहरण जैसे—सः आयाति = स आयाति। स करोति। एषः आगच्छति। एष आगच्छति। एष सरति।

६—'रो रि' ८।३।१४ = लोप निमित्तक ढकार और रेफ परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है। रेफ के बाद रेफ रहते पूर्व रेफ का लोप हो जाता है और पूर्व रेफ के पहले रहने वाले स्वरको दीर्घ हो जाता है। ह्रस्वस्वर रेफ + रेफ = ह्रस्वरस्वर रेफ। उदाहरण जैसे—पुनर् + रमते = पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते।

समास

संस्कृत में संक्षेप को समास कहते हैं। समासमें दो या उनसे अधिक पदों की विभक्तियों के लुक्से एक (संक्षिप्त) शब्द बन जाता है। प्रातिपदिक होने के कारण उसके भी पद बनते हैं। यों तो समास सात प्रकार के हैं, परन्तु पाँच ही प्रधान हैं—**१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ कर्मधारय, ४ बहुव्रीहि, ५ द्वन्द्व**। द्विगु और नञ् समास तत्पुरुष के ही भेद माने गए हैं, परन्तु उनको पृथक् समास भी गिनते हैं।

अव्ययीभाव

अनव्ययः अव्ययः सम्पद्यते इत्यव्ययीभावः। जो शब्द समास होनेसे पहले तो अव्यय न हो, पर समास होने पर वह अव्यय हो जाय, वही अव्ययीभाव समास है। शक्तिम् अनतिक्रम्य यथाशक्ति। इसमें 'शक्ति' शब्द तो अव्यय नहीं है, पर अव्ययीभाव समास में पड़ जाने के कारण जैसे 'यथा' पहले ही अव्यय था, वैसे 'शक्ति' यह भी अब अव्यय शब्द हो गया। इस समासकी यही विशेषता है कि पूर्व का पद पहले से ही अव्यय रहता है, समास हो जानेपर तो सारा शब्द अव्ययपद बन जाता है। इसके आगे अब कोई विभक्ति नहीं रहेगी, केवल 'यथाशक्ति'। यह अव्यय पद कहलाएगा। इसी प्रकार कृष्णस्य समीपम् = उपकृष्णम्। हरौ इति = अधिहरि। पाठशालायाम् इति = अधिपाठशालम्। मक्षिकाणाम् अभावो = निर्मक्षिकम् आदि। अव्ययीभाव समासका दायरा कम है। **इस समासमें पूर्वपद (पहला अव्यय) ही प्रधान होता है (पूर्वपदप्रधानोऽव्ययीभावः)।** जैसे—उपकृष्णम् = कृष्णके समीप यह अर्थ है। समीप ही तो प्रधान है। वह उप शब्द का ही तो अर्थ है। उप पूर्वमें ही है। प्रधान वही कहलाता है। जो क्रियाके साथ बैठता है।

तत्पुरुष

तत्पुरुष शब्दका अर्थ जाननेके लिए जैसा विग्रह करेंगे वैसा ही विग्रह जिन जिन समासयुक्त शब्दोंका होगा वे सभी 'तत्पुरुष' कहे जाएंगे (अर्थ जानने के लिए जो वाक्य बोला जाता है, वही विग्रह कहलाता है)।

तत्पुरुष शब्द का विग्रह देखिए—स चासौ पुरुषः तत्पुरुषः (इसी प्रथमा तत्पुरुष को 'कर्मधारय' कहते हैं।) इसी विग्रह में यदि संख्या पूर्व में ही तो उसे 'द्विगु' और 'नञ्' शब्द पूर्वमें हो तो उसे 'नञ्तत्पुरुष' कहते

हैं। द्वितीया से लेकर यदि सभी विभक्तियों के साथ जब विग्रह करते हैं तो उन्हीं विभक्तियों के नाम से वह तत्पुरुष कहलाता है—द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष इत्यादि। जैसे—

तं पुरुषः तत्पुरुषः—द्वितीया तत्पुरुष
तेन पुरुषः तत्पुरुषः—तृतीया तत्पुरुष
तस्मै पुरुषः तत्पुरुषः—चतुर्थी तत्पुरुष
तस्मात् पुरुषः तत्पुरुषः—पञ्चमी तत्पुरुष
तस्य पुरुषः तत्पुरुषः—षष्ठी तत्पुरुष
तस्मिन् पुरुषः तत्पुरुषः—सप्तमी तत्पुरुष

ऐसा विग्रह जहाँ हो सके उसे तत्पुरुष कहने की प्रथा है।

द्वितीयादि तत्पुरुष का प्रयोग—कृष्णं श्रितः = कृष्णश्रितः। तेन कृतम् = तत्कृतम्। गवे ग्रासः = गोग्रासः। चोराद् भयम् = चोरभयम्। राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः। तर्के चतुरः = तर्कचतुरः।

कर्मधारय

केवल विशेषण विशेष्यवाले को 'कर्मधारय' कहते हैं। उसी में संख्या यदि विशेषण हो तो 'द्विगु' कहते हैं। **तत्पुरुष में उत्तरपद प्रधान होता है (उत्तरपदप्रधानः तत्पुरुषः)।**

अब आप योंही प्रथमा तत्पुरुष (कर्मधारय) समास के प्रयोगों का विग्रह करके समझ ले—नीलं च तत् उत्पलम् = नीलोत्पलम्। सुन्दरश्चासौ बालः = सुन्दरबालः। सुन्दरी चासौ बालिका = सुन्दरबालिका (सुन्दरबालिका में सुन्दरी सुन्दर हो गया) (कर्मधारय)।

यह तो सभी समासों का नियम है कि विभक्ति लोपकर एक पद बना दें। कर्मधारय तथा बहुव्रीहि के पूर्वपद में स्त्रीलिङ्ग हो तो पुलिंग बना देने का भी नियम है। द्विगु—द्वौ गावौ द्विगुः, द्वयोः गवोः समाहारो वा। सप्त च ते ऋषयः = सप्तर्षयः। समास में विभक्ति का लोप देने पर सन्धि की सम्भावना हो तो उसे अवश्य कर लेना है। नीलोत्पलम्। सप्तर्षयः।

नञ् समास का प्रयोग—न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः। न अश्वः = अनश्वः। इसमें नका अ रह जाता है। न् का लोप उड़ जाता है। किन्तु अजादि शब्दों में न उलटकर अन् होकर लगता है—न उपस्थितः = अनुपस्थितः।

पुनः पूर्वपद में विकृत होने वाले कर्मधारय का उदाहरण महाँश्चासौ पुरुषः = महापुरुषः। यों ही द्वन्द्व में कर्म च भाग्यं च = कर्म-भाग्ये। एवं द्वौ च दश च = द्वादश। त्रयोदश, अष्टादश। इत्यादि (३) कर्मधारय = कर्म का (विशेषण का) धारण करने वाला।

१. इस विग्रहमें द्विगु नपुंसक होगा। पर पाणिनिने दोनों विग्रहो में पुंलिङ्ग पढ़ा है। द्विगुः।

२. नीलोत्पलम् और सप्तर्षयः में गुण—सन्धि हो गयी है।

३. समास मे पूर्वपद के 'न्' का लोप, प्रथमान्त महत् का महा, द्विका, द्वा, त्रिका त्रय, अष्टन् का अष्टा हो जाता है।

बहुव्रीहिः

इसके भी नामका जैसा विग्रह है वैसा हो समास के शब्दों का विग्रह है। जैसे—बहुः व्रीहिः यस्य स बहुव्रीहिः (कृषकः)। पीतम् अम्बरम् यस्य स पीताम्बरः (हरिः)। जैसा बहुव्रीहि शब्द का विग्रह है वैसा ही 'पीताम्बर' का भी। भेद इतना ही है कि बहुव्रीहि के दोनों शब्द पुलिंग हैं। पीताम्बर के नपुंसक हैं। इस समास की विशेषता यह है कि विशेषण का विशेष्य के साथ तो समास होता है किन्तु दूसरा पद प्रधान होता है (अन्यपदप्रधानो बहुव्रीहिः)। ये दोनों पद गौण (अप्रधान) होकर दूसरे का बोध करा देते हैं। जैसे बहुत हैं व्रीहि (धान्य) जिसके, उस कृषक को बहुव्रीहि कहेंगे। बहुव्रीहिः अयं कृषकः।

ऐसे ही जहाँ जहाँ बहुव्रीहि समास होगा, वहाँ समास के दोनों शब्दों से भिन्न शब्द प्रधान हो जायेगा। समास में आए विशेषण और विशेष्य गौण हो जाएगे। यहाँ बहु और धान्य की कोई पूछ नहीं है किन्तु बहुत धान्य-वाला किसान लिया जा रहा है और दोनों शब्द मिलकर अन्य का विशेषण हो जाते हैं। इस समास का कर्मधारय से भेद है। वहाँ विशेषण-विशेष्य ज्यों के त्यों बने रहते हैं। पीले कपड़े वाला पीताम्बर कहलाएगा। कृष्ण भग-वान् पीताम्बर कहे जाते हैं। ऐसे ही–दृष्टः सागरो येन स दृष्टसागरः यात्री। लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णो हरिणः। यहाँ यदि पूर्वपद स्त्रीलिङ्ग होता है तो पुलिंग हो ही जाता है और उत्तरपद भी यदि स्त्रीलिङ्ग है तो कहीं ह्रस्व हो जायगा और कहीं उसके अन्तमें 'क' शब्द लग जायगा। तब वह ह्रस्व

नहीं होगा। जैसे—शोभना शाला यस्य स शोभनशालः। विज्ञाः कुमार्यो यस्मिन् स विज्ञकुमारीको विद्यालयः—इत्यादि। जहाँ कर्मधारय करना है वहाँ बहुश्चासौ व्रीहिः बहुव्रीहिः। पीतं च तत् अम्बरम् पीताम्बरम्। ऐसे ही कर्मधारय में विशेषण और विशेष्य ज्यों के त्यों बने ही रहेंगे।

बहुव्रीहि समासकी बहुतसी विशेषताएं हैं जो आगे चलकर ज्ञात होंगी। यहाँ सामान्यतः वचनों तथा लिङ्गों के भेद की बात बतानी हैं। समास का शब्द द्विवचन होगा तो विग्रह होगा—बहुः व्रीहिः ययोस्तौ बहुव्रीहौ कृषकौ। बहुवचन होगा तो बहुः व्रीहिः येषां ते बहुव्रीहयः कृषकाः। समास में पड़े हुए शब्दों का कोई नियम नहीं, वे चाहे एकवचन ही रहें या जिस वचन में अन्य (विशेष्य शब्द) हो उस वचन में भी रख सकते हैं। पर लिंग तो वे वही रखेंगे जिस लिङ्ग का उनका अपना विशेष्य है। जैसे—पीते अम्बरे ययोस्तौ पीताम्बरौ, पीतानि अम्बराणि येषां ते पीताम्बराः। यहाँ अम्बर शब्द नपुंसक है। अतः उसका विशेषण पीत शब्द उसके साथ-साथ बँधा है। वचन तो अन्यपद के कारण बदलता जा रहा है, लिङ्ग नहीं बदलता। पर समास हो चुकने पर तो वह समस्त शब्द विशेष्यवाची शब्द का विशेषण हो जाता है। इस कारण अब उसका लिङ्ग और वचन सभी विशेष्यवाची शब्दके अनुसार ही होगा और विग्रह करनेमें जिस पद (शब्द) का प्रयोग होता है—यस्य ययोः येषाम् आदि—वे सभी अन्य शब्द के ही अनुरूप होते हैं हैं। यदि अन्य शब्द स्त्रीलिङ्ग एकवचनादि हैं तो वह पद (शब्द) भी स्त्रीलिङ्ग एकवचनादि होगा ही। पीताम्बर का दोनों लिङ्ग और तीनों वचनों का विग्रह बना लेना है। जैसे—ऊपर पीताम्बर का विशेष्यानुसार पुलिंग पद हो गया है।

स्त्रीलिंग में देखिए पीतम् अम्बरम् यस्याः सा पीताम्बरा, पीते अम्बरे ययोः ते पीताम्बरे, पीतानि अम्बराणि यासां ताः पीताम्बराः।

नपुंसक में—पीतम् अम्बरम् यस्य तत् पीताम्बरम् (पुस्तकम्), पीते अम्बरे ययोस्ते पीताम्बरे (पुस्तके), पीतानि अम्बराणि येषां तानि पीताम्बराणि (पुस्तकानि)। यहां, अन्य शब्दार्थं के ही लिङ्ग वचन का पीछा करना पड़ता हैं। बहुव्रीहि में तद्गुण, व्यधिकरण, समानाधिकरण इत्यादि भेद तो आगेकी बात है।:

द्वन्द्व

द्वन्द्व शब्द भी द्वे च द्वे च द्वन्द्वे । अथवा द्वयोः समाहारः द्वन्द्वम् । जैसा द्वन्द्व शब्द का विग्रह होता है वैसा ही विग्रह जिस समास में हो उसे ही द्वन्द्व समझें । इसमें सभी पद प्रधान होते हैं (सर्वपदप्रधानो द्वन्द्वः) । कही उन शब्दों का समूह प्रधान रहता है। द्वन्द्व के दो भेद हैं—इतेरेतरयोग द्वन्द्व और समाहार। जिसमें जितने शब्द हों उसीके अनुसार वचन हों और अन्तमें जिस लिंग का शब्द हो वहीं लिंग हो, तो वह इतरेतरयोग है। जैसे—रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ। रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च = राम-लक्ष्मण-भरताः। ग्रामश्च पुरं च नगरी च ग्रामपुरनगर्यः। पाणिनिसूत्रोंमें इतरेतरयोग द्वन्द्व—चुश्च टुश्च = 'चुटू' १।३।७। ञिश्च टुश्च डुश्च = ञिटुडवः—'आदिर्ञिटुडवः' १।३।५। जहाँ जितने भी शब्द हों परन्तु समास होनेपर नपुंसक लिङ्ग और एकवचन मात्र में सभी विभक्तियोंका रूप होता है—वही समाहार द्वन्द्व है। जैसे—य् च अच् च तयोः समाहारः यच् तस्मिन् यचि—'यचि भम्' १।४।१८ लश्च शश्च कुश्च तेषां समाहार लशकु—'लशक्वतद्धिते' १।३।८ इत्यादि।

इन समासों के लिए कुछ श्लोक आवश्यक हैं, जो नीचे अर्थ के साथ दिए जातें हैं—

द्वन्द्वोऽ द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

इस श्लोकका अर्थ यह है कि एक भक्त प्रार्थना करता है 'हे पुरुष ! मैं द्वन्द्व हूँ—यानी हम स्त्री-पुरुष दो प्राणी हैं। द्विगु—-दो गाय बछड़ावाला हूँ। मेरे घरमें नित्य ही अव्ययीभाव-खर्चका अभाव रहता है अर्थात् मैं दरिद्र हूँ। मेरे पास धन नहीं हैं। मुझसे तत् = वह कर्म (काम) धारय कराइये जिससे अहं = मैं बहुव्रीहि बहुत धान्यवाला हो जाऊँ।'

अर्थ तो भिन्न है पर इस श्लोकमें १ द्वन्द्व २ द्विगु ३ अव्ययीभाव ४ तत्पुरुष ५ कर्मधारय ६ बहुव्रीहि—यों छह समासों के नाम आ गए हैं। एक नञ् समास छूटा है, जो प्रथमा तत्पुरुष (कर्मधारय) का ही भेद है। दूसरे श्लोक में समासों का विग्रह बताया है। जैसे—

चकार-बहुलो द्वन्द्वः, स चासौ कर्मधारयः।
यस्य येषां बहुव्रीहिः, शेषस्तत्पुरुषो मतः॥

अर्थात् जिसके विग्रह में चकार बहुत बोलना पड़े वह 'द्वन्द्व' है। जिसमें स चासौ (सुन्दरश्चासौ बालः) ऐसा विग्रह होता हो तो 'कर्मधारय' है। जिसके विग्रहमें 'यस्य' या 'येषां' या 'येन' इत्यादि पद कहना पड़े वह 'बहुव्रीहि' है। बाकी 'तत्पुरुष' कहाता है। रामस्य अयनम् = रामायणम् इत्यादि।

इसी प्रकार सभी समासों का विग्रह (अर्थ) करके पूर्व विभक्तियों का लुक् कर पुनः समस्त शब्द को प्रातिपदिक मानकर स्वादि विभक्ति लगाकर रामायणम् रामायणे रामायणानि इत्यादि पद बना लें। इन सब बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। बृहदृजुपाणिनीयम् पढ़ते समय काम आयेंगी। इसलिए यह पूर्वपीठिका दी गयी है। अब अन्तमें पाठकों को मेरी शुभकामना है—

अधीत्य सर्वां मम पूर्वपीठिकां सुपठ्य मूलं शुभमष्टकं मुनेः।
समानयन् पूर्वपदादिसूत्रतः सुबोधवृत्तिं विदधद्बटुः सुधीः॥ १॥

पूर्वपीठिका समाप्ता
॥ इति शिवम्॥

डा० श्रीगोपालशास्त्री (दर्शनकेशरी)
(पण्डितराज, म० म०, अध्यक्ष काशीपण्डितसभा)
द्वारा लिखित एवं निर्देशित

॥ ॐ ॥

॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

बृहदृजुपाणिनीयम्

अथ पूर्वार्द्धम्

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद् भद्रं तन्न आसुव ॥
(यजु० ३०।३, ऋ० ५।८२।५)

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं[1] तस्मै पाणिनये नमः ॥ १ ॥

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥ २ ॥

वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारञ्च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ॥ ३ ॥

पठतु भोः स्वयमेव विवेकतो
बृहदिदं खलु पाणिनिपुस्तकम् ।
भवत शीघ्रतया खलु शाब्दिकाः
क्रमविधानत एव कृतश्रमाः ॥ ४ ॥

सानुवृत्त्या सवृत्त्या पदच्छेदतः
तत्समासान्वितो बुध्यतां स्पष्टतः ।
बालिकाभिश्च बालैः स्वयं बुद्धितो
भो ऋजुः पाणिनीयाष्टको ग्रन्थकः ॥ ५ ॥

---

१. पाणिनीयं व्याकरणं तत्प्रोक्तमेवास्ति, न तु तत्कृतमिति निश्चप्रचम् । आर्यसमाजिनस्तु भ्रान्ताः ।

अथ शब्दानुशासनम्†

अक्षरसमाम्नायः—१. अइउण् । २. ऋऌक् । ३. एओङ् । ४. ऐऔच् । ५. हयवरट् । ६. लण् । ७ ञमङणनम् । ८. झभञ् । ९. घढधष् । १०. जबगडदश् । ११. खफछठथचटतव् । १२. कपय् । १३. शषसर् । १४. हल् ॥

इति माहेश्वरप्रत्याहारसूत्राणि* । प्रत्याहाराक्षराणि यथा—अइउ, ऋऌ, एओ, ऐऔ, हयवर, ल, ञमङणन, झभघढध, जबगडद, खफछठथ, चटतकप, शषस, ह ॥ इति ॥

अथ प्रत्याहारप्रकरणम्

१. अइउण्

पदच्छेदः—अइउण् प्रथमाविभक्त्येकवचनम् । समासः—अश्च इश्च उश्च ण् च इति तेषां समाहारस्तत् अइउण् (समाहारद्वन्द्वसमासः) । वृत्तिः—अ, इ, उ इत्येतान् वर्णान् क्रमशः उपदिश्य ण्कारम् इतं करोति प्रत्याहारार्थम् । उदाहरणानि—अण् ॥ १ ॥

२. ऋऌक्

पद०—ऋऌक् १।१ । स०—ऋश्च ऌश्च क् च इति तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०) । वृ०—ऋ, ऌ इत्येतौ वर्णौ क्रमेण उपदिश्य ककारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । उदा०—अक् । इक् । उक् ॥ २ ॥

---

† पतञ्जलिमङ्गलसूत्रम्, नेदं पाणिनिसूत्रम् । व्याकरणशास्त्रे कैयटः प्रामाणिकः, न तु मेधातिथिः । व्यर्थंहठ आर्यसमाजिनां पाणिनिसूत्रग्रहणे ।

* "नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्च (१४) वारम् । उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धा नेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥" (नन्दिकेश्वरीयम्) । "चतुःसहस्रो सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता । अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥" (स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका श्लोक १५) । "शिवसूत्रपरित्यागाच्चतुर्न्यूनानि पाणिनेः । चतुःसहस्रसूत्राणि पुराविद्भिः स्मृतानि वै ॥" (योगचन्द्रिका) । प्रत्याहारसूत्राण्यपि पाणिनेरेवेति भ्रान्तधारणा आर्यसमाजिनः ।

१. 'अ+इ+उ' इत्यत्र 'निपात एकाजनाङ् १।१।१४' इति सूत्रेण प्रगृह्यत्वे प्रकृतिभावत्वात् यथावत् स्थितिः भवति । अपि च 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इति नियमेन पूर्ववत् ज्ञेयम् । 'ण्' इति इत्संज्ञको भवति । उपदेशावस्थायाम् अन्त्यः हल्, अनुनासिकोऽच् इत्येतेषाम् इत्संज्ञा भवति । इत्कार्यमनुबन्धकार्यनाम्ना प्रसिद्धयते । एवमग्रिमसूत्रेष्वपि (विशेषद्रष्टव्या—भूमिका) ज्ञेयम् ।

३. एओङ्

पद०—एओङ् १। स०—एश्च ओश्च ङ् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ए, ओ इत्येतौ वर्णौं उपदिश्य ङ्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—एङ् ॥ १ ॥

४. ऐऔच्

पद०—ऐऔच् १। स० - ऐश्च औश्च च् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ऐ, औ इत्येतौ वर्णौं उपदिश्य च्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—अच्। इच्। एच्। ऐच् ॥ ४ ॥

५. हयवरट्

पद०—हयवरट् १। स०—हश्च यश्च वश्च रश्च ट् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ह, य, व, र, इत्येतान् वर्णान् उपदिश्य ट्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—अट् ॥ १ ॥

६. लण्

पद०—लण् १ । स०—लश्च ण् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ल इत्येतं वर्णमुपदिश्य ण्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—अण्। इण्। यण् ॥ ३ ॥

७. ञमङणनम्

पद०—ञमङणनम् १। स०—ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च म् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ञ, म, ङ, ण, न इत्येतान् वर्णान् उपदिश्य म्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—अम्। यम्। ञम्। ङम् ॥ ४ ॥

८. झभञ्

पद०—झभञ् १। स०—झश्च भश्च ञ् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—झ, भ इत्येतौ वर्णौं उपदिश्य ञ्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—यञ् ॥ १ ॥

९. घढधष्

पद०—घढधष् १ । स०—घश्च ढश्च धश्च ष् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—घ, ढ, ध इत्येतान् वर्णान् उपदिश्य ष्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—झष्। भष् ॥ २ ॥

१०. जबगडदश्

पद०—जबगडदश् १ । स०—जश्च बश्च गश्च डश्च दश्च श् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ज, ब, ग, ड, द इत्येतान् वर्णान् उपदिश्य श्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—अश्। हश्। वश्। झश्। जश्। बश् ॥ ६ ॥

११. खफछठथचटतव्

पद०—खफछठथचटतव् १। स०—खश्च फश्च छश्च ठश्च थश्च चश्च टश्च तश्च व् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इत्येतान् वर्णान् उपदिश्य व्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—छव् ॥ १ ॥

१२. कपय्

पद०—कपय् १। स०—कश्च पश्च य् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—क, प इत्येतौ वर्णौ उपदिश्य य्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—यय्। ञय्। मय्। झय्। खय्। चय्॥ ६॥

१३. शषसर्

पद०—शषसर् १। स०—शश्च षश्च सश्च र् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—श, ष, स इत्येतान् वर्णान् उपदिश्य र्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—यर्। झर्। खर्। चर्। शर्॥ ५॥

१४. हल्

पद०—हल् १। स०—हश्च ल् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—ह इत्येतं वर्णमुपदिश्य अन्ते ल्कारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। उदा०—अल्। हल्। वल्। रल्। झल्। शल्॥ ६॥ इति ॥ ४४॥

अत्र 'अण्' प्रत्याहारः पूर्वेणेति सर्वत्र। 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९' सूत्रे परेणैव। 'इण्' प्रत्याहारस्तु परेणैवेति विवेकः। 'लण्' मध्ये अकारमितं मत्वा 'र' प्रत्याहारवत् 'थ' स्य अकारमितं मत्वा 'ख' प्रत्याहारोऽपि द्वितीयः महाप्राणाक्षरसंग्रहाय तर्कितः। 'ञय्' च वर्गाक्षरसंग्रहाय। 'चय्' तु चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति वार्त्तिकबलेन। इत्थं णकाराद्यनुबन्धैः षट्चत्वारिंशत्प्रत्याहाराणां परिगणना—

एकस्माण्णङटञवा द्वाभ्यां षस्त्रिभ्य एव कणमाः स्युः।
ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यो रः पञ्चभ्यः शलौ षड्भ्यः॥ १॥

ञमन्ताड्डः रखौ चेति चय्ञयावपरौ मतौ।
प्रत्याहारा भवन्त्येवं चत्वारिंशच्च षट् तथा॥ २॥

॥ इति प्रत्याहारप्रकरणम् ॥

अथ पाणिनिसूत्राणि

अथ प्रथमाध्याये

प्रथमः पादः

(अथ गुणवृद्धिसंज्ञाप्रकरणम्)

१. वृद्धिरादैच्

पदच्छेदः—वृद्धिः १ । आत् १ । ऐच् १ । वृत्तिः—आद् ऐच् च वृद्धिसंज्ञः भवति । उदाहरणानि—आश्वलायनः । ऐतिकायनः । औपगवः । शालीयः । ('किति च ७।२।११८', 'तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७' इति वृद्धिः) ।

२. अदेङ् गुणः ३

पद०—अत् १ । एङ् १ । गुणः १ । वृत्तिः—अत् एङ् च गुणसंज्ञः भवति । उदाहरणानि—तरिता । चेता । स्तोता । ('सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७।३।८४' इत्यङ्गस्य गुणः) ।

३. इको गुण-वृद्धी ६

पद०—इकः ६ । गुणवृद्धी १ । समासः—गुणश्च वृद्धिश्च गुणवृद्धी (इतरेतरद्वन्द्वसमासः) । वृत्तिः—गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र इकः इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते (गुणवृद्धी स्व स्व संज्ञया विधीयमाने इक एव स्थाने भवतः इत्यर्थः) । उदा०—भवति । अकार्षीत् । ('सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७।३।८४' इति गुणः, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१' इति वृद्धिः) ।

विशेषसङ्केतम्—अस्मिन् ग्रन्थे सूत्राणां समक्षे दक्षिणहस्ते प्रदर्शिताः अङ्काः सूत्रेषु स्थूलाक्षरेण मुद्रितपदानाम् अनुवृत्त्यर्थं सूत्रावधिसूचकाः 'स्वरितेनाधिकारः १।३।११' इति सूत्रनिर्देशात् ।

१. 'उद्देश्यमनुद्दिश्य न विधेयमुदीरयेद्' इति नियमं त्यक्त्वा विधेय-बोधक-संज्ञावाचक-वृद्धिशब्दस्य पूर्वप्रयोगस्तु 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इत्यादि महाभाष्यवचनप्रामाण्यात् मङ्गलार्थः ।

२. अत्र 'राजदन्तादिषु परम् २।२।३१' इति सूत्रेण वृद्धिशब्दस्य परनिपातो ज्ञेयः ।

४. न धातुलोप आर्धधातुके ६

पद०—न अ०। धातुलोपे ७। आर्धधातुके ७। समासः—धातोः लोपः यस्मिन् सः धातुलोपस्तस्मिन् (बहुव्रीहिः)। वृ०—धातुलोपे (धात्ववयवस्य लोप) आर्धधातुके परे इकः गुणवृद्धी न भवतः। उदा०—(यङोऽचि च २।४।७४) लोलुवः। पोपुवः। मरीमृजः।

५. क्ङिति च

पद०—क्ङिति ७। च अ०। स०—क् च ङ् च ग् च क्ङः, क्ङ इतः यस्य स क्ङित्, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—क्ङिति (किति ङिति गिति) च इकः गुणवृद्धी न भवतः। उदा०—(क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६) चितः। चितवान्। स्तुतः। स्तुतवान्। मृष्टः। मृष्टवान्। चिनुतः। चिन्वन्ति। मृष्टः। मृजन्ति। (ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः ३।२।१३९) जिष्णुः। भूष्णुः। स्थास्नुः।

६. दीधी-वेवीटाम्

पद०—दीधीवेवीटाम् ६। स०—दीधीश्च वेवीश्च इट् चेति दीधीवेवीटः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—दीधीवेव्योः धात्वोः इट्प्रत्ययस्य च इकः गुणवृद्धी न भवतः। उदा०—आदीध्यकः। आवेव्यकः। आदीध्यनम्। आवेव्यनम्। कणिता। रणिता।

(इति गुण-वृद्धिसंज्ञा-तन्निषेधप्रकरणम्)

---

४. लोलूयं यङन्त-धातोः पचाद्यचि यलोपे 'लोलू+अ' इत्यत्र गुणनिषेध उवङ्। एवमन्यत्।

५. किदेव क्स्नुप्रत्ययः 'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः' 'इत्यत्र स्था+आ' इत्याकारप्रश्लेषेण अकारान्त एव 'स्था-तिष्ठेत्, इति निर्वाहे व्यर्थं गित्कल्पनाडम्बरम्।

६. पाणिनिना अष्टाध्यायीपुस्तकाधारं भारतीयं समाजशास्त्रमपि व्यावृतम्, तद्धि मया पाणिनीयप्रशस्तिनाटके दर्शितम्—

'समाजशास्त्राधिगतिर्भवेदितस्तथेतिहासादि नयादि बुध्यते।
न केवलेयं पदसिद्धिसंहिता द्विजत्वसम्पादनसञ्चिकाऽद्भुता॥'

यथा समाजे परस्परं द्रव्यस्यादानप्रदाने भवतः, तथैव इहापि सूत्रेषु परस्परम् आदानप्रदाने भवतः। समाजे गुणैरेव वृद्धिः सर्वत्र गुणवृद्ध्योरेवाकांक्षा जागर्ति। तथैव इहापि प्रथमं गुणवृद्धिप्रकरणमेव दर्शितम्। एवमेव सर्वत्र द्रष्टव्यम्। अत्र अभियोगे निर्णायकसूत्राणि सन्ति—'विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२', 'पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१' इत्यादि। अङ्गाधिकारः, संहिताधिकारः, प्रत्ययाधिकारः, सपादसप्ताध्यायी, त्रिपादी इत्यादिप्रान्तविभागः। किं किं वच्मि, सुधियः स्वयं परिशीलयन्तु पाणिनिवैशिष्ट्यम्। अत्र गुणमुद्दिश्योक्तम् केनचित्—

"दीधीवेवीट्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनम्।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद् यत्र सन्निहिते न ते॥" इत्यादिवाग्विलासोऽप्यस्ति।

७. हलोऽनन्तराः संयोगः

पद०—हलः १। अनन्तराः १। संयोगः १। स०—न अन्तरम् (अज्भिः) येषाम् ते, अनन्तराः (बहु०)। वृ०—अनन्तराः (अज्भिः अव्यवहिताः) हलः संयोगसंज्ञा भवन्ति। उदा०—(संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३) अग्निः (गनौ)। इन्द्रः (नदराः)।

८. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः

पद०—मुखनासिकावचनः १। अनुनासिकः १। स०—मुखेन सहिता नासिका मुखनासिका, तया वचनं यस्य सः (तत्पुरुषगर्भो बहु०)। वृ०—मुखेन नासिकया सह उच्चार्यमाणः वर्णः अनुनासिकसंज्ञः भवति। उदा०—(आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ६।१।१२६) अभ्रआँ अपः। ञमङणनाः।

९. तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् १०

पद०—तुल्यास्यप्रयत्नम् १। सवर्णम् १। स०—आस्ये भवम् आस्यम् (तत्रभव इत्यण्), आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य येन, तत् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ येषां वर्णानां ते परस्परं सवर्णसंज्ञकाः भवन्ति। उदा०-(अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१) दण्डाग्रम्। दधीन्द्रः। मधूदके। होतॄश्यः।

१०. नाज्झलौ

पद०—न अ०। अज्झलौ १। स०—अच् च हल् च (इ० द्व०)। वृ०—अज्झलौ परस्परं सवर्णसंज्ञौ न भवतः। उदा०—दण्डहस्तः। दधिशीतलम्। (शल ईषद्विवृतप्रयत्नपक्षे सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं पतञ्जलिना)।

वा० ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्

पद०—ऋलृवर्णयोः ६। मिथः अ०। सावर्ण्यम् १। वाच्यम् १। वृ०—ऋलृवर्णौ परस्परं सवर्णसंज्ञौ भवतः। उदा०—होतृ + लृकारः। होतॄकारः।

---

७. बहुत्वम् अविवक्षितम् अग्निरित्यत्र द्वयोरपि संयोग उच्यते।

१०. अत्र अकारेण सहित अच् इति आच्। आच् च हल् च इति समासं केचित् वदन्ति। अत्र हशयोः ईषद्विवृतप्रयत्नभेदेन सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति। सूत्र-प्रत्याख्यानं ज्ञेयम्।

(अथ प्रगृह्यम्)

११. ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् १२, १९

पद०—ईदूदेद् १ । द्विवचनम् १ । प्रगृह्यम् १ । स०—ईत् च ऊत् च एत् च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०) । द्वेवचने यस्य तत् द्विवचनम् (बहु०) । वृ०—ईदन्तम् ऊदन्तम् एदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यम् भवति । उदा०—अग्नी इति । वायू इति । माले इति ।

१२. अदसो मात्

पद०—अदसः ६ । मात् ५ । वृ०—अदसः शब्दस्य मकारात् परम् ईत् ऊत् एत् प्रगृह्यम् भवति । उदा०—अमी आसते । अमू आसाते ।

१४. निपात एकाजनाङ् १५

पद०—निपातः १ । एकाच् १ । अनाङ् १ । स०—एकश्चासौ अच् (कर्मधारयः) । न आङ् अनाङ् (नञ्तत्पुरुषः) । वृ०—एकोऽच निपातः प्रगृह्यम् भवति, अनाङ् (आङं वर्जयित्वा) । उदा०—अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । (शिवसूत्रेषु 'अ इ उ ण् । ऋ लृ क्' इत्यादिषु एकाच् निपातत्वादपि सन्धिर्न) ।

१५. ओत् १६

पद०—ओत् १ । वृ०—ओदन्तः प्रगृह्यः भवति । उदा०—अहो इति ।

(प्रगृह्यं गतम्)

२०. दा-धाघ्वदाप्

पद०—दाधाः १ । घु १ । अदाप् १ । स०—न दाप् अदाप् (नञ्तत्०) । वृ०—दारूपा धारूपाश्च धातवः घु=घुसंज्ञा भवन्ति, अदाप् (दाप्दैपौ वर्जयित्वा) । उदा०—(नेर्गदनदपत० ८ । ४ । १७) प्रणिददाति । प्रणिदधाति । प्रणिधयति वत्सो मातरम् । प्रणिद्यति । प्रणिदयते ।

२१. आद्यन्तवदेकस्मिन्

पद०—आद्यन्तवत् अ० । एकस्मिन् ७ । स०—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ (इ० द्व०) ताभ्यां तुल्यम् आद्यन्तवत् । वृ०—एकस्मिन्नपि आद्यन्तवत् कार्यं भवति । उदा०—आभ्याम् । (परिभाषासूत्रमिदम्) ।

---

११. विशेषणे 'अन्त' शब्दो नियुज्यते । सप्तम्यन्ते तु आदिशब्दः । 'येनविधिस्तदन्तस्य १।१।७२', 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति सूत्रं परिभाषा च स्तः ।

१४. आ ङित् भवति । "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥" इति ॥

२०. अत्र दाधाशब्दे रूपशब्दान्वयः कार्यः—दारूपा धारूपा इति लभ्यते । डुदाञ्-दाने, दो-अवखण्डने, देङ्-रक्षणे, दाण्-दाने, डुधाञ्-धारणपोषणयोः, धेट्-पाने ।

२२. तरप्-तमपौ घः

पद०—तरप्तमपौ १। घः १। स०—तरप् च तमप् च (इ० द्व०)। वृ०—तरप्तमपौ प्रत्ययौ घसंज्ञौ भवतः। उदा०—(घरूप्कल्पचेलड्० ६।३।४३) कुमारितरा। कुमारितमा।

२३. बहु-गण-वतु-डति संख्या　　　　२५

पद०—बहुगणवतुडति १। संख्या १। स०—बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च तेषां समाहारः (स० द्व०)। वृ०—बहुगणशब्दौ वतुडतिप्रत्ययान्तौ च संख्यासंज्ञौ स्तः। उदा०—(संख्यायाः० ५।४।१७) बहुकृत्वः। गणकृत्वः। तावत्कृत्वः। कतिकृत्वः। (संख्याया वि० ५।३।४२) बहुधा। गणधा। तावद्धा। कतिधा। (अतिश० ५।१।२२) बहुकः। गणकः। तावत्कः। (संख्यैक० ५।४।४३) बहुशः। गणशः। तावच्छः। कतिशः।

२४. ष्णान्ता षट्　　　　२५

पद०—ष्णान्ता १। षट् १। स०—ष् च नश्च ष्णौ तौ अन्ते यस्याः सा (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—षकारान्ता नकारान्ता च संख्या षट्संज्ञा भवति। उदा०—(षड्भ्यो लुक् ७।१।२२) षट्। पञ्च। सप्त। अष्ट। नव। दश।

२५. डति च

पद० – डति १। च अ०। वृ०—डत्यन्ता च संख्या षट् संज्ञा भवति। उदा०—कति तिष्ठन्ति। कति पश्य।

२६. क्त-क्तवतू निष्ठा

पद०—क्तक्तवतू १। निष्ठा १। स०—क्तश्च क्तवतुश्च (इ० द्व०)। वृ०—क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञौ भवतः। उदा०—(निष्ठा ३।२।१०२) कृतः। कृतवान्। कृतवती। कृतवत्।

(अथ सर्वनामता)

२७. सर्वादीनि सर्वनामानि　　　　३२, ३६

पद—सर्वादीनि १। सर्वनामानि १। स०—सर्वः आदिः येषां तानि (बहु०)। सर्वेषां नामानि (तत्०)। वृ०—सर्वादीनि शब्दरूपाणि (गणपाठे दृश्यानि) सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति। उदा०—सर्वः। सर्वौ। सर्वे।

---

२४. नान्ताः पञ्चशब्दाः पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन्, दशन् इति। षान्तश्च एकः षष् इति। षडेव शब्दाः सन्तीति अन्वर्थता ज्ञेया। 'षट्' इत्यत्रैकवचनान्ते आर्यसमाजिहठः। स च न युक्तः। 'षड्भ्यो लुक् ७।१।२२' इति सूत्रप्रामाण्यात् बहुवचनत्वमेव।

२८. विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ २९

पद०—विभाषा १। दिक्समासे ७। बहुव्रीहौ ७। स०—दिशां समासः दिक्समासः, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि विभाषा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति। उदा०—(सर्वनाम्नः० ७।३।११४) उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम् उत्तरपूर्वा, तस्यै उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै (ईशान्यै इत्यर्थः)।

२९. न बहुव्रीहौ ३२

पद०—न अ०। बहुव्रीहौ ७। स०—बहुः व्रीहिः यस्य स बहुव्रीहिः, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—बहुव्रीहौ समासे सर्वादीनि सर्वनामानि न भवन्ति। उदा०—प्रियविश्वाय। प्रियोभयाय। त्वत्कपितृकः। मत्कपितृकः। (अत्र नाकच् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१' इति सूत्रम्)।

३०. तृतीया-समासे ३२

पद०—तृतीयासमासे ७। स०—तृतीयया समासः तृतीयासमासः, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामानि न भवन्ति। उदा०—मासपूर्वाय। संवत्सरपूर्वाय।

३१. द्वन्द्वे च ३२

पद० –द्वन्द्वे ७। च अ०। वृ०—द्वन्द्वे समासे च सर्वादीनि सर्वनामानि न भवन्ति। उदा०—पूर्वापराणाम्।

३२. विभाषा जसि ३६

पद०—विभाषा १। जसि ७। वृ०—द्वन्द्वे समासे जसि सर्वादीनि विभाषा सर्वनामानि न भवन्ति। उदा०—कतरकतमे। कतरकतमाः। पूर्वापरे। पूर्वापराः।

३३. प्रथम-चरम-तयाल्पार्ध-कतिपय-नेमाश्च

पद०—प्रथम ·····नेमाः १। च अ०। स०—प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्चेति (इ० द्व०)। वृ०—प्रथमचरमतयप्रत्ययान्ताल्पार्धकतिपयनेमाः च जसि विभाषा सर्वनामानि भवन्ति। उदा०—प्रथमे। प्रथमाः। चरमे। चरमाः। द्वितये। द्वितयाः। अल्पे। अल्पाः। अर्द्धे। अर्द्धाः। कतिपये। कतिपयाः। नेमे। नेमाः। (प्राप्ताप्राप्तविभाषासूत्रमिदम्)।

२८. अत्र 'दिङ्नामान्यन्तराले २।२।२६' इतिसूत्रेण समासः।

वा० तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम् सर्वनामत्वं विभाषया

पद०—तीयस्य ६। ङित्सु ७। उपसंख्यानम् १। सर्वनामत्वम् १। विभाषया ३। वृ०—ङित्सु प्रत्ययेषु तीयप्रत्ययान्तशब्दस्य सर्वनामत्वस्य उपसंख्यानं (भवति) विभाषया। उदा०—द्वितीयस्यै। द्वितीयायै।

३४. पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्

पद०—पूर्वपरा ···· पराधराणि १। व्यवस्थायाम् ७। असंज्ञायाम् ७। स०—पूर्वञ्च परञ्च अवरञ्च दक्षिणश्च उत्तरञ्च अपरञ्च अधरञ्चेति (इ० द्व०)। न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम् (नञ्तत्०)। वृ०—व्यवस्थायाम् असंज्ञायाम् जसि पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि विभाषा सर्वनामानि भवन्ति। उदा०—पूर्वे। पूर्वाः। परे। पराः। अवरे। अवराः। दक्षिणे। दक्षिणाः। उत्तरे। उत्तराः। अपरे। अपराः। अधरे। अधराः।

३५. स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्

पद०—स्वम् १। अज्ञातिधनाख्यायाम् ७। स०—ज्ञातिश्च धनं चेति ज्ञातिधने, तयोराख्या ज्ञातिधनाख्या, न ज्ञातिधनाख्या अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् (द्वन्द्वगर्भतत्पुरुषानन्तरं नञ्तत्०)। वृ०—अज्ञातिधनाख्यायाम् जसि स्वम् विभाषा सर्वनाम भवति। उदा०—स्वे पुत्राः। स्वाः पुत्राः (आत्मीया इत्यर्थः)।

३६. अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः

पद०—अन्तरम् १। बहिर्योगोपसंव्यानयोः ७। स०—बहिरिति अनेन योगः बहिर्योगः ('तृतीया २।१।३०' इति योगविभागात् समासः उपसंवीयते इति उपसंव्यानम् (कर्मणि ल्युट्, परिधानीयमित्यर्थः), बहिर्योगश्च उपसंव्यानञ्च तयोः (इ० द्व०)। वृ०—बहिर्योगोपसंव्यानयोः जसि अन्तरं विभाषा सर्वनामसंज्ञं भवति। उदा० - अन्तरे अन्तरा वा गृहाः (नगरबाह्या इत्यर्थः)। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः (परिधानीया इत्यर्थः)। (उपसंव्यानमधोवस्त्रम्)।

(इति सर्वनामता समाप्ता)

(अथ अव्ययम्)

३७. स्वरादि-निपातमव्ययम्   ४१

पद०—स्वरादिनिपातम् १। अव्ययम् १। स०—स्वर आदिर्येषां ते स्वरादयः, स्वरादयश्च निपाताश्च तेषां समाहारः (बहुव्रीहिगर्भः स० द्व०)। वृ०—स्वरादयः निपाताश्च (गणपाठे द्रष्टव्याः) अव्ययसंज्ञा भवन्ति। उदा०—स्वः। प्रातः इत्यादि। च। वा। ह इत्यादि। ('चादयोऽसत्त्वे १।४।५७' इति चादिशब्दा निपाताः)।

---

३४. दिगर्थ एव व्यवस्थात्र।

३८. तद्धितश्चासर्वविभक्तिः

पद०—तद्धितः १ । च अ० । असर्वविभक्तिः १ । स०—न सर्वा असर्वा, असर्वा विभक्तिः यस्मात्, सः असर्वविभक्तिः (तद्धितः) (नञ्गर्भो बहु०) । वृ०—असर्वविभक्तिः तद्धितान्तः शब्दः अव्ययसंज्ञः भवति । उदा०—यतः । ततः । यत्र । तत्र । यदा । तदा ।

३९. कृन् मेजन्तः

पद०—कृत् १ । मेजन्तः १ । स०—म् च एच् च मेचौ तौ अन्ते यस्य स मेजन्तः (द्वन्द्वगर्भो बहु०) । वृ०—मेजन्तः यः कृत् तदन्तं शब्दरूपम् अव्ययसंज्ञं भवति । उदा०—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । गन्तुम् । वक्षे रायः । पिबध्यै ।

४०. क्त्वा-तोसुन्-कसुनः

पद०—क्त्वातोसुन्कसुनः १ । स०—क्त्वा च तोसुन् च कसुन् च ते (इ० द्व०) । वृ०—क्त्वातोसुन्कसुनन्तं कृदन्तं शब्दरूपम् अव्ययं भवति । उदा०—कृत्वा । पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः । पुराक्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् ।

४१. अव्ययीभावश्च

पद०—अव्ययीभावः १ । च अ० । वृ०—अव्ययीभावश्च समासः अव्ययसंज्ञकः भवति । उदा०—उपाग्नि । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति ।

(समाप्तमव्ययम्)

४२. शि सर्वनाम-स्थानम् ४३

पद०—शि १ । सर्वनामस्थानम् १ । स०—सर्वाणि च तानि नामानि सर्वनामानि, तेषां स्थानम् (कर्मधारयगर्भः तत्०) । वृ०—(जश्शसोः शिः ७ । १ । २०) श्यादेशः सर्वनामस्थानसंज्ञः भवति । उदा०—कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य ।

---

३८. परिगणनीयम्—तसिलादयः प्राक्पाशपः (५।३।७–४७) । शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः (५।४।४२–६७) अम् । आम् । कृत्वोर्थाः । तसिवती । नानाञौ ।

३९. वचेः 'तुमर्थे सेसेन० ३।४।९' इति प्रत्यये कुत्वे षत्वे रूपम् । पिबतेः शध्यैप्रत्यये पिबध्यै इति रूपम् ।

४०. उदेतोः इत्यत्र 'भावलक्षणे० ३।४।१६' इति तोसुन्प्रत्यये उदुपसर्गपूर्वस्येणो गुणे रूपम् । विसृपः इत्यत्र 'सृपितृदोः कसुन् ३।४।१७' इति सृपेः कसुनि रूपम् ।

४३. सुडनपुंसकस्य

पद०—सुट् १। अनपुंसकस्य ६। स०—न नपुंसकम् अनपुंसकम् तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—अनपुंसकस्य (स्त्रीपुंसस्य) सुट् (सु, औ, जस्, अम्, औट् इति सुट् प्रत्याहारः) सर्वनामस्थानसंज्ञः भवति। उदा०—राजा। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ।

४४. न वेति विभाषा

पद०—न अ०। वा अ०। इति अ०। विभाषा १। वृ०—न वा इति विभाषासंज्ञा भवति। उदा०—शुशाव। शिश्वाय। शुशुवतुः। शिश्वियतुः। (निषेधस्य विकल्पो विभाषेत्यर्थः)।

४५. इग्यणः सम्प्रसारणम्

पद०—इक् १। यणः ६। सम्प्रसारणम् १। वृ०—यणः स्थाने इक् सम्प्रसारणम् भवति। उदा०—इष्टम्। उप्तम्। गृहीतम्।

(अथ परिभाषासूत्राणि)

४६. आद्यन्तौ टकितौ

पद०—आद्यन्तौ १। टकितौ १। स०—आदिश्च अन्तश्चेति आद्यन्तौ (इ० द्व०)। टश्च कश्च टकौ, टकौ इतौ ययोः, तौ टकितौ (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—षष्ठीनिर्दिष्टस्य आदौ टिदागमः अन्ते किदागमः भवति। उदा०—लविता। मुण्डो भीषयते।

४७. मिदचोऽन्त्यात् परः

पद०—मित् १। अचः ६। अन्त्यात् ५। परः १। स०—म् इत् यस्य स मित् (बहु०)। वृ०—अचां मध्ये योऽन्त्यः अच् तस्मात् परः मिदागमः भवति। उदा०—विरुणद्धि। मुञ्चति। पयांसि।

४८. एच इग्घ्रस्वादेशे ५५

पद०—एचः ६। इक् १। ह्रस्वादेशे ७। स०—ह्रस्वस्य आदेशः ह्रस्वादेशः, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—ह्रस्वादेशे कर्तव्ये एचः स्थाने इक् भवति। उदा०—अतिरि। अतिनु। उपगु।

---

४५. अर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य स्वरकरणम् एकमात्रिकवर्णकरणमेव सम्प्रसारणम् विस्तरणम् इति सार्थकता।

४६. 'षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४९' इत्यस्यापवादोऽयम्। सिंहावलोकितन्यायेनात्र षष्ठीग्रहणं भवति। एवं ४७ सूत्रेऽपि ज्ञेयम्।

४९. षष्ठी स्थानेयोगा ५५

पद०—षष्ठी १। स्थानेयोगा १। स०—स्थाने योगो यस्याः सा स्थानेयोगा (बहु०)। वृ०—अनिर्धारितषष्ठी स्थानेयोगा भवति। उदा०—भवितुम्। भवितव्यम्। (अस्तेर्भूरादेशः)।

५०. स्थानेऽन्तरतमः

पद०—स्थाने ७। अन्तरतमः १। वृ०—स्थाने (प्रसङ्गे) अन्तरतमः (अतिसन्निहितः) आदेशो भवति। उदा०—दण्डाग्रम्। (कण्ठ्य एव दीर्घादेशः)।

५१. उरण् रपरः

पद०—उः ६। अण् १। रपरः १। स०—रः परो यस्मात् स रपरः (बहु०), रात् परः रपरः (तत्०)। वृ०—ऋवर्णस्य (ऋ इति त्रिंशतः) स्थाने अण् रपरः सन्नेव भवति। उदा०—कर्त्ता। किरति। द्वैमातुरः।

५२. अलोऽन्त्यस्य ५५, ५३

पद०—अलः ६। अन्त्यस्य ६। वृ०—अन्त्यस्य अलः स्थाने आदेशः भवति। उदा०—पञ्चगोणिः।

५३. ङिच्च

पद०—ङित् १। च अ०। स०—ङ् इत् यस्य सः ङित् (बहु०)। वृ०—अन्त्यस्य अलः स्थाने ङित् च आदेशो भवति। उदा०—होतापोतारौ। (अनेकाल्प्राप्तौ प्रवृत्तिरस्य तस्यापवादः)।

५४. आदेः परस्य

पद०—आदेः ६। परस्य ६। वृ०—परस्य विहितः आदेशः आदेः अलः स्थाने भवति। उदा०—आसीनः।

५५. अनेकाल् शित् सर्वस्य

पद०—अनेकाल् १। शित् १। सर्वस्य ६। स०—एकश्चासौ अल् एकाल् (कर्मधारयः), न एकाल् अनेकाल् (नञ्तत्०)। श् इत् यस्य सः शित् (बहु०)। वृ०—सर्वस्य अलः स्थाने अनेकाल् शित् च आदेशः भवति। उदा०—(अस्तेर्भूः २।४।५२) भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। (जश्शसोः शिः ७।१।२०) कुण्डानि तिष्ठन्ति। कुण्डानि पश्य।

(परिभाषा गता)

---

४९. स्थानेऽयोगा इति पदच्छेदं कृत्वा अयोगा षष्ठी स्थाने भवतीत्यपि सूत्रार्थः पुरुषोत्तमकृतः।

(अथ स्थानिवद्भावसूत्राणि)

५६. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ५९

पद०—स्थानिवत् अ० । आदेशः १ । अनल्विधौ ७ । स० –अलः विधिः (प० तत्०), अलः विधिः (ष० तत्०), अलि विधिः (स० तत्०), अला विधिः (तृ० तत्०), ततो (नञ्तत्०) तस्मिन् । वृ०—अनल्विधौ स्थानिवत् आदेशः भवति । उदा०—तत्रादेशोऽष्टविधः धात्वङ्ग–कृत्-तद्धिताव्यय–सुप–तिङ्–पद–भेदात् । धातोरादेशः धातुवत्–भविता । वक्ता । अङ्गादेशः अङ्गवत्-केन । काभ्याम् । कैः । कृदादेशः कृद्वत्–प्रकृत्य । प्रहृत्य । तद्धितादेशः तद्धितवत्-दाधिकम् । अव्ययादेशः अव्ययवत्-प्रस्तुत्य । सुबादेशः सुब्वत्-वृक्षाय । प्लक्षाय । तिङादेशः तिङ्वत्-अकुरुताम् । अकुरुतम् । पदादेशः पदवत्-ग्रामो वः स्वम् । जनपदो नः स्वम् ।

५७. अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ५९

पद०—अचः ६ । परस्मिन् ७ । पूर्वविधौ ७ । स०—पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः, तस्मिन् (तत्०) । वृ०—पूर्वविधौ कर्त्तव्ये परस्मिन् (निमित्ते) अचः स्थाने आदेशः स्थानिवत् भवति । उदा०—पटयति । अवधीत् ।

५८. न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्विधिषु

पद०—न अ० । पदान्त···श्चर्विधिषु ७ । स०—पदान्तश्च द्विर्वचनं च वरे च यलोपश्च स्वरश्च सवर्णश्च अनुस्वारश्च दीर्घश्च जश्च चर् च पदान्त··· चरः तेषां विधयः तेषु (द्वन्द्वगर्भः तत्०) । वृ०–पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु पूर्वविधौ कर्त्तव्ये परस्मिन् (निमित्ते) अचः स्थाने आदेशः स्थानिवत् न भवति । उदा०—पदान्तविधिः—कौ स्तः । द्विर्वचनविधिः–दद्ध्यत्र । वरेविधिः—अप्सु यायावरः प्रवेपत पिण्डान् । यलोपविधिः—कण्डूतिः । स्वरविधिः—चिकीर्षकः । सवर्णविधिः—शिण्ढि । अनुस्वारविधिः—शिषन्ति । दीर्घविधिः-प्रतिदीव्ना । जश्विधिः—सग्धिः । चर्विधिः—जक्षतुः ।

५९. द्विर्वचनेऽचि

पद०—द्विर्वचने ७ । अचि ७ । वृ०—द्विर्वचने (निमित्ते) द्विर्वचने कर्त्तव्ये अचि परे अचः स्थाने आदेशः स्थानिवत् भवति । (इत्येकोऽर्थः) । (द्वितीयोऽर्थोऽपि अत्र भवति) द्विर्वचने कर्त्तव्ये द्विर्वचने (निमित्ते) अचि

---

५९. 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यत्र भाष्यप्रामाण्याद् द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च द्विर्वचनम्, तस्मिन् इति एकत्र निमित्ते सप्तमी अन्यत्र विषयसप्तमीति उपरि द्विविधोऽर्थो दर्शितः । यद्यपि 'न' पदावृत्त्या योऽर्थो भवति सरलस्तथापि भाष्यासम्मतत्वादुपेक्षितोऽस्ति । छात्रैर्गृहीतश्चेत् सारल्यमेव स्याद् द्वित्वे । इत्यलम् ।

परे अचः स्थाने आदेशः न भवति। द्विर्वचनमेव भवति रूपातिदेशोऽयम् नियतकालश्च तेन कृते द्वित्वे पुनरादेशरूपमेवावतिष्ठते। उदा०—पपतुः। पपुः। जघ्नतुः। जघ्नुः। आटिटत्। चक्रतुः। चक्रुः। निनय। निनाय। लुलव। लुलाव।

(इति स्थानिवद्भावः)

६०. अदर्शनं लोपः ६१

पद०—अदर्शनम् १। लोपः १। स०—न दर्शनं अदर्शनम् (नञ्तत्०)। वृ०—(विद्यमानस्य) अदर्शनं लोपसंज्ञा भवति। उदा०—(गोधाया ढ्रक् ४।१।१२९) गौधेरः।

६१. प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः

पद०—प्रत्ययस्य ६। लुक्श्लुलुपः १। स०—लुक् च श्लुश्च लुप् च (इ० द्व०)। वृ०—प्रत्ययादर्शनस्य लुक्, श्लु, लुप् इत्येताः संज्ञा भवन्ति। उदा०—अत्ति। जुहोति। वरणाः।

६२. प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम् ६३

पद०—प्रत्ययलोपे ७। प्रत्ययलक्षणम् १। स०—प्रत्ययस्य लोपः प्रत्ययलोपः, तस्मिन् (तत्०)। प्रत्ययः लक्षणं यस्य कार्यस्य तत् (बहु०)। वृ०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं (कार्यम्) भवति। उदा०—अग्निचित्।

६३. न लुमताऽङ्गस्य

पद०—न अ०। लुमता ३। अङ्गस्य ६। वृ०—लुमता शब्देन प्रत्ययलोपे अङ्गस्य प्रत्ययलक्षणं कार्यं न भवति। उदा०—गर्गाः। मृष्टः। जुहुतः।

६४. अचोऽन्त्यादि टि

पद०—अचः ६। अन्त्यादि १। टि १। स०—अन्त्यः (अच्) आदिः यस्य तत् अन्त्यादि (बहु०)। वृ०—अचां मध्ये योऽन्त्योऽच् तदादिकशब्दरूपं टिसंज्ञं भवति। उदा०—अग्निचित्। (अत्र 'इत्' शब्दः टिसंज्ञः। 'शक' अत्र कस्याकारः)।

६५. अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा

पद०—अलः ५। अन्त्यात् ५। पूर्वः १। उपधा १। वृ०—अन्त्यादलः पूर्वः (अल्) वर्णः उपधासंज्ञः भवति। उदा०—पच इत्यत्र अकारः। राम इत्यत्र मकारः।

---

६३. लुः अस्ति अस्मिन् इति लुमान् तेन लुमता लुशब्दवता लुका श्लुना लुपा इत्यर्थः।

६६. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ६७

पद०—तस्मिन् ७। इति अ०। निर्दिष्टे ७। पूर्वस्य ६। वृ०—तस्मिन्निति सप्तमीनिर्देशे पूर्वस्य (अव्यवहितपूर्वस्य) कार्यं भवति। उदा०—(इको यणचि ६।१।७७) दध्युदकम्।

६७. तस्मादित्युत्तरस्य

पद०—तस्मात् ५। इति अ०। उत्तरस्य ६। वृ०—तस्मादिति पञ्चमीनिर्देशे उत्तरस्य (परस्य) कार्यं भवति। उदा०—(तिङ्ङतिङ० ८।१।२८) ओदनं पचति। आसीनः।

(अथ ग्रहणसूत्राणि)

६८. स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-संज्ञा ७२

पद०—स्वम् १। रूपम् १। शब्दस्य ६। अशब्दसंज्ञा १। स०—शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा (ष० त०), न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा (नञ्तत्०)। वृ०—शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं भवति अशब्दसंज्ञा (शब्दसंज्ञां विहाय)। उदा०—(अग्नेर्ढक् ४।२।३३) आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् इति घु-घ-ग्रहणेन तदर्थस्य संज्ञिन एव ग्रहणम्, न तु तद्रूपस्य घोः घस्य वा।

६९. अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः

पद०—अण् १। उदित् १। सवर्णस्य ६। च अ०। अप्रत्ययः १। स०—उत् इत् यस्य स उदित् (बहु०)। न प्रत्ययः अप्रत्ययः (नञ्तत्०)। वृ०—अणुदित् (अण्—अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल। उदित्=कु चु टु तु पु) सवर्णस्य च स्वस्य रूपस्य ग्राहको भवति अप्रत्ययः (प्रत्ययभिन्नः)। उदा०—आद् गुणः ६।१।८७। चुटू १।३।७।

७०. तपरस्तत्कालस्य

पद०—तपरः १। तत्कालस्य ६। स०—तः परो यस्मात् स तपरः (बहु०), तात् परः तपरः (तत्०)। तस्य कालः तत्कालः (तत्०), तत्काल इव कालः यस्य स तत्कालः तस्य (उत्तरपदलोपी बहु०)। वृ०—तपरः वर्णः तत्कालस्य गुणान्तरयुक्तस्य सवर्णस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति। उदा०—(अतो भिस ऐस् ७।१।९) वृक्षैः। प्लक्षैः। ('विड्वनोरनुनासिकस्यात् ६।४।४१') इति तपरत्वात् आकार एवान्तादेशो भवति) अब्जाः। गोजाः।

७१. आदिरन्त्येन सहेता

पद०—आदिः १। अन्त्येन ३। सह अ०। इता ३। वृ०—आदिः अन्त्येन इता सह मध्यस्थस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति। उदा०—अण्—अ इ उ। अक्—अ इ उ ऋ लृ। तिङ्। सुप्।

---

६९. पूर्वेणैवाण्ग्रहाः सर्वे परेणैवेण् ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित् सवर्णस्य चैतदेकं परेण तु॥

७२. येन विधिस्तदन्तस्य

पद०—येन ३। विधिः १ तदन्तस्य ६। स०—स अन्ते यस्य स तदन्तः, तस्य (बहु०)। वृ०—येन विशेषणेन विधिः विधीयते स तदन्तस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति। उदा०—(एरच् ३।३।५६) चयः। जयः। अयः। प्रत्ययः।

वा० यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे

पद०—यस्मिन् ७। विधिः १। तदादौ ७। अल्ग्रहणे ७। स०—तस्यादिस्तदादिस्तस्मिन् (तत्०)। अलः ग्रहणमल्ग्रहणं तस्मिन् (तत्०)। वृ०—अल्ग्रहणे यस्मिन् विधिस्तदादौ इति वक्तव्यम्। उदा०—श्रियः। भुवः।

(इति ग्रहणसूत्राणि)

(अथ वृद्धसूत्राणि)

७३. वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् ७५

पद०—वृद्धिः १। यस्य ६। अचाम् ६। आदिः १। तद् १। वृद्धम् १। वृ०—अचां मध्ये यस्य आदिः अच् वृद्धिसंज्ञकः तच्छब्दरूपं वृद्धसंज्ञकं भवति। उदा०—शालीयः। मालीयः।

७४. त्यदादीनि च

पद०—त्यदादीनि १। च० अ०। स०— त्यद् आदिः येषां तानि त्यदादीनि (बहु०)। वृ०—त्यदादीनि शब्दरूपाणि च वृद्धसंज्ञकानि भवन्ति। उदा०—त्वदीयः। मदीयः।

७५. एङ् प्राचां देशे

पद०—एङ् १। प्राचाम् ६। देशे ७। वृ०—प्राचां देशे यस्य शब्दरूपस्य अचां मध्ये आदिः एङ् तच्छब्दरूपं वृद्धसंज्ञं भवति। उदा०—गोनर्दीयः।

वा० वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वाच्या

पद०—वा अ०। नामधेयस्य ६। वृद्धसंज्ञा १। वाच्या १। वृ०—मनुष्यनाम्नः विकल्पेन वृद्धसंज्ञा भवति। उदा०—गोपालीया, गोपालस्येयम् कृतिर्वा।ः।

(इति वृद्धसूत्राणि)

(वृद्धि०[१] आद्यन्तवद्०[२] अव्ययीभावश्च[३] प्रत्ययस्य० पञ्चदश च
इति प्रथमः पादः)

॥इति बृहद्दजुपाणिनीये प्रथमाध्याये प्रथमः पादः॥ १॥

॥ इति शिवम् ॥ ७० ॥

---

७५. शरावतीनामका नदी उत्तरपूर्वाभिमुखा वहति। तस्या दक्षिणपूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः। उत्तरावरस्यामुत्तरदेशः। तथाहि—

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥

अथ द्वितीयः पादः

(अथ ङिदतिदेशप्रकरणम्)

१. गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ४

पद०—गाङ्कुटादिभ्यः ५। अञ्णित् १। ङित् १। स०—कुट आदिर्येषां ते, कुटादयः (बहु०), गाङ् च कुटादयश्च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। ञ् च ण् च ञ्णौ तौ इतौ यस्य स ञ्णित् (द्वन्द्वगर्भो बहु०), न ञ्णित् अञ्णित् (नञ्तत्०)। ङ् इत् यस्य स ङित् (बहु०)। वृ०—गाङादेशाद् धातोः कुटादिभ्यः धातुभ्यश्च परः ञिण्णिद्भिन्नः प्रत्ययः ङिद् भवति। उदा०—अध्यगीष्ट। कुटिता। (इङो गाङादेशोऽत्र। कुट—कौटिल्ये। तुदादौ)।

२. विज इट् ३

पद०—विजः ५। इट् १। वृ०—'ओविजी' धातोः परः इडादिः प्रत्ययः ङिद् भवति। उदा०—उद्विजिता। उद्विजितुम्। उद्विजितव्यम्।

३. विभाषोर्णोः

पद०—विभाषा १। ऊर्णोः ५। वृ०—'ऊर्णुञ्' धातोः परः इडादिः प्रत्ययः विभाषा ङिद् भवति। उदा०—प्रोर्णुविता। प्रोर्णविता।

४. सार्वधातुकमपित् ५

पद०—सार्वधातुकम् १। अपित् १। स०—प् इत् यस्य स पित् (बहु०), न पित् अपित् (नञ्तत्०)। वृ०—अपित् सार्वधातुकं ङिद् भवति। उदा०—कुरुतः। कुर्वन्ति।

(इति ङिदतिदेशम्)

(अथ किदतिदेशप्रकरणम्)

५. असंयोगाल्लिट् कित् ६, २६

पद०—असंयोगात् ५। लिट् १। कित् १। स०—न संयोगः असंयोगः तस्मात् (नञ्तत्०)। वृ०—असंयोगान्तात् धातोः परः अपित् लिट् प्रत्ययः किद् भवति। उदा०—बिभिदतुः।

---

१. अङ्क्ति ङ्किद्वदुपदेशाद् अतिदेशः ङिद्भवति ङिद्वद्भवतीत्यर्थः।

७. मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा ८

पद०—मृड…वसः ५ । क्त्वा १ । स०—मृडश्च मृदश्च गुधश्च कुषश्च क्लिशश्च वदश्च वस् च तेषां समाहारः मृड……वस्, तस्मात् (स० द्व०) । वृ०—मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद, वस् इत्येतेभ्यः परः क्त्वा प्रत्ययः किद् भवति । उदा०—मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । क्लिशित्वा । उदित्वा । उषित्वा ।

८. रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः सँश्च १०

पद०—रुद…प्रच्छः ५ । सन् १ । च अ० । स०—रुदश्च विदश्च मुषश्च ग्रहिश्च स्वपिश्च प्रच्छ् च तेषां समाहारः रुद…प्रच्छ्, तस्मात् (स० द्व०) । वृ०—रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ इति एतेभ्यो धातुभ्यः परौ सन् क्त्वा च प्रत्ययौ कितौ भवतः । उदा०—रुदित्वा । रुरुदिषति । विदित्वा । विविदिषति । मुषित्वा । मुमुषिषति । गृहीत्वा । जिघृक्षति । सुप्त्वा । सुषुप्सति । पृष्ट्वा । पिपृच्छिषति ।

९. इको झल् ११, १३

पद०—इकः ५ । झल् १ । वृ०—इगन्तात् धातोः परः झलादिः सन् किद् भवति । उदा०—चिचीषति । तुष्टूषति । चिकीर्षति ।

१०. हलन्ताच्च ११

पद०—हलन्तात् ५ । च अ० । स०—हल् चासौ अन्तः हलन्तः तस्मात् (कर्मधारयः) । वृ०—इकः समीपात् हलः परः झलादिः सन् किद् भवति । उदा०—बिभित्सति । बुभुत्सते ।

११. लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु १३, १७

पद०—लिङ्सिचौ १ । आत्मनेपदेषु ७ । स०—लिङ् च सिच् च (इ० द्व०) । आत्मने पदानि तेषु (तत्०) । वृ०—इकः समीपात् हलः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदेषु कितौ भवतः । उदा०—भित्सीष्ट । भुत्सीष्ट । अभित्त । अबुद्ध ।

१२. उश्च

पद०—उः ५ । च अ० । वृ०—ऋवर्णान्ताद् धातोः परौ झलादी लिङ्-सिचौ आत्मनेपदेषु कितौ भवतः । उदा०—कृषीष्ट । अकृत ।

---

१०. अन्तशब्दः समीपवाची तस्य च इकान्वयः, इक्समीपात् हलः इति ।

१३. वा गमः

पद०—वा १ । गमः ५ । वृ०—गमः धातोः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदेषु वा कितौ भवतः । उदा०—संगसीष्ट । संगसीष्ट । समगंस्त । समगत ।

१४. हनः सिच्　　　　१७

पद०—हनः ५ । सिच् १ । वृ०—हनः धातोः परः सिच् आत्मनेपदेषु किद् भवति । उदा०—आहत । आहसाताम् । आहसत । ('आङो यमहनः १।३।२८' इत्यात्मनेपदम्) ।

१५. यमो गन्धने　　　　१६

पद०—यमः ५ । गन्धने ७ । वृ०—गन्धने अर्थे यमः धातोः परः सिच् आत्मनेपदेषु किद् भवति । उदा०—उदायत । उदायसाताम् । उदायसत ।

१६. विभाषोपयमने

पद०—विभाषा १ । उपयमने ७ । वृ०—उपयमने अर्थे (विवाहेऽर्थे) यमः धातोः परः सिच् आत्मनेपदेषु विभाषा किद् भवति । उदा०—उपायत । उपायंस्त । ('उपाद्यमः स्वकरणे १।३।५६' इत्यात्मनेपदम्) ।

१७. स्थाघ्वोरिच्च

पद०—स्थाघ्वोः ६ । इत् १ । च अ० । स०—स्थाश्च घुश्चेति स्थाघू, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—स्थाघुभ्यां परः सिच् आत्मनेपदेषु किद् भवति, स्थाघ्वोः इच्च भवति । उदा०—उपास्थित । अदित । ('अकर्मकाच्च १।३।२६' इत्यात्मनेपदम्) ।

१८. न क्त्वा सेट्　　　　२५, २६

पद०—न अ० । क्त्वा १ । सेट् १ । स०—इटा सह वर्त्तते इति सेट् (बहु०) । वृ०—सेट् क्त्वा प्रत्ययः किन्न भवति । उदा०—देवित्वा । वर्त्तित्वा ।

१९. निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः　　　　२२

पद०—निष्ठा १ । शीङ्···धृषः ५ । स०—शीङ् च स्विदिश्च मिदिश्च क्ष्विदिश्च धृट् च तेषां समाहारस्तत्, तस्मात् (स० द्व०) । वृ०—शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि, धृष् इत्येतेभ्यः धातुभ्यः परः सेट् निष्ठा प्रत्ययः किन्न भवति । उदा०—शयितः । शयितवान् । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रक्ष्वेदितः । प्रक्ष्वेदितवान् । प्रधर्षितः । प्रधर्षितवान् ।

२०. मृषस्तितिक्षायाम्

पद०—मृषः ५। तितिक्षायाम् ७। वृ०—तितिक्षायाम् अर्थे मृषः धातोः परः सेट् निष्ठा प्रत्ययः किन्न भवति। उदा०—मर्षितः। मर्षितवान्।

२१. उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्

पद०—उदुपधात् ५। भावादिकर्मणोः ७। अन्यतरस्याम् ७। स०—उत् उपधा यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। भावश्च आदिकर्म च भावादिकर्मणी, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—उदुपधात् धातोः परः भावे आदिकर्मणि च सेट् निष्ठा प्रत्ययः अन्यतरस्यां किन्न भवति। उदा०—द्युतितमनेन। द्योतितमनेन। मुदितमनेन। मोदितमनेन। प्रद्युतितः। प्रद्योतितः। प्रमुदितः। प्रमोदितः। ('आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च। ३।४।७१' इति क्तः)।

२२. पूङः क्त्वा च २६

पद०—पूङः ५। क्त्वा १। च अ०। वृ०—पूङः धातोः परौ सेट्क्त्वानिष्ठा-प्रत्ययौ कितौ न भवतः। उदा०—पवित्वा। पवितः। पवितवान्।

२३. नोपधात् थ-फान्ताद् वा २६

पद०—नोपधात् ५। थफान्तात् ५। वा अ०। स०—न उपधा यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। थश्च फश्च थफौ, तौ अन्ते यस्य स थफान्तः, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—नोपधात् थफान्तात् धातोः परः सेट् क्त्वा प्रत्ययः वा किन्न भवति। उदा०—ग्रथित्वा। ग्रन्थित्वा। गुफित्वा। गुम्फित्वा।

२६. रलो व्युपधाद्धलादेः सँश्च

पद०—रलः ५। व्युपधात् ५। हलादेः ५। सन् १। च अ०। स०—उश्च इश्च वी, वी उपधे यस्य सः, तस्मात् (इ० द्वन्द्वगर्भो बहु०)। हल् आदिर्यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—व्युपधात् रलन्तात् हलादेः धातोः परौ सेट्सन्क्त्वा-प्रत्ययौ वा कितौ भवतः। उदा०—द्युतित्वा। द्योतित्वा। दिद्युतिषते। दिद्योतिषते। लिखित्वा। लेखित्वा। लिलिखिषति। लिलेखिषति।

(इति किदतिदेशम्)

---

२३. नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजः शकारश्चुषाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥ इति ॥

२७. ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः　　३१, २८

पद०—ऊकालः १। अच् १। ह्रस्वदीर्घप्लुतः १। स०—उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य स ऊकालः (बहु०)। ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। वृ०—उ, ऊ, उ ३ इत्येवंकालोऽच् यथाक्रमं ह्रस्वदीर्घप्लुत इत्येवं संज्ञो भवति। उदा०—दधि। कुमारी। देवदत्त ३। (कु कू कु ३ इति कुक्कुटशब्दानुकरणं सूत्रमिदम्। तदेवोदाहरणमुचितम्)।

२८. अचश्च

पद०—अचः ६। च अ०। वृ०—यत्र ह्रस्वदीर्घप्लुतशब्दैः ह्रस्वदीर्घप्लुतो वा अच् विधीयते, तत्र अचः इति षष्ठ्यन्तं पदम् उपतिष्ठते। उदा०—अतिरि। अतिनु। उपगु।

२९. उच्चैरुदात्तः

पद०—उच्चैः अ०। उदात्तः १। वृ०—ताल्वादिस्थानेषु समाने स्थाने उच्चैरुपलभ्यमानः ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति। उदा०—ये। ते। के।

३०. नीचैरनुदात्तः

पद०—नीचैः अ०। अनुदात्तः १। वृ०—ताल्वादिषु समाने स्थाने नीचैरुपलभ्यमानोऽधोभागनिष्पन्नोऽच् अनुदात्तसंज्ञो भवति। उदा०—त्व। सम। सिम। नेम। नमस्ते रुद्र नीलकण्ठ सहस्राक्ष।

३१. समाहारः स्वरितः

पद०—समाहारः १। स्वरितः १। वृ०—उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति। उदा०—शिक्यम्। कन्या। सामन्यः। क्व।

३३. एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ　　३९

पद०—एकश्रुति १। दूरात् ५। सम्बुद्धौ ७। स०—एका श्रुतिः (श्रवणम्) यस्य तत् वाक्यम् (बहु०)। वृ०—दूरात् सम्बोधने सति उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् एकश्रुति वाक्यं भवति। उदा०—आगच्छ भो माणवक! देवदत्त ३!

३६. विभाषा छन्दसि

पद०—विभाषा १। छन्दसि ७। वृ०—छन्दसि विभाषा एकश्रुति वाक्यं भवति। उदा०—इषे त्वोर्ज्जे त्वा, इषे त्वोर्ज्जे त्वा। अग्न आयाहि वीतये। अग्न आयाहि वीतये। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्निमीळे पुरोहितम्। शन्नो देविरभीष्टये। शन्नो देविरभीष्टये।

---

२७. 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इत्यनेन न नपुंसकत्वम्।

४१. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः

पद०—अपृक्तः १। एकाल् १। प्रत्ययः १। स०—न पृक्तः अपृक्तः (नञ्तत्०)। एकः अल् यस्मिन् सः (बहु०)। वृ०—एकाल् प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञो भवति। उदा०—घृतस्पृक्।

४२. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः

पद०—तत्पुरुषः १। समानाधिकरणः १। कर्मधारयः १। स०—स चासौ पुरुषः तत्पुरुषः (कर्म०)। समानम् अधिकरणं यस्य सः (बहु०)। वृ०—समानाधिकरणः तत्पुरुषः समासः कर्मधारयसंज्ञो भवति। उदा०—परम-राज्यम्। उत्तमराज्यम्।

४३. प्रथमा-निर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ४४

पद०—प्रथमानिर्दिष्टम् १। समासे ७। उपसर्जनम् १। स०—प्रथमया निर्दिष्टं प्रथमानिर्दिष्टम् (तत्०)। वृ०—समासे (समाससूत्रे) प्रथमानिर्दिष्टं पदम् उपसर्जनसंज्ञं भवति। उदा०—कष्टश्रितः। शङ्कुलाखण्डः।

४४. एक-विभक्ति चापूर्वनिपाते

पद०—एकविभक्ति १। च० अ०। अपूर्वनिपाते ७। स०—एका विभक्तिः यस्य तद् एकविभक्ति (बहु०)। पूर्वः चासौ निपातः पूर्वनिपातः, न पूर्वनिपातः अपूर्वनिपातः, तस्मिन् (कर्मधारयगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—समासविग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं भवति अपूर्वनिपाते सति पूर्वनिपाताख्यं कार्यं वर्जयित्वा। उदा०—निष्कौशाम्बिः।

४५. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ४६

पद०—अर्थवत् १। अधातुः १। अप्रत्ययः १। प्रातिपदिकम् १। स०—न धातुः अधातुः (नञ्तत्०)। न प्रत्ययः अप्रत्ययः (नञ्तत्०)। वृ०—अर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं भवति धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा। उदा०—डित्थः। कपित्थः।

४६. कृत्-तद्धित-समासाश्च

पद०—कृत्तद्धितसमासाः १। च अ०। स०—कृत् च तद्धितश्च समासश्च (इ० द्व०)। वृ०—कृदन्तास्तद्धितान्ताः समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञा भवन्ति। उदा०—कृत्-कारकः। तद्धितः-औपगवः। समासः-राजपुरुषः।

४७. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य   ४८

पद०—ह्रस्वः १ । नपुंसके ७ । प्रातिपदिकस्य ६ । वृ०—नपुंसके प्रातिपदिकस्य ह्रस्व आदेशो भवति । उदा०—अतिरि कुलम् । अतिनु कुलम् । ('एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८' इति ह्रस्वः) ।

४८. गो-स्त्रियोरुपसर्जनस्य

पद०—गोस्त्रियोः ६ । उपसर्जनस्य ६ । स०—गौश्च स्त्री च गोस्त्रियौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—उपसर्जनगोशब्दान्तस्य उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति । उदा०—चित्रगुः । निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः ।

६४. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ   ७२

पद०—सरूपाणाम् ६ । एकशेषः १ । एकविभक्तौ ७ । स०—समानं रूपं येषां ते सरूपाः, तेषाम् (बहु०) । एकस्य शेषः एकशेषः (तत्०) । एका चासौ विभक्तिः एकविभक्तिः, तस्याम् (कर्म०) । वृ०—सरूपाणां शब्दानाम् एकविभक्तौ एकशेषः भवति । उदा०—वृक्षौ (वृक्षश्च वृक्षश्च) ।

६५. वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः   ६६, ६९

पद०—वृद्धः १ । यूना ३ । तल्लक्षणः १ । चेत् अ० । एव अ० । विशेषः १ । स०—तौ (वृद्ध-युवानौ) लक्षणौ यस्य स (विशेषः) (बहु०) । वृ०—यूना सह वृद्धः शिष्यते, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः (तयोः युवगोत्रप्रत्ययकृतं वैरूप्यं चेत्) । उदा०—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । (वृद्धशब्दः गोत्रवाची, लक्षणं निमित्तं विशेषः वैरूप्यम्) ।

६६. स्त्री पुंवच्च

पद०—स्त्री १ । पुंवत् अ० । च अ० । वृ०—यूना सह वृद्धा स्त्री शिष्यते, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, पुंवच्च तत्कार्यं भवति । उदा०—गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी ।

६७. पुमान् स्त्रिया

पद०—पुमान् १ । स्त्रिया ३ । वृ०—स्त्रिया सह पुमान् शिष्यते, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः । उदा०—ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च ब्राह्मणौ । हंसौ ।

६८. भ्रातृ-पुत्रौ स्वसृ-दुहितृभ्याम्

पद०—भ्रातृपुत्रौ १। स्वसृदुहितृभ्याम् ३। स०—भ्राता च पुत्रश्च भ्रातृपुत्रौ (इ० द्व०)। स्वसा च दुहिता चेति ते, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—स्वसृदुहितृभ्याम् सह भ्रातृपुत्रौ शिष्येते, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः। उदा०—स्वसा च भ्राता च भ्रातरौ। दुहिता च पुत्र च पुत्रौ।

६९. नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ७१

पद०—नपुंसकम् १। अनपुंसकेन ३। एकवत् अ०। च अ०। अन्यतरस्याम् ७। स०—न नपुंसकम् अनपुंसकम्, तेन (नञ्तत्०)। वृ०—अनपुंसकेन सह नपुंसकं शिष्यते, एकवत् चास्य कार्यं भवति अन्यतरस्याम्, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः। उदा०- शुक्लश्च शुक्ला च शुक्लं च तदिदं शुक्लम्, तानीमानि शुक्लानि। शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी (वृहतिका वा) शुक्लं वस्त्रमित्यर्थः।

७०. पिता मात्रा

पद०—पिता १। मात्रा ३। वृ०—मात्रा सह पिता शिष्यते अन्यतरस्याम्। उदा०—पितरौ। मातापितरौ वा।

७१. श्वशुरः श्वश्र्वा

पद०—श्वशुरः १। श्वश्र्वा ३। वृ०—श्वश्र्वा सह श्वशुरः शिष्यते अन्यतरस्याम्। उदा०—श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ वा।

७२. त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्

पद०—त्यदादीनि १। सर्वैः ३। नित्यम् १। स०—त्यद् आदिः येषां तानि, त्यदादीनि (बहु०)। वृ०—सर्वैः सह त्यदादीनि शब्दरूपाणि नित्यं शिष्यन्ते। उदा०—स च देवदत्तश्च तौ। यश्च देवदत्तश्च यौ।

वा० त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते

पद०—त्यदादीनाम् ६। मिथः अ०। सह अ०। उक्तौ ७। यत् १। परम् १। तत् १। शिष्यते १। वृ०—अनेन वार्तिकेन परशेषः भवति। उदा०—स च त्वं च अहं च वयम्। स च यश्च यौ। यश्च कश्च कौ।

७३. ग्राम्य-पशु-संघेष्वतरुणेषु स्त्री

पद०—ग्राम्यपशुसंघेषु ७ । अतरुणेषु ७ । स्त्री १ । स०—ग्रामे भवा ग्राम्याः, ग्राम्याश्च ते पशवः ग्राम्यपशवः, तेषां संघाः, तेषु (पूर्वत्र कर्मधारय उत्तरत्र षष्ठीतत्०) । न विद्यन्ते तरुणाः येषु अतरुणाः तेषु (बहु०), सामर्थ्यात् पशुविशेषणम् । वृ०—अतरुणग्राम्यपशुसंघेषु स्त्री शिष्यते । उदा०—गाव इमाः । अजा इमाः । वत्सा इमे । वर्करा इमे ।

(गाङ्कुटादि०[1] उदुपधाद्०[2] अपृक्त०[3] छन्दसि पुनर्वसोः त्रयोदश च इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ४८ ॥

विशेषटिप्पणी—एकशेषप्रकरणेऽत्र व्यक्तिपक्षः (भेदः) अत एवैकशेषः संगच्छते । यथा—ब्रह्मैवानेकतां गत्वोन्मेषे जगद्भवति । निमेषे चैकमेव शिष्यते ब्रह्म । स्त्रीपुंसशेषे च शक्ति-शक्तिमतोरभेदात् शक्तिमति एव शक्तिस्तिष्ठति ।

'शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥' इति न्यायादेव 'स्त्री पुंवच्च १।२।६६' इत्यादिसूत्राणि । त्यदादिशेषे व्याकरणस्याध्यात्मताहेतुः । तथाहि—सर्वे आत्मानम् 'अहम्' इति शब्देनैव बोधयन्ति । परस्परोपस्थितौ एक आत्मानम् 'अहम्' अन्यं 'त्वम्' इति वक्ति । तत्रैवान्योपस्थितौ 'तम्' 'सः' शब्देन बोधयति । इत्येवम् एक एव 'अहम्' शब्दः त्रिधा विभक्तो जायते । तत्र प्राधान्यम् अहम् एव । यतो हि स एव 'अहम्' त्वम् स सा तद् इत्यादि सर्वं भवति । यथा एकमेव ब्रह्म सर्वं जगदिति अध्यात्मशास्त्रं व्याकरणम् ।

अथ तृतीयः पादः

१. भूवादयो धातवः. ९३

पद०—भूवादयः १। धातवः १। स०—भू आदिर्येषां ते (बहु०)। वृ०—क्रियावाचिनः भूवादयः धातुसंज्ञा भवन्ति। उदा०—'भू' सत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाषः—भवति। 'एध' वृद्धौ अनुदात्तेत् सेट्—एधते।

२. उपदेशेऽजनुनासिक इत् ८

पद०—उपदेशे ७। अच् १। अनुनासिकः १। इत् १। वृ०—उपदेशे अनुनासिकः अच् इत्संज्ञो भवति। उदा०—एधँ इत्यत्र अकार इत्। (प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः)।

३. हलन्त्यम् ४

पद०—हल् १। अन्त्यम् १। वृ०—उपदेशे अन्त्यं हल् इत्संज्ञं भवति। उदा०—'अइउण्' इत्यादि चतुर्दशसूत्रेषु अन्तिमो हल् (अज्भीनं व्यञ्जनं हल इति प्राचां संज्ञा पाणिनिरूपे हल् प्रत्याहारः) इत् भवति।

---

१. भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते।
भुवो वार्थं वदन्तीति भ्वर्था वा वादयः स्मृताः॥ इति॥

भू 'आदिर्येषामि'ति विगृह्य बहुव्रीहौ "इकां यणिभर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्" इति यण्व्यवधाने भूवादिशब्दस्य बहुवचनम्। भूश्च वाश्चेति व्यर्थकल्पना, धातुपाठात् क्रियावाचित्वलाभात् इति। (स्वामि-प्रह्लाद-गिरिः)

२. धातु - सूत्र - गणोणादिवाक्य-लिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

अनुनासिकः पाठः लेखकप्रमादाद् भ्रष्टः इति प्रतिज्ञया आनुनासिक्यज्ञानकल्पना इति। कारिकाप्यत्र—

एकाजूणुंनदन्तानां दीधीवेव्योश्च जीर्यते।
जागर्तेश्च दरिद्रातेर्नानुनासः प्रयुज्यते॥

४. न विभक्तौ तु-स्-माः

पद०—न अ०। विभक्तौ ७। तुस्माः १। स०—तुश्च स् च मश्च (इ० द्व०)। वृ०—उपदेशे विभक्तौ तवर्गसकारमकाराः इत्संज्ञका न भवन्ति। उदा० वृक्षात्। ब्राह्मणाः। पचतः। आभ्याम्। अपचताम्।

५. आदिर्ञि-टु-डवः ८

पद०—आदिः १। ञिटुडवः १। स०—ञिश्च टुश्च डुश्च (इ० द्व०)। वृ०—उपदेशे धातोः आदयः ञि, टु, डु एते इत्संज्ञकाः भवन्ति। उदा०—ञिमिदा—भिन्नः। टुवेपृ—वेपथुः। डुपचष्—पक्त्रिमम्।

६. षः प्रत्ययस्य ८

पद०—षः १। प्रत्ययस्य ६। वृ०—उपदेशे प्रत्ययस्य आदिः षः इत्संज्ञः भवति। उदा०—(शिल्पिनि ष्वुन् ३।१।१४५) नर्त्तकी। ('षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१' इति) ङीष् प्रत्ययः।

७. चु-टू

पद०—चुटू १। स० चुश्च टुश्च (इ० द्व०)। वृ०—उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चवर्गटवर्गौ इतौ भवतः। उदा०—(गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४।१।१८) कौञ्जायन्यः। (चरेष्टः ३।२।१६) कुरुचरी (टित्वात् ङीप्)।

८. ल-श-क्वतद्धिते

पद०—लशकु १। अतद्धिते ७। स०—लश्च शश्च कुश्च तेषां समाहारस्तत् (स० द्व०)। न तद्धितः अतद्धितः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—उपदेशे प्रत्ययस्य आदितः लकारशकारकवर्गाः इत्संज्ञाः भवन्ति अतद्धिते। (उदा०—(ल्युट् च ३।३।११५) चयनम्। (कर्त्तरि शप् ३।१।६८) भवति। (क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६) भुक्तः। ('निष्ठा ३।२।१०२' इति सूत्रम्)।

९. तस्य लोपः

पद०—तस्य ६। लोपः १। वृ०—तस्य (इत्संज्ञकस्य) लोपः भवति। उदा०—प्रोक्तानि उदाहरणानि।

१०. यथासंख्यमनुदेशः समानाम्

पद०—यथासंख्यम् अ०। अनुदेशः १। समानाम् ६। स०—संख्याम् अनतिक्रम्य (अव्ययीभावः)। अनुदेशनमनुदेशः (तत्०), शाब्दबोधकालिकः सम्बन्धः। वृ०—समानाम् (समसंख्यानाम्) यथासंख्यम् अनुदेशः भवति। उदा०—(तूदीशला० ४।३।९४) तौदेयः। शालातुरीयः। वार्मतेयः। कौचवार्यः।

११. स्वरितेनाधिकारः

पद०—स्वरितेन ३। अधिकारः १। वृ०—स्वरितेन (स्वरितचिह्नेन) अधिकारः ज्ञेयः। (पाणिनिः अधिकारचिह्नं स्वरितं दत्तवान् आसीद्। सरलोपायेन ज्ञातुमहमत्र पुस्तके स्थूलमक्षरं दत्तवानस्मि। तच्चिह्नमत्राधिकारसूचकं ज्ञेयम्।) उदा०—'प्रत्ययः ३।१।१'। 'धातोः ३।१।९१'। 'अङ्गस्य ६।४।१'।

१२. अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम् ७७

पद०—अनुदात्तङितः ५। आत्मनेपदम् १। स०—अनुदात्तश्च ङ् चानुदात्तङौ (इ० द्व०), तौ इतौ यस्य स अनुदात्तङित् तस्मात् (बहु०)। वृ०—अनुदात्तेतः ङितश्च धातोः आत्मनेपदं भवति। उदा०—आस-आस्ते। षूङ्-सूते।

१३. भाव-कर्मणोः

पद०—भावकर्मणोः ७। स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—धातोः भावे कर्मणि च आत्मनेपदं भवति। उदा०—ग्लायते भवता त्वया मया वा। क्रियते कटः तेन।

१४. कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ९३, १६

पद०—कर्त्तरि ७। कर्मव्यतिहारे ७। स०—कर्मणो व्यतिहारः, तस्मिन् (ष० तत्०)। वृ०—कर्मव्यतिहारे कर्त्तरि धातोः आत्मनेपदं भवति। उदा०—लूञ्-व्यतिलूनते।

१५. न गतिहिंसार्थेभ्यः १६

पद०—न अ०। गतिहिंसार्थेभ्यः ५। स०—गतिश्च हिंसा च गतिहिंसे (इ० द्व०) ते अर्थो येषाम् ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्यः कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न भवति। उदा०—गम्लृ—व्यतिगच्छन्ति। हिंसि—व्यतिहिंसन्ति।

१६. इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च

पद०—इतरेतरान्योऽन्योपपदात् ५। च अ०। स०—इतरञ्च इतरञ्च इतरेतरम् (स० द्व०), अन्यञ्च अन्यञ्च अन्योऽन्यम् (स० द्व०), इतरेतरम् च अन्योऽन्यम् च इतरेतरान्योऽन्यम्, इतरेतरान्योऽन्यम् उपपदम् यस्य स इतरेतरान्योऽन्योपपदः तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—इतरेतरान्योऽन्योपपदात् च धातोः कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न भवति। उदा०—इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति। अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति।

---

१२. द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

१७. नेर्विशः

पद०—नेः ५। विशः ५। वृ०—न्युपसर्गपूर्वकात् विशः धातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—'निविशते यदि शूकशिखा पदे' (नैषध ३।११)।

१८. परि-व्यवेभ्यः क्रियः

पद०—परिव्यवेभ्यः ५। क्रियः ५। स०—परिश्च विश्च अवश्च परिव्यवाः, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—परिव्यवेभ्यः उपसर्गेभ्यः 'डुक्रीञ्'धातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

१९. वि-पराभ्यां जेः

पद०—विपराभ्याम् ५। जेः ५। स०—विश्च परा च विपरे, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—विपराभ्यामुपसर्गाभ्यां जिधातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—विजयते। पराजयते।

२२. समव-प्र-विभ्यः स्थः २६

पद०—समवप्रविभ्यः ५। स्थः ५। स०—सम् च अवश्च प्रश्च विश्च समवप्रवयः, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—समवप्रविभ्यः उपसर्गेभ्यः ष्ठाधातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—सन्तिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते।

२५. उपान्मन्त्रकरणे २६

पद०—उपात् ५। मन्त्रकरणे ७। वृ०—उपोपसर्गात् ष्ठाधातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति, मन्त्रकरणे अर्थे। उदा०—ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते।

२६. अकर्मकाच्च २९

पद०—अकर्मकात् ५। च अ०। वृ०—उपोपसर्गपूर्वकात् अकर्मकात् ष्ठाधातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते।

२८. आङो यमहनः

पद०—आङः ५। यमहनः ५। स०—यमश्च हन् च तयोः समाहारः यमहन्, तस्मात् (स० द्व०) वृ०—आङुपसर्गाभ्यामकर्मकाभ्यां यमहनधातुभ्यां कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—आयच्छते। आहते।

---

२९. लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥
क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम्।
सकर्मकं तं सुधियो वदन्ति शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात्॥

२९. समो गम्यृच्छि-प्रच्छि-स्वरत्यर्ति-श्रु-विदिभ्यः

पद०—समः ५। गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः ५। स०—गमिश्च ऋच्छिश्च प्रच्छिश्च स्वरतिश्च अर्तिश्च श्रुश्च विदिश्च गम्यृ····विदयः, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—सम्पूर्वेभ्यो गमि, ऋच्छि, प्रच्छि, स्वरित, अर्ति 'श्रु' विदि इत्येतेभ्यः अकर्मकेभ्यः धातुभ्यः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—संगच्छते। समृच्छते। सम्पृच्छते। संस्वरते संकल्पा अस्य समरन्त। संश्रृणुते। संवित्ते।

५७. ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः ५९

पद०—ज्ञाश्रुस्मृदृशाम् ६। सनः ५। स०— ज्ञाश्च श्रुश्च स्मृ च दृश् च ज्ञाश्रुस्मृदृशः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश् इति एतेषां सन्नन्तानां धातूनां कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—धर्मं जिज्ञासते। गुरुं शुश्रूषते। नष्टं सुस्मूर्षते। नृपं दिदृक्षते।

५८. नानोर्ज्ञः ५९

पद०—न० अ०। अनोः ५। ज्ञः ५। वृ०—अनुपूर्वकात् सन्नन्तात् ज्ञाधातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं न भवति। उदा०—पुत्रमनुजिज्ञासति।

५९. प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः

पद०—प्रत्याङ्भ्याम् ५। श्रुवः ५। स०—प्रतिश्च आङ् च प्रत्याङौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—प्रति, आङ् इत्येवंपूर्वात् सन्नन्तात् श्रुधातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं न भवति। उदा०—प्रतिशुश्रूषति। आशुश्रूषति।

६०. शदेः शितः ६१

पद०—शदेः ५। शितः ५। स०—श् इत् यस्य स शित्, तस्मात् (बहु०)। वृ०—श्कारेतः 'शद्लृ' धातोः कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०- शीयते। ('पाघ्राध्मा० ७।३।७८' इति सूत्रम्)।

६१. म्रियतेर्लुङ्-लिङोश्च

पद०—म्रियतेः ५। लुङ्लिङोः ७। स०—लुङ् च लिङ् च लुङ्लिङौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—श्कारेतः 'मृङ्' धातोः लुङ्लिङोः च कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा० —अमृत। मृषीष्ट। म्रियते। (रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७।४।२८)।

६२. पूर्ववत् सनः

पद०—पूर्ववत् अ०। सनः ५। वृ०—सन्नन्तात् धातोः कर्त्तरि पूर्ववत् आत्मनेपदं भवति। उदा०—आसिसिषते। शिशयिषते।

---

६२. सन्नन्तात् पूर्वो धातुः आत्मनेपदी चेत्तर्हि तद्वत् सन्नन्तादपि पूर्ववत् आत्मनेपदं भवति इति स्पष्टार्थः।

६३. आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य

पद०—आम्प्रत्ययवत् अ०। कृञः ६। अनुप्रयोगस्य ६। स०—आम् प्रत्ययः यस्मात् स आम्प्रत्ययः (बहु०) 'तत्र तस्येव ५।१।११६' इति वतिप्रत्यये रूपम्। वृ०—अनुप्रयोगस्य डुकृञ्धातोः आम्प्रत्ययवत् कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—ईक्षांचक्रे। ईहांचक्रे।

६६. भुजोऽनवने

पद०—भुजः ५। अनवने ७। स०—न अवनम् अनवनम् तस्मिन् (नञ्-तत्०)। वृ०—भुजधातोः अनवने (अपालने) अर्थे कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—भुङ्क्ते। भुञ्जाते। भुञ्जते।

७२. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ७७

पद०—स्वरितञितः ५। कर्त्रभिप्राये ७। क्रियाफले ७। स०—स्वरितश्च ञ् च स्वरितञौ, तौ इतौ यस्य स स्वरितञित्, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। कर्त्तुः अभिप्रायः कर्त्रभिप्रायः तस्मिन् (षष्ठी तत्०)। क्रियायाः फलं क्रियाफलं तस्मिन् (षष्ठी तत्०)। वृ०—स्वरितञितः धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—यजते। सुनुते।

७३. अपाद्वदः

पद०—अपात् ५। वदः ५। वृ०—अपोपसर्गपूर्वकात् वदधातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—धनकामो न्यायमपवदते।

७४. णिचश्च

पद०—णिचः ५। च अ०। वृ०—णिजन्ताद् धातोः च कर्त्रभिप्राये क्रियाफले कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—कटं कारयते। ओदनं पाचयते।

७५. समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे

पद०—समुदाङ्भ्यः ५। यमः ५। अग्रन्थे ७। स०—सम् च उत् च आङ् च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। न ग्रन्थः अग्रन्थः तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—समुदाङ्पूर्वकात् यमुधातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले अग्रन्थे (ग्रन्थविषयं वर्जयित्वा) कर्त्तरि आत्मनेपदं भवति। उदा०—व्रीहीन् सँयच्छते। भारमुद्यच्छते। वस्त्रमायच्छते।

७८. शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ९३

पद०—शेषात् ५। कर्त्तरि ७। परस्मैपदम् १। वृ०—शेषात् (आत्म-

९३. अत्र 'कर्त्तरि' इति वर्त्तमानेऽपि 'कर्त्तरि' इति अनुवर्त्तते, कर्मकर्त्तृनिषेधार्थम्।

नेपदनिमित्तहीनात्) धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०—याति। वाति। आविशति। प्रविशति। (उक्तादन्यः शेषः। आत्मनेपदादन्यं परस्मैपदमत्र इत्यर्थः)।

७९. अनु-पराभ्यां कृञः

पद०—अनु-पराभ्याम् ५। कृञः ५। स०—अनुश्च परा च तौ ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—अनुपरापूर्वात् कृञः धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०–अनुकरोति। पराकरोति।

८०. अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः

पद०—अभि-प्रत्यतिभ्यः ५। क्षिपः ५। स०—अभिश्च प्रतिश्च अतिश्च ते तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—अभिप्रत्यतिपूर्वात् क्षिपः धातोः कर्त्तरि परस्मैपदम् भवति। उदा०—अभिक्षिपति। प्रतिक्षिपति। अतिक्षिपति।

८१. प्राद्वहः

पद०–प्रात् ५। वहः ५। वृ०—प्रपूर्वात् वहः धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०–प्रवहति। प्रवहतः। प्रवहन्ति।

८२. परेर्मृषः

पद०—परेः ५। मृषः ५। वृ०—परिपूर्वात् मृषः धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०–परिमृष्यति। परिमृष्यतः। परिमृष्यन्ति। (मृष-तितिक्षायामर्थे दिवादिगणपठितधातुः विद्यते। तस्मात् श्यन्विकरणत्वात् 'परिमृष्यति' इति लटि रूपम्)।

८३. व्याङ्-परिभ्यो रमः ८५

पद०—व्याङ्-परिभ्यः ५। रमः ५। स०–विश्च आङ् च परिश्च ते तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—व्याङ्परिपूर्वात् रमः धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०—विरमति। आरमति। परिरमति।

८४—उपाच्च ८५

पद०—उपात् ५। च अ०। वृ०–उपपूर्वात् च रमः धातो कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०—उपरमति।

८५. विभाषाऽकर्मकात्

पद०—विभाषा १। अकर्मकात् ५। वृ०—उपपूर्वात् अकर्मकात् रमः धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं विभाषा भवति। उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति। यावद्भुक्तमुपरमते।

८६. बुध-युध-नश-जनेङ्-प्रु-द्रु-स्रुभ्यो णेः   ८९

पद०—बुध…स्रुभ्यः ५। णेः ५। स०—बुधश्च युधश्च नशश्च जन् च इङ् च प्रुश्च द्रुश्च स्रुश्च ते तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—ण्यन्तेभ्यः बुध, युध, नश, जन्, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु, इत्येतेभ्यः धातुभ्यः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०—बोधयति। योधयति। नाशयति। जनयति। अध्यापयति। प्रावयति। द्रावयति। स्रावयति।

८७. निगरणचलनार्थेभ्यश्च

पद०—निगरण-चलनार्थेभ्यः ५। च अ०। स०—निगरणं च चलनं च निगरणचलने ते अर्थे येषां ते निगरणचलनार्थाः तेभ्यः (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—निगरण-चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्तेभ्यः धातुभ्यः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। उदा०—निगरणार्थाः—निगारयति। आशयति। भोजयति। चलनार्थाः—चलयति। चोपयति। कम्पयति।

८८. अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्त्तृकात्

पद०—अणौ ७। अकर्मकात् ५। चित्तवत्कर्त्तृकात् ५। स०—न णिः अणिः तस्मिन् (नञ्तत०)। चित्तमस्यास्तीति चित्तवत्, चित्तवत् कर्त्ता यस्मिन् स चित्तवत्कर्त्तृकः तस्मात् (बहु०)। वृ०—अण्यन्तात् अकर्मकात् चित्तवत्कर्त्तृकाच्च धातोः ण्यन्तात् कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। (अण्यन्तावस्थायां यो धातुः अकर्मकश्चित्तवत्कर्त्तृकश्च विद्यते तस्मात् ण्यन्तावस्थायां कर्त्तरि परस्मैपदं भवतीत्यर्थः)। उदा०—अण्यन्तावस्थायाम्—आस्ते देवदत्तः। शेते देवदत्तः। ण्यन्तावस्थायाम्—आसयति देवदत्तः। शाययति देवदत्तः।

९०. वा क्यषः   ९३

पद०—वा अ०। क्यषः ५। वृ०—क्यष्प्रत्ययान्तात् धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं वा भवति। उदा०—लोहितायति। लोहितायते। पटपटायति। पटपटायते। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ३।१।१३' इति सूत्रम्।

९१. द्युद्भ्यो लुङि

पद०—द्युद्भ्यः ५। लुङि ७। वृ०—द्युद्भ्यः ('द्युत-दीप्तौ' इत्यारभ्य 'कृपू-सामर्थ्ये' इति पर्यन्तेभ्यः व्यपदिष्टेभ्यः) धातुभ्यः लुङि कर्त्तरि परस्मैपदं वा भवति। उदा०—व्यद्युतत्। व्यद्योतिष्ट। अलुठत्। अलोठिष्ट।

९२. वृद्भ्यः स्यसनोः   ९३

पद०—वृद्भ्यः ५। स्य-सनोः ७। स०—स्यश्च सन् च तौ तयोः (इ० द्व०)।

वृ०—वृद्भ्यः ('वृतु-वर्त्तने' इत्यारभ्य 'कृपू-सामर्थ्ये' इति पर्यन्तेभ्यः व्यपदिष्टेभ्यः) धातुभ्यः स्यसनोः परयोः कर्त्तरि परस्मैपदं वा भवति। उदा०—वर्त्स्यति। अवर्त्स्यत्। विवृत्सति। वर्त्तिष्यते। अवर्त्तिष्यत। विवर्त्तिषते।

९३. लुटि च क्लृपः

पद०—लुटि ७। च अ। क्लृपः ५। वृ०—क्लृपः धातोः लुटि च स्यसनोश्च कर्त्तरि परस्मैपदं वा भवति। उदा०—कल्प्ता। कल्प्तारौ। कल्प्तारः। कल्प्स्यति। अकल्प्स्यत्। चिक्लृप्सति। कल्पिता। कल्पिष्यते। अकल्पिष्यत। चिकल्पिषते। (कल्प्तेत्यादौ 'तासि च क्लृपः ७।२।६०' इतीट्प्रतिषेधः)।

(भूवादयो०[१] क्रीडोऽनु०[२] वेः पाद०[३] म्रियतेः[४] प्राद्वहः त्रयोदश च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ५१ ॥

अथ चतुर्थः पादः .

१. आ कडारादेका संज्ञा २।२।३८

पद०—आ अ० । कडारात् ५ । एका १ । संज्ञा १ । वृ०—'कडाराः कर्मधारये २।२।३८' इति सूत्रपर्यन्तं एका संज्ञा भवति । सा च यदि पराऽनवकाशाऽपि स्यात्तदैवेति भावः । उदा०—अततक्षत् । अररक्षत् । अत्र संयोगपरस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वान्न 'सन्वल्लघुनि० ७।४।९३' इति सन्वद्भावः ।

२. विप्रतिषेधे परं कार्यम्

पद०—विप्रतिषेधे ७ । परम् १ । कार्यम् १ । स०—विरुद्धः चासौ प्रतिषेधः विप्रतिषेधः (तुल्यबलविरोधः) तस्मिन् (कर्म०) । वृ०—तुल्यबलविरोधे परं कार्यं भवति । उदा०—वृक्षाभ्याम् । वृक्षेषु । (स्वांशे स्वांशे चारितार्थ्ये सति युगपदेकस्मिंल्लक्ष्ये प्रवृत्तिर्विप्रतिषेधः) ।

(अथ नदीप्रकरणम्)

३. यू स्त्र्याख्यौ नदी ६

पद०—यू लुप्तविभक्तिकम् । स्त्र्याख्यौ १ । नदी १ । स०—ई च ऊ च यू (इ० द्व०) । वृ०—ईकारान्तमूकारान्तं च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञं भवति । उदा०—कुमारी । ब्रह्मबन्धूः ।

४. नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ६

पद०—न अ० । इयङुवङ्स्थानौ १ । अस्त्री १ । स०—इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ तौ स्थानं ययोः इति (द्वन्द्वगर्भो बहु०) । न स्त्री अस्त्री (नञ्तत्०) । वृ०—इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू नदीसंज्ञौ न भवतः स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । उदा०—हे श्रीः । हे भ्रूः ।

५. वाऽऽमि ६

पद०—वा अ० । आमि ७ । वृ०—इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि विभक्तौ नदीसंज्ञौ वा भवतः स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । उदा०—श्रियाम् । श्रीणाम् । भ्रुवाम् । भ्रूणाम् ।

६. ङिति ह्रस्वश्च ७

पद०—ङिति ७। ह्रस्वः १। च अ०। वृ०—ङिति परतः ह्रस्वश्च (य्वोः सम्बन्धी यः स्त्र्याख्यः) स्त्र्याख्यौ इयङुवङ्स्थानौ च यू वा नदीसंज्ञौ भवतः स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा। उदा०—कृत्यै। कृतये। धेन्वै। धेनवे। श्रियै। श्रिये। भ्रुवै। भ्रुवे।

(अथ घिप्रकरणम्)

७. शेषो घ्यसखि ९

शेषः १। घि १। असखि १। स०—न सखि असखि (नञ्तत०)। वृ०—ह्रस्वेवर्णोवर्णान्तं यन्न स्त्र्याख्यं, स्त्र्याख्यं च यन्न नदीसंज्ञकम् स हि शेषः घिसंज्ञः भवति, सखिशब्दं वर्जयित्वा। उदा०—अग्नये। वायवे। कृतये। धेनवे।

८. पतिः समास एव

पद०—पतिः १। समासे ७। एव अ०। वृ०—पतिशब्दः समासे एव घिसंज्ञो भवति। उदा०—प्रजापतिना। प्रजापतये। नेह पत्या, पत्ये, पत्युः, पत्यौ।

१०. ह्रस्वं लघु ११

पद०—ह्रस्वम् १। लघु १। वृ०—ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवति। उदा०—भेत्ता। अचीकरत्।

११. संयोगे गुरु १२

पद०—संयोगे ७। गुरु १। वृ०—संयोगे परतः ह्रस्वमक्षरं गुरुसंज्ञं भवति। उदा०—कुण्डा। शिक्षा।

१२. दीर्घं च

पद०—दीर्घम् १। च अ०। वृ०—दीर्घं चाक्षरं गुरुसंज्ञं भवति। उदा०—ईहांचक्रे। ऊहांचक्रे।

१३. यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्

पद०—यस्मात् ५। प्रत्ययविधिः १। तदादि १। प्रत्यये ७। अङ्गम् १। स०—प्रत्ययस्य विधिः (षष्ठी तत०)। तद् (यस्मात् प्रत्ययः विधीयते सः) आदिः यस्य तत् तदादि (बहु०)। वृ०—यस्मात् (धातोः वा प्रातिपदिकाद् वा) प्रत्ययः विधीयते तदादि शब्दरूपं तस्मिन् प्रत्यये परतः अङ्गसंज्ञं भवति। उदा०—कर्त्ता। हर्त्ता।

(अथ पदप्रकरणम्)

१४. सुप्-तिङन्तं **पदम्** १७

पद०—सुप्-तिङन्तम् १। पदम् १। स०—सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ तौ अन्ते यस्य तत् सुप्-तिङन्तम् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—सुबन्तं तिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति। उदा०—ब्राह्मणाः। पठन्ति।

१५. नः क्ये

पद०—नः १। क्ये ७। वृ०—क्ये परतः नान्तमेव शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति नान्यत् वर्णान्तरान्तम्। उदा०—राजीयति। राजायते। चर्मायति। चर्मायते। नेह शुच्यति। त्वच्यतीत्यादौ न 'चोःकुः ८।२।३०' इति कुत्वं पदत्वाभावात्।

१६. सिति च

पद०—सिति ७। च अ०। स०—स् इत् यस्य स सित् तस्मिन् (बहु०)। वृ०—सिति प्रत्यये परतः पूर्वं च पदसंज्ञं भवति। उदा०—भवदीयः। ऊर्णायुः। 'भवतष्ठक्छसौ ४।२।११५' 'ऊर्णाया युस् ५।२।१२३' इति।

१७. **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** १८

पद०—स्वादिषु ७। असर्वनामस्थाने ७। स०—सुः आदिः येषां ते स्वादयः तेषु (बहु०)। न सर्वनामस्थानम् असर्वनामस्थानं तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—स्वादिषु प्रत्ययेषु कप्प्रत्ययान्तेषु परतः असर्वनामस्थाने पूर्वं पदसंज्ञं भवति। (अत्र स्वादिषु इति बहुवचनपाठात् 'उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१' इति कप्-प्रत्ययावधिकाः सर्वे प्रत्यया गृह्यन्ते)। उदा०—राजभ्याम्। राजभिः। राजत्वम्। राजता।

(अथ भप्रकरणम्)

१८. यचि **भम्** २०

पद०—यचि ७। भम् १। स०—य् च अच् च तयोः समाहारः यच् तस्मिन् (स० द्व०)। वृ०—यकारादिषु अजादिषु च स्वादिषु कप्प्रत्ययावधिषु असर्वनामस्थाने प्रत्यये परतः पूर्वं भसंज्ञं भवति। उदा०—राज्ञः। गार्ग्यः। दाक्षिः।

१९. तसौ मत्वर्थे

पद०—तसौ १। मत्वर्थे ७। स०—तश्च सश्च तसौ (इ० द्व०)। वृ०—तकारान्तं सकारान्तं च शब्दरूपं मत्वर्थे प्रत्यये परतः भसंज्ञं भवति। उदा०—उदश्वित्वान् घोषः। विद्युत्वान् बलाहकः। यशस्वी। पयस्वी।

(इति पदभसंज्ञाप्रकरणम्)

२१. बहुषु बहुवचनम्

पद०—बहुषु ७। बहुवचनम् १। वृ०- बहुषु बहुत्व-विवक्षायां बहुवचनं भवति। उदा०—ब्राह्मणाः पठन्ति।

२२. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने

पद०—द्व्येकयोः ७। द्विवचनैकवचने १। स०--द्विश्च एकश्च द्व्येकौ तयोः (इ० द्व०)। द्विवचनं च एकवचनं च द्विवचनैकवचने (इ० द्व०)। वृ०— द्वित्वे द्विवचनं एकत्वे एकवचनं च भवति। उदा०--ब्राह्मणौ पचतः। ब्राह्मणः पचति।

(अथ कारकप्रकरणम्)

२३. कारके　　५५

पद०—कारके ७। वृ०—कारके क्रियाहेतौ इत्येतत् सप्तम्यन्तमपि अग्रे गत्वा प्रथमान्तं जायते, तादृशपदानुरोधात्। अधिकारोऽयम्।

२४. ध्रुवमपायेऽपादानम्　　३१

पद०--ध्रुवम् १। अपाये ७। अपादानम् १। वृ०--अपाये (पृथग्भावे) ध्रुवं (अवधिभूतम्) अपादानं कारकं भवति। उदा०—ग्रामादागच्छति।

२५. भीत्रार्थानां भयहेतुः

पद०—भीत्रार्थानाम् ६। भयहेतुः १। स०--भीश्च त्राश्च भीत्रौ तौ अर्थौ येषां ते भीत्रार्थाः तेषाम् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। भयस्य हेतुः भयहेतुः (षष्ठी तत्०)। वृ०--बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे भयहेतुः अपादानं कारकं भवति। उदा०--चौरेभ्यो बिभेति। चौरेभ्यस्त्रायते।

२६. पराजेरसोढः

पद०—पराजेः ६। असोढः १। स०--सोढुं शक्यः सोढः। न सोढः असोढः (नञ्तत्०)। वृ०—परापूर्वस्य जयतेः प्रयोगे असोढः (असह्योऽर्थः) अपादानं कारकं भवति। उदा०—अध्ययनात्पराजयते। ग्लायतीत्यर्थः।

२७. वारणार्थानामीप्सितः

पद०—वारणार्थानाम् ६। ईप्सितः १। स०—वारणम् अर्थः येषां ते वारणार्थाः, तेषाम् (बहु०)। वृ०—वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थः अपादानं कारकं भवति। उदा०—यवेभ्यो गां वारयति।

२८. अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति

पद०—अन्तर्द्धौ ७। येन ३। अदर्शनम् १। इच्छति १। वृ०—अन्तर्द्धि-

निमित्ते (तिरोधाने सति) येनादर्शनं (अनवलोकनम्) आत्मन इच्छति तत् हि अपादानं कारकं भवति । उदा०—उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । उपाध्यायान्निलीयते ।

२९. आख्यातोपयोगे

पद०—आख्याता १ । उपयोगे ७ । वृ०—उपयोगे (विद्याग्रहणे) आख्याता (अध्यापकः) अपादानं कारकं भवति । उदा०—उपाध्यायादधीते ।

३०. जनि-कर्त्तुः प्रकृतिः ३१

पद०—जनि-कर्त्तुः ६। प्रकृतिः १। स०—जनेः कर्त्ता जनिकर्त्ता तस्य (षष्ठी तत्०)। वृ०—जनि कर्त्तुः (जायमानस्य) प्रकृतिः (उपादानकारणं) अपादानं कारकं भवति । उदा०—शृङ्गाच्छरो जायते ।

३१. भुवः प्रभवः

पद०--भुवः ६। प्रभवः १। वृ०—भुवः (सत्तायाः) कर्त्तुः प्रभवः (आविर्भाव-स्थलं) अपादानं कारकं भवति । उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति । ततो दृश्यत इत्यर्थः । (नात्र जन्यंजनकभावः) ।

३२. कर्मणा यमभिप्रैति स **सम्प्रदानम्** ४१

पद०—कर्मणा ३ । यम् २ । अभिप्रैति १ । सः १ । सम्प्रदानम् १ । वृ०—कर्मणा करणभूतेन कर्त्ता यमभिप्रैति (अभिसम्बध्नाति) स सम्प्रदानं कारकं भवति । उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति ।

३३. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः

पद०—रुच्यर्थानाम् ६ । प्रीयमाणः १ । स०—रुचिः अर्थः येषां ते रुच्यर्थाः तेषाम् (बहु०)। वृ०—रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणः (तृप्यमाणः, यः तृप्यते सः) सम्प्रदानं कारकं भवति । उदा०--देवदत्ताय रोचते मोदकः ।

३५. धारेरुत्तमर्णः

पद० धारेः ६। उत्तमर्णः १। स०—उत्तमम् ऋणं यस्य सः (बहु०)। वृ०—धारेः (ण्यन्तस्य धृञः प्रयोगे) उत्तमर्णः (ऋणदः) सम्प्रदानं कारकं भवति । उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति ।

३६. स्पृहेरीप्सितः

पद०—स्पृहेः ६। ईप्सितः १। वृ०—स्पृहेः (ईप्सायां चुरादावदन्तस्य) योगे ईप्सितोऽर्थः सम्प्रदानं कारकं भवति । उदा०—पुष्पेभ्यः स्पृहयति ।

गतं तक्रं गतं दध्ना नाज्यं कुत्रापि दृश्यते ।
उदुम्बरफलायापि स्पृहयामोऽधुना वयम् ॥

---

३६. गतास्ते दिवसास्तातः मुक्तानां जन्म शुक्तिषु ।
उदुम्बरफलायापि स्पृहयामोऽधुना वयम् ।।
एतदपि क्वचिदुदाहृतं दृश्यते ॥ (श्लोके पाठभेदः)

३७. क्रुध-द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः

पद०— क्रुध-द्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् ६। यम् २। प्रति अ०। कोपः १। स०— क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्या च असूया च क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः तेषां अर्थाः क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः तेषाम् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०— क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां धातूनां प्रयोगे यं प्रति कोपः स सम्प्रदानं कारकं भवति। उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति द्रुह्यतीत्यादि।

४२. साधकतमं करणम् ४४

पद०—साधकतमम् १। करणम् १। वृ०—साधकतमं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणं कारकं भवति। उदा० - दात्रेण लुनाति।

४३. दिवः कर्म च

पद०—दिवः ६। कर्म १। च अ०। वृ०— दिवः धातोः साधकतमं कर्मकारकं भवति चात् करणं कारकमपि। उदा०—अक्षान् दीव्यति। अक्षैर्दीव्यति।

४५. आधारोऽधिकरणम् ४८

पद०—आधारः १। अधिकरणम् १। वृ०—आधारः आश्रयः (धारणक्रियां प्रति) कारकं अधिकरणं भवति। उदा०— कटे आस्ते। कुट्यां शेते।

४६. अधि-शीङ्-स्थाऽऽसां कर्म ४८

पद०—अधि-शीङ्स्थाऽऽसाम् ६। कर्म १। स०—शीङ् च स्थाश्च आस् च शीङ्स्थाऽऽसः। अधेः शीङ्स्थाऽऽसः अधिशीङ्स्थाऽऽसः तेषाम् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—अधिपूर्वाणां शीङ्, स्था, आस् इति एतेषां धातूनां आधारः कर्मकारकं भवति। उदा०—ग्राममधिशेते। ग्राममधितिष्ठति। पर्वतमध्यास्ते।

४७. अभि-नि-विशश्च।

पद०—अभि-नि-विशः ६। च अ०। स०—अभिश्च निश्च तयोः समाहारः अभिनि तस्मात् विश् अभिनिविट् तस्य (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—अभिनिपूर्वस्य विश्धातोः आधारश्च कर्मकारकं भवति। उदा०—ग्राममभिनिविशते।

४८ उपान्वध्याङ्वसः

पद०—उपान्वध्याङ्वसः ६। स०—उपश्च अनुश्च अधिश्च आङ् च उपान्वध्याङः तेभ्यः वस् उपान्वध्याङ्वस् तस्य (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—उप, अनु,

अधि, आङ् इत्येवं पूर्वस्य वसधातोः आधारः कर्मकारकं भवति। उदा०—ग्राममुपवसति सेना। ग्राममनुवसति। ग्राममधिवसति। ग्राममावसति।

४९. कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म　५३

पद०—कर्त्तुः ६। ईप्सिततमम् १। कर्म १। वृ०—कर्त्तुः ईप्सिततमं (आप्तुमिष्टतमं) कर्मकारकं भवति। उदा०—ग्रामं गच्छति।

५०—तथायुक्तं चानीप्सितम्

पद०—तथायुक्तम् १। च अ०। अनीप्सितम् १। स०—तेन प्रकारेण युक्तम् तथायुक्तम् (तत्०)। न ईप्सितं अनीप्सितम् (नञ्तत्०)। वृ०—तथायुक्तम् (ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तम्) अनीप्सितमपि कर्मकारकं भवति। उदा०—विषं भक्षति।

५१. अकथितं च

पद०—अकथितम् १। च अ०। स०—न कथितं अकथितम् (नञ्तत्०)। वृ०—अकथितं (अपादानादिभिः कारकैः अविवक्षितं) च कर्मकारकं भवति। उदा०—गां दोग्धि पयः। पौरवं याचते गाम्। व्रजम् अवरुणद्धि गाम्। माणवकं पृच्छति पन्थानम्। पौरवं भिक्षते गाम्। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं ब्रूते धर्मम्। माणवकमनुशास्ति धर्मम्।

५२. गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्द-कर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता स णौ

पद०—गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थशब्द-कर्माकर्मकाणाम् ६। अणि-कर्त्ता १।

---

५१. नियतधातुयोगे एव कारकान्तरेऽविवक्षिते कर्मसंज्ञया द्वितीया भवति। तथाहि—

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना॥

५२. अत्रावधारणं द्विकर्मकधातूनां कर्मलकारे केषां योगे कस्य कर्मण उक्तानुक्तादि-विवेकः। तथाहि—

गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्।
बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छया।
प्रयोज्य कर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः॥

गौर्दुह्यते पयः। बलिर्भिक्ष्यते वसुधाम्। अजा नीयते ग्रामम्। (ह्रियते, कृष्यते, उह्यते) बोध्यते माणवको धर्मम् माणवकं धर्मो वेत्यादि। भोज्यते माणवक ओदनम् माणवकम् ओदनो वा। देवदत्तो गम्यते ग्रामम् अन्येन। अकर्मकाणां कालादिकर्मकाणां कर्मणि भावे च लकार इष्यते—मासं मासो वा आस्यते देवदत्तेन। णिजन्तात्तु प्रयोज्ये एव—माणवको मासम् आस्यते अन्येन। माणवकं मासम् आसयति अन्यः। इति कर्तरि।

सः १। णौ ७। स०—गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानं च गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि तानि अर्थाः येषां ते तथोक्ताः, शब्दः कर्म येषां ते शब्दकर्माणः अविद्यमानं कर्म येषां तेऽकर्माण इति उभयत्र अपि (बहु०), ततः गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थश्च शब्दकर्माणश्च अकर्माणश्च तेषाम् (इतरेतरद्वद्वः)। न णिः अणिः तत्र कर्त्तेति अणिकर्ता (नञ्समासगर्भस्तत्०)। वृ०—गत्यर्थानां बुद्धचर्थानां प्रत्यवसानार्थानां च धातूनां तथा शब्दकर्मणाम् अकर्मकाणां च अण्यन्तानां कर्त्ता स ण्यन्तानां कर्मकारकं भवति। उदा०—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम् अन्यः। याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम् अन्यः। बुध्यते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम् अन्यः। भुङ्क्ते माणवकः ओदनम्, भोजयति माणवकमोदनम् अन्य.। अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् अन्यः। आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम् अन्यः।

५४. स्व-तन्त्रः कर्त्ता ५५

पद०—स्व-तन्त्रः १। कर्त्ता १। स०—स्वस्मिन् तन्त्रः स्वतन्त्रः (तत्०)। वृ०—क्रियायां स्वतन्त्रः (स्वाधीनः) कर्ता कारकः भवति। उदा०—देवदत्तः पचति। स्थाली पचति।

५५. तत्प्रयोजको हेतुश्च

पद०—तत्प्रयोजकः १। हेतुः १। च अ०। स०— तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः (षष्ठी तत्०)। वृ०—तत्प्रयोजकः (स्वतन्त्रस्य) हेतुः कारकः भवति चकारात् कर्ता कारकोऽपि। उदा०—कुर्वाणं प्रयुङ्क्ते, कारयति।

(अथ निपातप्रकरणम्)

५६. प्राग्रीश्वरान्निपाताः ९०

पद०—प्राक् अ०। रीश्वरात् ५। निपाताः १। वृ०—'अधिरीश्वरे १।४।९७' इत्यतः प्राक् निपाताः अधिकृता वेदितव्याः। अधिकारसूत्रमिदम्।

५७. चादयोऽसत्त्वे ५८

पद०—चादयः १। असत्त्वे ७। स०—च आदिः येषां ते चादयः (बहु०)। न सत्त्वम् असत्त्वम् तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०— चादयः निपातसंज्ञाः भवन्ति असत्त्व (सत्वं द्रव्यं तद्भिन्नेऽर्थे)। उदा०—च। वा। ह। अह। एव। एवमित्यादि। (गणपाठे उक्ताः)।

५८. प्रादयः ५९

पद०—प्रादयः १। स०—प्र आदिः येषां ते प्रादयः (बहु०)।

५८. प्रपराऽपसमन्ववनिर्दुरभिव्यधिसूदतिनिप्रतिपर्यपयः।
उपआङिति विंशतिरेष सखे उपसर्गगणः कथितः कविना ॥ इति।

वृ०—प्रादयोऽसत्त्वे निपातसंज्ञाः भवन्ति । उदा०—प्र । परा । अप । समित्यादि ।

५९—उपसर्गाः क्रियायोगे　　　　६२

पद०—उपसर्गाः १ । क्रियायोगे ७ । स०—क्रियायाः योगः क्रियायोगः तस्मिन् (तत्०) । वृ०—प्रादयः निपाताः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः भवन्ति । उदा०—प्रणयति । परिणयति ।

(अथ गतिप्रकरणम्)

६०. गतिश्च　　　　७९

पद०—गतिः १ । च अ० । वृ०—प्रादयः निपाताः क्रियायोगे गतिसंज्ञाश्च भवन्ति । उदा०—प्रकृत्य । प्रकृतम् ।

६१. ऊर्यादिच्विडाचश्च

पद०—ऊर्यादिच्विडाचः १ । च अ० । स०—ऊरी आदिः येषां ते ऊर्यादयः (बहु०) च्विश्च डाच्च ते तथोक्ताः । वृ०—ऊर्यादयः शब्दाः च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः भवन्ति । उदा०—ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य ।

८०. ते प्राग्धातोः　　　　८२, ८१, ८२

पद०—ते १ । प्राक् १ । धातोः ५ । वृ०—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः प्राक् प्रयोक्तव्याः । उदा०—प्रणयति ।

(अथ कर्मप्रवचनीयम्)

८३. कर्मप्रवचनीयाः　　　　९८

पद०—कर्मप्रवचनीयाः १ । वृ०—कर्मप्रवचनीयाः इति अधिकारोऽयम् निपातान्तर्गतः 'अधिरीश्वरे' यावत् । 'कर्मप्रवचनीय-निपातौ' इति द्वे संज्ञे इतः चलिष्यतः । कृत्यकृद्वत् । स्वरे विशेषः ।

८४. अनुर्लक्षणे　　　　८६

पद०—अनुः १ । लक्षणे ७ । वृ०—अनुशब्दः लक्षणे कर्मप्रवचनीयसंज्ञः भवति । उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् ।

९४. सुः पूजायाम्　　　　९५

पद०—सुः १ । पूजायाम् ७ । वृ०—सुशब्दः पूजायाम् अर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञः भवति । उदा०—सुसिक्तं भवता ।

९५. अतिरतिक्रमणे च

पद०—अतिः १। अतिक्रमणे ७। च अ०। वृ०—अतिशब्दः अतिक्रमणे चात् पूजायाम् च कर्मप्रवचनीयसंज्ञः भवति। उदा०—अतिसिक्तमेव भवता।

९६. अपिः पदार्थ-संभावनान्ववसर्ग-गर्हा-समुच्चयेषु

पद०—अपिः १। पदार्थ……समुच्चयेषु ७। स०—पदार्थश्च संभावना च अन्ववसर्गश्च गर्हा च समुच्चयश्च इति पदार्थ……समुच्चयाः तेषु (इ० द्व०)। वृ०—अपिशब्दः पदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु अर्थेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञः भवति। उदा०—सर्पिषोऽपि स्यात्। अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम्। यथेच्छं सिञ्च वा स्तुहि वा। धिग् जाल्मं देवदत्तम् अपि सिञ्चेत पलाण्डुम्। सिञ्च च स्तुहि च।

९७. अधिरीश्वरे ९८

पद०—अधिः १। ईश्वरे ७। वृ०—अधिशब्दः ईश्वरे (स्वस्वामिकसम्बन्धे) कर्मप्रवचनीयसंज्ञः भवति। उदा०—अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः। अधिपञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः। कदाचित् स्वामिनः कर्मप्रवचनीयविभक्तिः सप्तमी भवति, कदाचित् स्वात्। 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम् तत्र सप्तमी २।३।९' इति सूत्रम्।

९८. विभाषा कृञि

पद०—विभाषा १। कृञि ७। वृ०—कृञ्योगे अधिशब्दः विभाषा कर्मप्रवचनीयसंज्ञः भवति। उदा०—यदत्र मामधिकरिष्यति। यदत्र मामधि करिष्यति।

(उक्ता निपाताः)

(अथ लादेशप्रकरणम्)

९९. लः परस्मैपदम् १००

पद०—लः ६। परस्मैपदम् १। वृ०—लस्य आदेशाः परस्मैपदसंज्ञाः भवन्ति। उदा०—तिप्, तस्, झि। सिप्, थस्, थ। मिप्, वस्, मस्। शतृ-क्वसू च।

९६—पदान्तरस्य अप्रयुज्यमानस्य (बिन्दुः मात्रा स्तोकम् इत्यादिकस्य) अर्थः पदार्थः तस्मिन्। उदाहरणे अपि शब्दोऽत्र बिन्दुशब्दार्थे विद्यतेऽत एव सम्बन्धे षष्ठी सर्पिष इति। सम्भावनम्=आधिक्योक्तिः। अन्ववसर्गः=कामचारानुज्ञा अभ्यनुज्ञानम्। गर्हा=निन्दा। समुच्चयः=समाहारः।

१००. तङानावात्मनेपदम्

पद०—तङानौ १। आत्मनेपदम् १। स०—तङ् च आनश्च तङानौ (इ० द्व०)। वृ०—तङानौ आत्मनेपदसंज्ञौ भवतः। उदा०-त, आताम्, झ। थास्, आथाम्, ध्वम्। इट्, वहि, महिङ्। शानच्-कानचौ।

१०१. तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथम-मध्यमोत्तमाः　　१०४

पद०—तिङः १। त्रीणि १। त्रीणि १। प्रथममध्यमोत्तमाः १। स०—प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च ते (इ० द्व०)। वृ०—तिङोऽष्टादशप्रत्ययाः, परस्मैपदेषु नव, आत्मनेपदेषु नव क्रमेण त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञाः भवन्ति। अत्र पुरुषशब्दस्यापि योगः क्रियते। इति सम्प्रदायः। उदा०—तिप्, तस्, झि इति प्रथमः। सिप्, थस्, थ इति मध्यमः। मिप्, वस्, मस् इति उत्तमः। त, आताम्, झ इति प्रथमः। थास्, आथाम्, ध्वम् इति मध्यमः। इट्, वहि, महिङ् इति उत्तमः।

१०२. तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः　　१०३

पद०—तानि १। एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि १। एकशः अ०। स०—एकवचनं च द्विवचनं च बहुवचनं च तानि तथोक्तानि (इ० द्व०)। वृ०—तानि तिङः त्रीणि त्रीणि एकशः एकवचन-द्विवचन-बहुवचन-संज्ञकानि भवन्ति। उदा —तिप् इति एकवचनम्। तस् इति द्विवचनम्। झि इति बहुवचनम् प्रथमपुरुषे। एवं सर्वत्र।

१०३. सुपः　　१०४

पद०—सुपः ६। वृ०—सुपश्च त्रीणि त्रीणि पदानि एकशः एकवचनद्विवचन-बहुवचनसंज्ञकानि भवन्ति। उदा०—सु इति एकवचनम्। औ इति द्विवचनम्। जस् इति बहुवचनम्। एवं सर्वत्र।

१०४. विभक्तिश्च

पद०—विभक्तिः १। च अ०। वृ०—सुपः तिङश्च त्रीणि त्रीणि विभक्ति-संज्ञकानि भवन्ति। उदा०—सु औ जस् इति प्रथमाविभक्तिः। एवं सर्वत्र। प्रथमादिसंज्ञापि कारकविभक्तौ द्वितीयाध्यायस्य तृतीये सूचितैव।

१०५. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः　　१०८, १०९

पद०—युष्मदि ७। उपपदे ७। समानाधिकरणे ७। स्थानिनि ७। अपि अ०। मध्यमः १। स०—समानम् अधिकरणं यस्य स समानाधिकरणः तस्मिन् (बहु०)।

वृ०—समानाधिकरणे (तिङ्वाच्यकारकवाचिनि) युष्मदि उपपदे स्थानिनि (अप्रयुज्यमाने वा) मध्यमपुरुषः भवति । उदा०—त्वं पचसि ।

१०७. अस्मद्युत्तमः

पद०—अस्मदि ७ । उत्तमः १ । वृ०—पूर्ववत् अस्मदि उत्तमपुरुषः भवति । उदा०—अहं पचामि ।

१०८. शेषे प्रथमः

पद०—शेषे ७ । प्रथमः १ । वृ०—शेषे उपपदे पूर्ववत् प्रथमपुरुषः भवति । उदा०—सः पचति ।

१०९. परः संनिकर्षः संहिता

पद०—परः १ । सन्निकर्षः १ । संहिता १ । वृ०—परः उत्कृष्टः सन्निकर्षः सन्निधिः संहितासंज्ञः भवति । उदा०—दध्यत्र ।

११०. विरामोऽवसानम

पद०—विरामः १ । अवसानम् १ । वृ०—विरामः वर्णानामभावः अवसानसंज्ञः भवति । उदा०—दधि । वृक्षः ।

प्रथमाध्यायचरमावसाने निर्दिशन्मुनिः ।
अवसानमिमां संज्ञां स्वं वैज्ञानिकमुक्तवान् ॥

(आकडारा०[१] बहुषु०[२] अनुप्रतिगृण०[३] ऊर्यादि०[४] छन्दसि०[५] तिङः दश च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ इति शिवम् ॥ ७१ ॥

अथ द्वितीयाध्याये

प्रथमः पादः

(अथ समासाः)

१ समर्थः पदविधिः

पद०—समर्थः १। पद-विधिः १। स०—सङ्गतः अर्थः, संसृष्टः अर्थः, सम्प्रेक्षितः अर्थः, सम्बद्धः अर्थः इति समर्थः शाकपार्थिवादिसिद्ध्यर्थं 'मध्यपदलोपो वक्तव्य' इति वार्तिकात् (मध्यपदलोपस्तत्०)। पदस्य विधिः, पदयोः विधिः, पदानां विधिः इति (षष्ठीतत्०)। वृ०—अस्मिन् व्याकरणशास्त्रे पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो वेदितव्यः। उदा०—कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः इत्यादि उदाहरणम्।

---

१. समसनं संक्षेपकरणमेव समासः। अनेकविभक्तिमनेकस्वरञ्चापसार्य एकविभक्तिकरणमेकस्वरकरणं च मुख्यं कर्म समासस्य। तत्र द्विविधविग्रहो ज्ञेयः। लौकिकोऽलौकिकश्च। परिनिष्ठितत्वात् साधुः लौकिकः। यथा स्त्रीषु अधिकृत्य कथा प्रवृता, अधिस्त्रि कथा प्रवृत्ता। इति लौकिकः। स्त्री सुप् अधि इति अलौकिको विग्रहः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। वृत्तिश्च—कृत, तद्धितः, समासः, एकशेषः, सनाद्यन्तधातुरूपं पञ्चवृत्तयः। अविग्रहोऽस्वपद-विग्रहो वा नित्यसमासः। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। (२) उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। (३) अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः। (४) उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्व इति प्रायोवादः। (१) उन्मत्तगङ्गम्, (२) अतिमालः, (३) द्वित्राः, (३) दन्तोष्ठम् इत्यादिषु व्यभिचारात्। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः नञ्समासश्च। सुप् सुपा, सह सुपा २।१।४ वेति समाससूत्रकल्पनाचार्याणाम्। तेन समासानामनिश्चितैव संज्ञा। वस्तुतस्तु—

"सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥"

क्रमेणोदाहरणम्। अधिस्त्रि इत्यादि। पर्यभूषयत्। कुम्भकारः। कटप्रूः। पिबतखादता। कृन्त-विचक्षणा। पर्यभूषयद् इत्यत्र 'सह सुपा २।१।४' इति सूत्रे सह इति योगविभागेन 'सुबामन्त्रिते० २।१।२' इति सुपमनुवर्त्य "सुबन्तं समर्थेन समस्यते" इत्यर्थेन योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थतया तिङन्तेन सह समासः।

२. सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे २।२।२९

पद०—सुप् १। आमन्त्रिते ७। पराङ्गवत् अ०। स्वरे ७। स०—परस्य अङ्गं पराङ्गं तेन तुल्यं पराङ्गवत् (षष्ठी तत्पुरुषगर्भो वतिप्रत्ययः)। वृ०—सुबन्तमामन्त्रिते परतः परस्याङ्गवद् भवति स्वरे कर्त्तव्ये। उदा०—कुण्डेनाटन्। (अत्र सुबिति पदस्यानुवृत्त्यर्थं सूत्रपाठः)। (अनुवृत्तिसूत्रमष्टकमिति प्रवादः साधुः)।

३. प्राक्कडारात् समासः २।२।३८

पद०-- प्राक् अ०। कडारात् ५। समासः १। वृ०—'कडाराः कर्मधारये २।२।३८' इति सूत्रं यावत् समाससंज्ञा वेदितव्या। अधिकारसूत्रमिदम्।

४. सह सुपा २।२।२२

पद०—सह अ०। सुपा ३। वृ०—सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते। अधिकारोऽपि (सुबन्तं सुबन्तेनेति सर्वत्र इतः समाससूत्रेषु गच्छति, 'क्त्वा च २।२।२२' इति सूत्रं यावत्)। उदा०—भूतपूर्वः इति केवलं समासः। पूर्वं भूतः इति विग्रहः। 'भूतपूर्वे चरट् ५।३।५३' इति सूत्रनिर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः। सहेति योगो विभज्यते, तिङापि सह यथा भवति, स च छन्दस्येव। पर्यभूषयत्।

(अथ अव्ययीभावः)

५. अव्ययीभावः २१

पद०—अव्ययीभावः १। वृ०—अव्ययीभावः इति अधिकारोऽयम्, 'तत्पुरुषः २।१।२१' इत्यतः प्राक्।

६. अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-संपत्ति-साकल्यान्त-वचनेषु ८

पद०—अव्ययम् १। विभक्ति…वचनेषु ७। स०—विभक्तिश्च, समीपञ्च, समृद्धिश्च, व्यृद्धिश्च, अर्थाभावश्च, अत्ययश्च, असम्प्रति च, शब्दप्रादुर्भावश्च, पश्चाच्च, यथा च, आनुपूर्व्यं च, यौगपद्यं च, सादृश्यं च, सम्पत्तिश्च, साकल्यं च, अन्तश्च, इति विभक्ति … साकल्यान्ताः, ते च ते वचनाश्च इति विभक्ति…

---

६. समृद्धिः = ऋद्धेराधिक्यम्। व्यृद्धिः = ऋद्धेरभावः। अर्थाभावः = वस्तुनोऽभावः। अत्ययः = भूतत्वम् अतिक्रमो वा। असंप्रति = उपभोगस्य वर्त्तमानकालस्य प्रतिषेधः। शब्दप्रादुर्भावः = शब्दस्य प्रकाशता। आनुपूर्व्यम् = अनुक्रमः। यौगपद्यम् = एककालता। सादृश्यम् = तुल्यता। सम्पत्तिः = अनुरूप आत्मभावः। साकल्यम् = अशेषता। अन्तः = समाप्तिः।

साकल्यान्तवचनाः, तेषु (द्वन्द्वगर्भः कर्मधारयः)। वृ०—विभक्त्याद्यर्थेषु यदव्ययं वर्तते, तत्समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, स च अव्ययीभावः। उदा०—अधिस्त्रि। उपकुम्भम्। सुमद्रम्। दुर्यवनम्। निर्मक्षिकम्। निर्हिमम्। अतितसृकम्। इतिपाणिनि। अनुरथम्। यथार्थाः चत्वारः क्रमेण, योग्यता--अनुरूपम्, वीप्सा-प्रत्यर्थम्, पदार्थानतिवृत्तिः—यथाशक्ति, सादृश्यम्—सहरि इति यथार्थाः। अनुज्येष्ठम्। सचक्रम्। ससखि। सक्षेत्रम्। सतृणम्। साग्नि ग्रन्थम् अधीते।

११. विभाषा २।२।२९

पद०—विभाषा १। वृ०—अधिकारोऽयम् 'द्वन्द्वे च २।२।२९' इति सूत्रं यावत्। अव्ययीभावसमासं विहाय सर्वे समासाः विभाषा समस्यन्ते इति सर्वत्र ज्ञेयम्।

१७. तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च

पद०—तिष्ठद्गु-प्रभृतीनि १। च अ०। स०—तिष्ठन्त्यो गावः यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु=दोहनकालः, स प्रभृतिः येषु तानि (बहु०)। वृ०—तिष्ठद्गु-प्रभृतीनि च निपातनसिद्धानि शब्दरूपाणि अव्ययीभावसंज्ञकानि भवन्ति। उदा०—तिष्ठद्गु। वहद्गु इत्यादि।

१८. पारे मध्ये षष्ठ्या वा

पद०--पारे १। मध्ये १। षष्ठ्या ३। वा अ०। वृ०—पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह विभाषा समस्येते, अनयोः तत्सन्नियोगेन एदन्तत्वं च निपात्यते, स च अव्ययीभावः। उदा०—पारेगङ्गम्। मध्येगङ्गम्। पक्षे—गङ्गापारम् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

१९. संख्या वंश्येन २०

पद०—संख्या १। वंश्येन ३। वृ०—वंश्येन सुबन्तेन सह संख्या समस्यते, स च अव्ययीभावः। उदा०--द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य। विद्या तद्वतामभेदविवक्षया द्विमुनि व्याकरणम्। एवम् त्रिमुनि व्याकरणस्य। त्रिमुनि व्याकरणम् वा।

२०. नदीभिश्च २१

पद०—नदीभिः ३। च अ०। वृ०--नदीवाचकैः शब्दैः सह संख्या समस्यते, स च अव्ययीभावः। उदा०—सप्तगङ्गम्। सप्त च ताः गङ्गाः इति विग्रहः।

(अथ तत्पुरुषप्रकरणम्)

२२. तत्पुरुषः २ । २ । २२

पद०—तत्पुरुषः १ । वृ०—अधिकारोऽयम् 'क्त्वा च २ । २ । २२' इति सूत्रं यावत् ।

२३. द्विगुश्च

पद०— द्विगुः १ । च अ० । वृ०—द्विगुश्च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः भवति । उदा०—पञ्चराजी । द्व्यहः । पञ्चगवम् ।

२४. द्वितीया श्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः २९

पद०—द्वितीया १ । श्रिता०…पन्नैः ३ । स०—श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च इति ते (इ० द्व०) । वृ०—द्वितीयान्तं सुबन्तं (समर्थं समर्थेनेत्यपि सर्वत्र योज्यम्) श्रितादिना सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, स च तत्पुरुषः । उदा०—कष्टश्रितः इत्यादि ।

३०. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ३५

पद०—तृतीया १ । तत्कृत इति लुप्ततृतीयम् । अर्थेन ३ । गुणवचनेन ३ । स०—तेन (तच्छब्देन तृतीयान्तार्थो गृह्यते । तृतीयान्तार्थेन इत्यर्थः) कृतम् तत्कृतं तेन (तृतीया तत्०) । गुणस्य वचनं गुणवचनम्, तेन (षष्ठी तत्०) । वृ०—तृतीयान्तं सुबन्तं तृतीयान्तार्थकृतेन गुणवचनेन अर्थशब्देन च समस्यते, स च तत्पुरुषः । उदा०—शङ्कुलाखण्डः । धान्यार्थः ।

३२. कर्त्तृकरणे कृता बहुलम् ३३

पद०—कर्त्तृकरणे ७ । कृता ३ । बहुलम् १ । स०—कर्त्ता च करणं च तयोः समाहारः कर्त्तृकरणं तस्मिन् (स० द्व०) । वृ०—कर्त्तरि करणे च तृतीयान्तं सुबन्तं कृदन्तेन सह समस्यते बहुलम्, स च तत्पुरुषः । उदा०—अहिहतः । परशुच्छिन्नः ।

३६. चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः

पद०—चतुर्थी १ । तद…रक्षितैः ३ । स०—तस्मै सः तदर्थः । तदर्थश्च अर्थश्च बलिश्च हितञ्च सुखञ्च रक्षितञ्च इति तैः (इ० द्व०) । वृ०—चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित इत्येतैः सुबन्तैः सह समस्यते, स च तत्पुरुषः । उदा०—यूपदारु । कुबेरबलिः । इत्यादि ।

वा० अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च वक्तव्या

---

३६. वा० अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता च वाच्या इति वार्तिकं साधु ।

पद०—अर्थेन ३। नित्यसमासवचनम् १। सर्वलिङ्गता १। च० अ०। वक्तव्या १। वृ०–अर्थशब्देन समासः कार्यः समस्तशब्दस्य विशेष्यानुसारं लिङ्गं ज्ञेयम्। उदा०—ब्राह्मणार्थं पयः। ब्राह्मणार्था यवागूः। ब्राह्मणार्थः सूपः। ब्राह्मणाय इदम्। ब्राह्मणाय इयम्। ब्राह्मणाय अयम् इति अस्वपदविग्रहो नित्यसमासः।

३७. **पञ्चमी** भयेन ३९

पद०–पञ्चमी १। भयेन ३। वृ०—पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयेन सुबन्तेन सह समस्यते, स च तत्पुरुषः। उदा०—वृकभयम्।

वा० भय-भीत-भीति-भीभिरिति वक्तव्यम्।

पद०—भयभीतभीतिभीभिः ३। इति अ०। वक्तव्यम् १। वृ०—भयादिभिः शब्दैः सह समासो ज्ञेयः। उदा०—वृकभीतः। वृकभीतिः। वृकभीः।

४०. **सप्तमी** शौण्डैः ४८

पद०—सप्तमी १। शौण्डैः ३। वृ०—सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिशब्दैः सह समस्यते, स च तत्पुरुषः। उदा०—अक्षशौण्डः।

४८. पात्रे-समितादयश्च

पद०—पात्रे-समितादयः १। च अ०। स०—पात्रेसमित आदिः येषां ते (बहु०)। वृ०–पात्रे समितादयः गणस्थाः शब्दाः समस्ताः निपात्यन्ते क्षेपे (निन्दायाम्) अर्थे। उदा०—पात्रेसमिताः। कूपमण्डूकः। ('क्षेपे २।१।४७' इति अनुवृत्तिरपि ज्ञेया)।

४९. पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः **समानाधिकरणेन** ७२

पद०–पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः १। समानाधिकरणेन ३। स०—पूर्वः कालः यस्य स पूर्वकालः (बहु०), पूर्वकालश्च एकश्च सर्वश्च जरच्च पुराणश्च नवश्च केवलश्च इति ते (इ० द्व०)। समानमधिकरणं यस्य तत् समानाधिकरणं तेन (बहु०)। वृ०–पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः सुबन्ताः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते, स च तत्पुरुषः। उदा०—स्नातानुलिप्तः। एकशाटी। सर्वदेवाः। जरद्धस्ती। पुराणान्नम्। नवान्नम्। केवलान्नम्।

५०. **दिक्संख्ये** संज्ञायाम् ५१

पद०–दिक्संख्ये १। संज्ञायाम् ७। स०—दिक् च संख्या च इति ते

(इ० द्व०)। वृ०—दिग्वाचिनः संख्यावाचिनः च शब्दाः सुबन्ताः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते, स च तत्पुरुषः संज्ञायाम्। उदा०—पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः।

५१. तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च

पद०—तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे ७। च अ०। स०—तद्धितस्य अर्थः तद्धितार्थः (षष्ठीतत्०), उत्तरं च तत् पदं उत्तरपदम् (कर्म०), तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्च तेषां समाहारः, तत् तस्मिन् (स० द्व०)। वृ०—तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे परे समाहारे वाच्ये च दिक्संख्ये समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्येते, स च तत्पुरुषः। उदा०—पौर्वशालः। पूर्वशालाप्रियः। समाहारे दिक् शब्दो न सम्भवति। पञ्चकपालः। पञ्चगवधनः। दशपूली।

५२. संख्यापूर्वो द्विगुः

पद०—संख्या-पूर्वः १। द्विगुः १। स०—संख्या पूर्वा यस्य सः संख्यापूर्वः (बहु०)। वृ०—संख्यापूर्वः तत्पुरुषः समासः द्विगुसंज्ञः भवति। उदा०—पूर्वसूत्रे द्रष्टव्यम्। (द्विगुशब्द एव उदाहरणम्। द्वौ च तौ गावौ तयोः समाहारः द्विगु इति द्विगोः इति नपुंसकम्।

५५. उपमानानि सामान्यवचनैः

पद०—उपमानानि १। सामान्य-वचनैः ३। स०—सामान्यस्य वचनानि सामान्यवचनानि तैः (तत्०)। वृ०—उपमानवाचीनि सुबन्तानि सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह समस्यन्ते, स च तत्पुरुषः। उदा०—शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा।

५६. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे

पद०—उपमितम् १। व्याघ्रादिभिः ३। सामान्याप्रयोगे ७। स०—व्याघ्रः आदिः येषां ते व्याघ्रादयः तैः (बहु०)। सामान्यस्य अप्रयोगः सामान्याप्रयोगः तस्मिन् (तत्०)। वृ—उपमितं (उपमेयम्) सुबन्तं व्याघ्रादिभिः (उपमानैः) सुबन्तैः सह समस्यते सामान्याप्रयोगे, स च तत्पुरुषः। उदा०—पुरुषव्याघ्रः।

५७. विशेषणं विशेष्येण बहुलम्

पद०—विशेषणम् १। विशेष्येण ३। बहुलम् १। वृ०—विशेषणवाचि-सुबन्तं विशेष्यवाचिना सुबन्तेन सह समस्यते बहुलम्, स च तत्पुरुषः। उदा०—नीलोत्पलम्। नीलं च तत् उत्पलम् च इति विग्रहः।

७२. मयूरव्यंसकादयश्च

पद०—मयूरव्यंसकादयः १। च अ०। स०—मयूरव्यंसकः आदिः येषां ते (बहु०)। वृ०—मयूरव्यंसकादिशब्दाः तत्पुरुषसंज्ञकाः भवन्ति। उदा०—मयूरव्यंसकः इत्यादि। व्यंसकः (धूर्तः) चासौ मयूरः इति विग्रहः।

(समर्थः०[१] अन्यपदार्थे०[२] सिद्धशुष्क०[३] सन्महद्० द्वादश च इति प्रथमः पादः)।

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ २८ ॥

अथ द्वितीयः पादः

१. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ३

पद०--पूर्वापराधरोत्तरम् १। एकदेशिना ३। एकाधिकरणे ७। स०--पूर्वश्च अपरश्च अधरश्च उत्तरश्च इति तेषां समाहारः (स० द्व०)। एकं च तत् अधिकरणं तत् तस्मिन् (कर्म०)। वृ०—पूर्वापराधरोत्तरशब्दाः सुबन्ताः एकदेशिना (अवयविना) सुबन्तेन सह समस्यन्ते, एकाधिकरणे, स च तत्पुरुषः। उदा०—पूर्वकायः इत्यादि। कायस्य पूर्वं इति विग्रहः।

६. नञ्

पद०—नञ् १। वृ०—नञ्सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते, स च तत्पुरुषः। उदा०—अब्राह्मणः। न ब्राह्मणः इति विग्रहः। 'नलोपो नञः ६।३।७३'।

८ षष्ठी १७

पद०—षष्ठी १। वृ०--षष्ठ्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते स च तत्पुरुषः। उदा०—राजपुरुषः।

१७. नित्यं क्रीडा-जीविकयोः

पद०—नित्यम् १। क्रीडा-जीविकयोः ७। स०—क्रीडा च जीविका च इति क्रीडा-जीविके तयोः (इ० द्व०)। वृ०—क्रीडायां जीविकायां च षष्ठ्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते, स च तत्पुरुषः। उदा०--उद्दालकपुष्पभञ्जिका। दन्तलेखकः।

१८. कु-गति-प्रादयः

पद०—कु-गति-प्रादयः १। स०—कुश्च गतिश्च प्रादयश्च इति (इ० द्व०)। वृ०—कु-गति-प्रादयः शब्दाः अन्यशब्दैः सह नित्यं समस्यन्ते, स च तत्पुरुषः। उदा०—कुपुरुषः। उररीकृतम्। दुष्पुरुषः।

१९. उपपदमतिङ् २२

पद०—उपपदम् १। अतिङ् १। स०—न तिङ् अतिङ् (नञ्तत्०)।

---

१९. 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति वार्तिकबलेन अणन्तेन कृदन्तेन समासे उभयथा (समासत्वात् कृदन्तत्वाच्च) प्रातिपदिकतया उपपदसुपो लुकि कुम्भ कृ अण् इत्यत्र वृद्धौ कुम्भकार कृदन्तशब्दात्स्वाद्युत्पत्तिः। अत्र सुप् सुपेति वर्तमाने अतिङ्ग्रहणादेव वार्तिकोत्पत्तिः ज्ञेया।

वृ०—उपपदमतिङन्तं अन्यशब्देन सह नित्यं समस्यते, स च तत्पुरुषः। उदा०—कुम्भकारः। कुम्भं करोतीति कुम्भकार इति लौकिकविग्रहः कुम्भ अम् कृ अण् इति अलौकिकविग्रहेण समासः।

२०. अमैवाव्ययेन २१

पद०—अमा ३। एव अ०। अव्ययेन ३। वृ०—अव्ययेन उपपदस्य यः समासः सोऽमन्तेनैव भवति, स च तत्पुरुषः। उदा०—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते।

(इति तत्पुरुषः समासः)

(अथ बहुव्रीहिः)

२३. शेषो बहुव्रीहिः २८

पद०—शेषः १। बहुव्रीहिः १। स०—बहुः व्रीहिः यस्य सः (बहु०)। वृ०—शेषः (उक्तादन्यः) समासः बहुव्रीहिसंज्ञः भवति। अधिकारोऽयम्।

२४. अनेकमन्यपदार्थे २९

पद०—अनेकम् १। अन्यपदार्थे ७। स०—न एकम् अनेकम् (नञ्तत्०)। अन्यश्च तत्पदं अन्यपदम्, तस्यार्थः अन्यपदार्थः तस्मिन् (तत्०)। वृ०—अनेकं सुबन्तं समस्यते अन्यपदार्थविषये, स च बहुव्रीहिः। उदा०—प्राप्तोदको ग्रामः।

२५. संख्ययाव्ययासन्नादूराधिक-संख्या: संख्येये

पद०—संख्यया ३। अव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः १। संख्येये ७। स०—अव्ययश्च आसन्नं च अदूरं च अधिकं च संख्या च इति अव्यया…… संख्याः (इ० द्व०)। वृ०—अव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः सुबन्ताः संख्यया सुबन्तेन सह समस्यन्ते संख्येये अर्थे, स च बहुव्रीहिः। उदा०—उपदशाः इत्यादयः द्वित्राः इत्यन्ताः।

२६. दिङ्नामान्यन्तराले

पद०—दिङ्-नामानि १। अन्तराले ७। स०—दिशां नामानि (तत्०)। वृ०—दिङ्नामानि सुबन्तानि सुबन्तैः सह अन्तराले अर्थे समस्यन्ते, स च बहुव्रीहिः। उदा०—पूर्वोत्तरा दिक्।

वा०—सर्वनाम्नो वृत्ति-मात्रे पुंवद्भावः।

पद०—सर्वनाम्नः ६। वृत्ति-मात्रे ७। पुंवद्भावः १। वृ०—कृत्तद्धितादिषु वृत्ति-मात्रे सर्वनाम्नः पुंवद्भावः भवति। उदा०—दक्षिणपूर्वा दिक्।

२७. तत्र तेनेदमिति सरूपे

पद०—तत्र अ० । तेन ३ । इदम् १ । इति अ० । सरूपे १ । स०—समानं रूपं सरूपं तस्मिन् (कर्मधारयः) । वृ०—तत्र इति सप्तम्यन्ते समानरूपे द्वे पदे, तेन इति तृतीयान्ते समानरूपे द्वे पदे; इदम् इति अस्मिन् अर्थे समासः भवति, स च बहुव्रीहिः । उदा०—केशाकेशि (केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्) । दण्डादण्डि (दण्डैः दण्डैः च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम् इति विग्रहः) ।

२८. तेन सहेति तुल्य-योगे

पद०—तेन ३ । सह अ० । इति अ० । तुल्य-योगे ७ । स०—तुल्यश्चासौ योगः तुल्ययोगः तस्मिन् (कर्मधारयः) । वृ०—सह इति सुबन्तम् अव्ययं तुल्ययोगे अर्थे तेनेति तृतीयान्तेन सुबन्तेन समस्यते, स च बहुव्रीहिः । उदा०—सपुत्रः पिता ।

२९. चार्थे द्वन्द्वः

पद०—चार्थे ७ । द्वन्द्वः १ । स०—चस्यार्थः चार्थः तस्मिन् (तत्०) । वृ०—अनेकं सुबन्तं चार्थे समस्यते, स च द्वन्द्वः । उदा०—प्लक्षन्यग्रोधौ । धवखदिरपलाशाः । वाक्त्वचम् । वाक्त्वग्दृषदम् । 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५।४।१०६' इति टच् ।

(अथ पूर्वनिपातविधिः)

३०. उपसर्जनं पूर्वम् ३१, ३८

पद०—उपसर्जनम् १ । पूर्वम् १ । वृ०—उपसर्जनसंज्ञकं पूर्वं तिष्ठति । उदा०-कष्टश्रितः ।

३१. राजदन्तादिषु परम्

पद०—राजदन्तादिषु ७ । परम् १ । स०—राजदन्तः आदिः येषां ते राजदन्तादयः तेषु (बहु०) । वृ०—राजदन्तादिशब्देषु उपसर्जनसंज्ञकं परम् तिष्ठति । उदा०—राजदन्तः ।

३२. द्वन्द्वे घि ३४

पद०—द्वन्द्वे ७ । घि १ । वृ०—द्वन्द्वे समासे घिसंज्ञकं पूर्वं तिष्ठति । उदा०-पटुगुप्तौ ।

३३. अजाद्यदन्तम्

पद०—अजाद्यदन्तम् १ । स०—अच् आदिः यस्य तत् अजादि, अत् अन्ते यस्य तत् अदन्तम्, अजादि च तत् अदन्तं अजाद्यदन्तम् (बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयः) । वृ०—अजाद्यदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं तिष्ठति । उदा०—उष्ट्रखरम् ।

३४. अल्पाच्तरम्

पद०—अल्पाच्तरम् १। स०—अल्पोऽच् यस्मिन् तदल्पाच् (बहु०) पश्चात् तरप्प्रत्यये रूपम्। वृ०—अल्पाच्तरम् शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं तिष्ठति। उदा०—प्लक्षन्यग्रोधौ।

वा० अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्

पद०—अभ्यर्हितम् १। च अ०। पूर्वम् १! निपतति १। इति अ०। वक्तव्यम् १। वृ०—श्रेष्ठं शब्दरूपं च पूर्वं तिष्ठति। उदा०—मातापितरौ। सीतारामौ।

३५. सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ ३७

पद०—सप्तमी-विशेषणे १। बहुव्रीहौ ७। स०—सप्तमी च विशेषणं च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ समासे पूर्वं तिष्ठतः। उदा०—कण्ठेकालः। चित्रगुः।

३६. निष्ठा ३७

पद०—निष्ठा १। वृ०—बहुव्रीहौ समासे निष्ठाप्रत्ययान्तं शब्दरूपं पूर्वं तिष्ठति। उदा०—कृतकटः।

वा० प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठा-सप्तम्यौ भवतः इति वक्तव्यम्

पद०—प्रहरणार्थेभ्यः ५। परे १। निष्ठासप्तम्यौ १। भवतः १। इति अ०। वक्तव्यम् १। वृ०—प्रहरणार्थेभ्यश्च निष्ठान्त-सप्तम्यन्तौ शब्दौ परौ भवतः। उदा०—अस्युद्यतः। दण्डपाणिः।

३७. वाऽऽहिताग्न्यादिषु

पद०—वा अ०। आहिताग्न्यादिषु ७। स०—आहिताग्निः आदिः येषां ते आहिताग्न्यादयः तेषु (बहु०)। वृ०—बहुव्रीहौ समासे आहिताग्न्यादिषु निष्ठाप्रत्ययान्तं शब्दरूपं पूर्वं तिष्ठति वा। उदा०—अग्न्याहितः। आहिताग्निः।

३८. कडाराः कर्मधारये

पद०—कडाराः १। कर्मधारये ७। वृ०—कडारादयः शब्दाः कर्मधारये समासे पूर्वं तिष्ठन्ति वा। उदा०—कडारजैमिनिः। जैमिनिकडारः।

(एकसंज्ञाधिकारः पूर्णः)

(पूर्वापराधरोत्तर०[1] तृतीयाप्रभृतीनि अष्टादश च इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ २३ ॥

अथ तृतीयः पादः

(अथ विभक्त्यर्थः)

१. अनभिहिते ७३

पद०—अनभिहिते ७ । स०—न अभिहितः अनभिहितः तस्मिन् (तत्०) । वृ०—अधिकारोऽयम् पादान्तं यावत् । (अनभिहिते = अनुक्ते सर्वत्र व्यवह्रियते । कर्मणि द्वितीया कर्त्तरि तृतीया इत्युक्तयोस्तयोस्तु प्रथमैव प्रत्ययो यस्मिन्नर्थे भवति, सोऽर्थोऽभिहितः । कर्त्तृवाच्ये कर्म अभिहितम् कर्मवाच्ये कर्त्तेति क्रमेण 'प्रातिपदिकार्थ० २।३।४६' इति सूत्रेण) ।

२. कर्मणि द्वितीया ३, ५

पद०—कर्मणि ७ । द्वितीया १ । वृ०—अनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिः भवति । उदा०—कटं करोति ।

वा० उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

पद०—उभसर्वतसोः ७ । कार्या १ । धिगुपर्यादिषु ७ । त्रिषु ७ । द्वितीया १ । आम्रेडितान्तेषु ७ । ततः अ० । अन्यत्र अ० । अपि अ० । दृश्यते १ । वृ०—इति एतेषु द्वितीया विभक्तिः कार्या । उदा०—'उभयतो ग्रामम्' इत्यादि ।

वा० अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रति-योगेषु

पद०—अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेषु ७ । वृ०—एतेषु शब्द-प्रयोगेषु द्वितीया विभक्तिः भवति । उदा०—अभितो ग्रामम् इत्यादि ।

५. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ७, ६

पद०—कालाध्वनोः ७ । अत्यन्तसंयोगे ७ । स०—कालश्च अध्वा च कालाध्वानौ, तयोः (इ० द्व०) । अत्यन्तश्चासौ संयोगः अत्यन्तसंयोगः तस्मिन् (कर्मधारयः) । वृ०—कालशब्देभ्योऽध्वशब्देभ्यश्च द्वितीया-विभक्तिः भवति अत्यन्तसंयोगे अर्थे । उदा०—मासमधीते । क्रोशमधीते (अविच्छिन्नमित्यर्थः) । 'क्रियाविशेषणे द्वितीया स्यात्' मधुरं पचति । मृदु पचति । साधु गच्छति । कुटिलं चलति इत्यादि ।

६. अपवर्गे तृतीया

पद०—अपवर्गे ७। तृतीया १। वृ०—कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया विभक्तिः भवति, अपवर्गे फलप्राप्तौ अर्थे सति। उदा०—मासेनानुवाकोऽधीतः। क्रोशेनानुवाकोऽधीतः, स चायत्तोऽपि जातः।

८. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ११

पद०—कर्मप्रवचनीययुक्ते ७। द्वितीया १। स०—कर्मप्रवचनीयेन युक्तं कर्मप्रवचनीययुक्तं तस्मिन् (तत्०)। वृ०—कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया विभक्तिः भवति। उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् देवः।

१३. चतुर्थी सम्प्रदाने १७

पद०—चतुर्थी १। सम्प्रदाने ७। वृ०—सम्प्रदाने कारके चतुर्थी विभक्तिः भवति। उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति। खण्डिकोपाध्यायः कुमाराय चपेटां ददाति (अनीप्सितमिदम्)।

१६. नमःस्वस्ति-स्वाहा-स्वधालं-वषड्-योगाच्च

पद०—नमःस्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगात् ५। च अ०। स०—नमः च……वषट् च तेषां समाहारः तेन योगः तस्मात् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट् इति एतैः योगे चतुर्थी विभक्तिः भवति। उदा० —नमो देवेभ्यः इत्यादि।

१७. मन्य-कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु

पद०—मन्यकर्मणि ७। अनादरे ७। विभाषा १। अप्राणिषु ७। स०—मन्यस्य कर्म मन्यकर्म तस्मिन् (तत्०)। न आदरः अनादरः तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अप्राणिषु मन्यकर्मसु अनादरे अर्थे विभाषा चतुर्थी विभक्तिः भवति। उदा०—न त्वा तृणं मन्ये। न त्वा तृणाय मन्ये।

१८. कर्त्तृकरणयोस्तृतीया २५

पद०—कर्त्तृकरणयोः ७। तृतीया १। स०—कर्त्ता च करणं च कर्त्तृकरणे तयोः (इ० द्व०)। वृ०—कर्त्तरि करणे च कारके तृतीया विभक्तिः भवति। उदा०—देवदत्तेन कृतम्। दात्रेण लुनाति।

१९. सह-युक्तेऽप्रधाने

पद०—सहयुक्ते ७। अप्रधाने ७। स०—सहेन युक्तं सहयुक्तं तस्मिन् (तत्०)। न प्रधानं अप्रधानम् तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—सहार्थेन युक्ते अप्रधाने अर्थे तृतीया विभक्तिः भवति। उदा०—पुत्रेण सहागतः पिता।

२०. येनाङ्गविकारः

पद०—येन ३। अङ्गविकारः १। स०—अङ्गेन विकारः अङ्गविकारः (तत्०)। वृ०—येनाङ्गेन विकारः अङ्गिनः लक्ष्यते, तस्मिन् तृतीया विभक्तिः भवति। उदा०—अक्ष्णा काणः।

२८. अपादाने पञ्चमी ३५

पद०—अपादाने ७। पञ्चमी १। वृ०—अपादाने कारके पञ्चमी विभक्तिः भवति। उदा०—ग्रामादागच्छति।

२९. अन्यारादितरर्ते दिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते

पद०—अन्यारादितरर्ते दिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ७। स०—अन्यश्च आराच्च इतरश्च ऋते च दिक्छब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च आच्च आहिश्च इति द्वन्द्वे तैः युक्तं तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्छब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि इति एतैः युक्ते पञ्चमी विभक्तिः भवति। उदा०—अन्यो देवदत्तात्। आरात् देवदत्तात्। इतरो देवदत्तात्। ऋते देवदत्तात्। पूर्वो ग्रामात्। प्राग् ग्रामात्। दक्षिणा ग्रामात्। दक्षिणाहि ग्रामात् चाण्डाला वसन्ति।

३६. सप्तम्यधिकरणे च ४५

पद०—सप्तमी १। अधिकरणे ७। च अ०। वृ०—अधिकरणे चात् दूरान्तिकार्थयोः च सप्तमी विभक्तिः भवति। उदा०—कटे आस्ते। दूरे ग्रामस्य। अन्तिके ग्रामस्य।

वा० निमित्तात् कर्मयोगे

पद०—निमित्तात् ५। कर्मयोगे ७। स०—कर्मणा योगः कर्मयोगस्तस्मिन् (तत्०)। वृ०—कर्मणा योगे सति निमित्तवाचिशब्दात् सप्तमी विभक्तिः भवति। उदा०—

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

---

३६. अत्र चात् "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" इति सूत्रात् दूरान्तिकार्थशब्दानुवृत्तौ विभक्तिपरिणामेन सप्तम्यन्ते कृते दूरान्तिकार्थे इति अर्थो लभ्यते। दूरार्थके अन्तिकार्थके च सप्तमी विभक्तिः भवति इत्यर्थः।

४६. प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-मात्रे **प्रथमा**　　४९

पद०—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे ७। प्रथमा १। स०—प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गश्च परिमाणञ्च वचनञ्च इति प्राति…वचनानि तानि एव प्राति…वचनमात्रं तस्मिन् (मयूरव्यंसकादयश्च इति एवार्थे मात्रशब्देन समासः प्रत्येकं च तस्य योगः) (द्वन्दगर्भः कर्मधारयः)। वृ०—प्रातिपदिकार्थमात्रे परिमाणमात्रे वचनमात्रे प्रथमा विभक्तिर्भवति। उदा०—उच्चैः। कुमारी। वृक्षः। कुण्डम्। द्रोणो व्रीहिः। एकः। द्वौ। बहवः।

४७. सम्बोधने च

पद०—सम्बोधने ७। च अ०। वृ०—सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिः भवति। उदा०—हे देवदत्त ! इत्यादि।

४८. साऽऽमन्त्रितम्

पद०—सा १। आमन्त्रितम् १। वृ०—सम्बोधने या प्रथमा तदन्तं शब्दरूपं आमन्त्रितसंज्ञं भवति। उदा०—हे देवदत्त ! इत्यादि।

४९. एकवचनं संबुद्धिः।

पद०—एकवचनम् १। सम्बुद्धिः १। वृ०—सम्बोधने आमन्त्रितप्रथमायाः यदेकवचनं तत् सम्बुद्धिसंज्ञं भवति। उदा०—हे वटो !

५०. **षष्ठी शेषे**　　७३, ५५

पद०—षष्ठी १। शेषे ७। वृ०—शेषे (कर्त्तृकारकादिवर्जिते) षष्ठी विभक्तिः भवति। उदा०—राज्ञः पुरुषः।

५२. अधीगर्थ-दयेशां **कर्मणि**　　६१

पद०—अधीगर्थदयेशाम् ६। कर्मणि ७। स०—अधीक् अर्थः येषां ते अधीगर्थाः (बहु०), अधीगर्थाश्च दयश्च ईश् च इति ते तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—अधीगर्थः = स्मरणार्थः, दय, ईश् इति एतेषां धातूनां कर्मणि कारके शेषत्वेन षष्ठी विभक्तिः भवति। उदा०—मातुः स्मरति। सर्पिषो दयते। सर्पिष ईष्टे।

६५. कर्त्तृ-कर्मणोः कृति

पद०—कर्त्तृ-कर्मणोः ७। कृति ७। स०—कर्त्ता च कर्म च इति ते तयोः इ० द्व०)। वृ०—कृदन्तप्रयोगे कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिः भवति। उदा०—भवतः शायिका। अपां स्रष्टा।

---

४६. 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इति नियमेन मात्रपदं सर्वत्र अन्वेति।

६९. न लोकाव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम्

पद०--न अ० । लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ६ । स०—खलोऽर्थः खलर्थः खलर्थः एव अर्थः येषां ते खलर्थाः (बहु०) लश्च, उश्च, उकश्च, अव्ययश्च, निष्ठा च, खलर्थश्च, तृन् च इति ते तथोक्ताः तेषाम् (इ० द्व०) । वृ०—लादेश उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थतृन् इति (तृन् इति प्रत्याहारग्रहणं 'लटः शतृ० ३।२।१२४' इति तृशब्दत आरभ्य 'तृन् ३।२।१३५'इत्यस्य नकारं यावत्) एतेषां प्रयोगे षष्ठी विभक्तिः न भवति । उदा०—ओदनं पचन् । कटं चिकीर्षुः । आगायुकं वाराणसीं रक्ष आहुः । कटं कृत्वा । ओदनं भुक्तवान् । ईषत्करः कटो भवता । तृन्–सोमं पवमानः । अधीयन् पारायणम् । कर्त्ता कटान् ।

(अनभिहिते[१] इत्थंभूत०[२] यतश्च०[३] प्रेष्यब्रुवोस्त्रयोदश च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहदनुपाणिनीये द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ २२ ॥

अथ चतुर्थः पादः

(अथ एकवद्भावः)

१. द्विगुरेकवचनम् १७

पद०—द्विगुः १। एकवचनम् १। वृ०—द्विगुः समासः एकवचनं भवति। उदा०—पञ्चपूली।

२. द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् १६

पद०—द्वन्द्वः १। च अ०। प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ६। स०—प्राणी च तूर्यश्च सेना च प्राणितूर्यसेनाः, तेषां अङ्गानि तानि तेषाम् (द्वन्द्वगर्भस्तत०)। वृ०—प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्वः समास एकवचनं भवति। उदा०—पाणिपादम्। वीणावादकम्। परिवादकम्। रथिकाश्वारोहकम्।

१७. स नपुंसकम् २५

पद०—सः १। नपुंसकम् १। वृ०—सः (द्विगुर्द्वन्द्वश्च) नपुंसकम् भवति। उदा०—पञ्चगवम्। पाणिपादम्।

१८. अव्ययीभावश्च

पद०—अव्ययीभावः १। च अ०। वृ०—अव्ययीभावः समासश्च नपुंसकं भवति। उदा०—अधिस्त्रि।

(अथ लिङ्गम्)

२६. परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः

पद०—परवत् अ०। लिङ्गम् १। द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ६। स०—द्वन्द्वश्च तत्पुरुषश्च तौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—द्वन्द्वतत्पुरुषयोः परपदवत् लिङ्गं भवति। उदा०—कुक्कुटमयूर्याविमे मयूरीकुक्कुटाविमौ। अर्द्धं पिपल्याः अर्द्धपिप्पली।

२९. रात्राह्णाहाः पुंसि

पद०—रात्राह्णाहाः १। पुंसि ७। स०—रात्रश्च अह्णश्च अहश्च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—रात्र, अह्ण, अह इति एते शब्दाः पुंसि भाष्यन्ते। उदा०—द्विरात्रः। पूर्वाह्णः। द्व्यहः।

३०. अपथं नपुंसकम् ३१

पद०—अपथम् १। नपुंसकम् १। स०—न पन्थाः अपथम् (नञ्तत्०)। वृ० –अपथशब्दः नपुंसकम् भवति। उदा०—अपथमिदम्।

३१. अर्धर्चाः पुंसि च

पद०—अर्धर्चाः १। पुंसि ७। च अ०। वृ०—अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपुंसके च भाष्यन्ते। उदा०—अर्द्धर्चः। अर्द्धर्चम् इत्यादि।

(अथादेशाः)

३२. इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ ३४, ३४, ३३, ३३

पद०—इदमः ६। अन्वादेशे ७। अश् १। अनुदात्तः १। तृतीयादौ ७। स०—तृतीया आदिः यस्याः सा तृतीयादिः तस्याम् (बहु०)। वृ०—अन्वादेशे इदंशब्दस्य तृतीयादौ विभक्तौ परतः अनुदात्तः अश् आदेश भवति। उदा०—आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम्। अस्मै छात्राय कम्बलं देहि, अथो अस्मै शाकटमपि देहि।

३३. एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ ३४

पद०—एतदः ६। त्रतसोः ७। त्रतसौ १। च अ०। अनुदात्तौ १। स०—त्रश्च तश्च इति तौ तयोः (इ० द्व०)। तथैव त्रतसौ अपि। वृ०—अन्वादेशे एतच्छब्दस्य त्रतसोः प्रत्यययोः परयोः अनुदात्तौ त्रतसौ आदेशौ भवतः अनुदात्तः अशपि। उदा०—एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे। एतस्माच्छात्राच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व।

३४. द्वितीयाटौस्स्वेनः

पद०—द्वितीयाटौस्सु ७। एनः १। स०—द्वितीया च टा च ओश्च द्वितीयाटौसः तेषु (इ० द्व०)। वृ० द्वितीया, टा, ओस् इति एतेषु विभक्तिषु परतः अन्वादेशे इदमेतदोः शब्दयोः अनुदात्तः एनशब्दः आदेशः भवति। उदा०—इमं छात्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय। अनेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम्। अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्। एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय। एतेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम्। एतयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्।

(अथ धात्वादेशाः)

३५. आर्धधातुके ५७

पद०—आर्धधातुके ७। वृ०—आर्धधातुके इति अधिकारोऽयम् "वा यौ २।४।५७" इति सूत्रं यावत्।

३६. अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति ४०

पद०—अदः ६ । जग्धिः १ । ल्यप् लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः । ति ७ । किति ७ । वृ०—अद्धातोः जग्धिः आदेशः भवति आर्धधातुके ल्यपि तकारादौ च किति प्रत्यये परे (इकारोऽनुबन्धः) । उदा०—प्रजग्ध्य । जग्धः । जग्धवान् ।

३७. लुङ्-सनोर्घस्लृ ४०

पद० लुङ्-सनोः ७ । घस्लृ १ । स०—लुङ् च सन् च तौ तयोः (इ० द्व०) । वृ०—अद्धातोः घस्लृ आदेशः भवति लुङि सनि च आर्धधातुके परे । उदा०—अघसत् । जिघत्सति ।

३८. घञपोश्च

पद०—घञपोः ७ । च अं० । स०—घञ् च अप् च तौ तयोः (इ० द्व०) । वृ०—अद्धातोः घस्लृ आदेशः भवति घञि अपि च आर्धधातुके परे । उदा०—घासः । प्रघसः ।

४०. लिट्यन्यतरस्याम् ४१

पद०—लिटि ७ । अन्यतरस्याम् ७ । वृ०—अदः घस्लृ आदेशः भवति अन्यतरस्याम् लिटि आर्धधातुके परे । उदा०—जघास । जक्षतुः । जक्षुः । आद । आदतुः । आदुः ।

४१. वेञो वयिः

पद०—वेञः ६ । वयिः १ । वृ०—वेञः वयिः आदेशो भवति अन्यतरस्याम् लिटि आर्धधातुके परे । उदा०—उवाय, ऊयतुः, ऊयुः । पक्षे—ऊवतुः, ऊवुः ।

४२. हनो वध लिङि ४४

पद०—हनः ६ । वध १ । लिङि ७ । वृ०—हनः वध आदेशः भवति लिङि आर्धधातुके परे । उदा०—वध्यात् ।

४३. लुङि च ४४

पद०—लुङि ७ । च अ० । वृ०—हनः वध आदेशः भवति लुङि च आर्धधातुके परे । उदा०—अवधीत् । अदन्तादेशाद् वृद्ध्यभावः ।

४४. आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्

पद०—आत्मनेपदेषु ७ । अन्यतरस्याम् ७ । वृ०—हनः वध आदेशः भवति अन्यतरस्याम् लुङि आर्धधातुके आत्मनेपदेषु प्रत्ययेषु परतः । उदा०—अवधिष्ट । आहत ।

४५. इणो गा लुङि ४७

पद०—इण: ६ । गा १ । लुङि ७ । वृ०—इण्धातोः गा आदेशः भवति लुङि आर्धधातुके परे । उदा०—अगात् । 'गातिस्था० २।४।७७' इति सिचो लुक् ।

४६. णौ गमिरबोधने ४८, ४७

पद०—णौ ७ । गमिः १ । अबोधने ७ । वृ०—इण्धातोः गमिः आदेशः भवति, णौ आर्धधातुके परे अबोधने अर्थे । उदा०—गमयति ।

४७. सनि च ४८

पद०—सनि ७ । च अ० । वृ०—इण्धातोः गमिः आदेशः भवति सनि च आर्धधातुके परे, अबोधने अर्थे । उदा०— जिगमिषति ।

४८. इङश्च ५१

पद०—इङः ६ । च अ० । वृ०—इङ्धातोः गमिः आदेशः भवति सनि आर्धधातुके परे च । उदा०—अधिजिगांसते ।

४९. गाङ् लिटि ५१

पद०—गाङ् १ । लिटि ७ । वृ०—इङ्धातोः गाङ् आदेशः भवति लिटि आर्धधातुके परे । उदा०—अधिजगे ।

५०. विभाषा लुङ्-लृङोः ५१

पद०—विभाषा १ । लुङ्-लृङोः ७ । स०—लुङ् च लृङ् च तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—इङ्धातोः गाङ् आदेशः भवति विभाषा लुङि लृङि च आर्धधातुके परतः । उदा०—अध्यगीष्ट । अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत । अध्यैष्यत ।

५१. णौ च संश्चङोः

पद०—णौ ७ । च अ० । संश्चङोः ७ । स०—सन् च चङ् च तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—इङ्धातोः गाङ् आदेशः भवति विभाषा सन्परके णौ चङ्परके च णौ आर्धधातुके परे । उदा०—अधिजिगापयिषति । अध्यापिपयिषति । अध्यजीगपत् । अध्यापिपत् ।

५२. अस्तेर्भूः

पद०—अस्तेः ६ । भूः १ । वृ०—अस्धातोः भूः आदेशः भवति आर्धधातुके । उदा०—भविता । भवितुम् । भवितव्यम् ।

५३. ब्रुवो वचिः

पद०—ब्रुवः ६। वचिः १। वृ०—ब्रूञ्धातोः वचिः आदेशः भवति आर्धधातुके विषये। उदा०—उच्यते। वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्। उक्तम्। उक्तिः। उक्त्वा।

५४. चक्षिङः ख्याञ् ५५

पद०—चक्षिङः ६। ख्याञ् १। वृ०—चक्षिङ्धातोः ख्याञ् आदेशः भवति आर्धधातुके विषये। उदा०—आख्यीयते। आख्याता। आख्यातुम्। आख्यातव्यम्।

५५. वा लिटि

पद०—वा अ०। लिटि ७। वृ०—चक्षिङ्धातोः ख्याञ् आदेशः वा भवति लिटि आर्धधातुके परे। उदा०—आचख्यौ। आचचक्षे।

(अथ लुक्प्रकरणम्)

५८. ण्य-क्षत्रियार्ष-ञितो यूनि लुगणिञोः ६१, ८४

पद०—ण्य-क्षत्रियार्ष-ञितः ५। यूनि ७। लुक् १। अणिञोः ६। स०—ञ् इत् यस्य सः ञित् (बहु०) ण्यश्च क्षत्रियश्च आर्षश्च ञिच्च इति तेषां समाहारः ण्य…ञित् तस्मात् (स० द्व०)। अण् च इञ् च तौ, तयोः (इ० द्व)। वृ० - ण्यन्तात् क्षत्रियगोत्राद् आर्षाद् (ऋषिवाचिगोत्रात्) ञितः (ञित्गोत्रात्) च परयोः यूनि (युवापत्ये) अणिञोः लुग् भवति। उदा०—कौरव्यः पिता। कौरव्यः पुत्रः। वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः। वैदः पिता, वैदः पुत्रः।

६२. तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ७०

पद०—तद्राजस्य ६। बहुषु ७। तेन ३। एव अ०। अस्त्रियाम् ७। स०—तेषां राजा तद्राजः तस्य (त०तु०)। न स्त्री अस्त्री तस्याम् (नञ्तत्०)। वृ०—बहुषु वर्त्तमानस्य तद्राजसंज्ञकप्रत्ययस्य अस्त्रीलिङ्गस्य लुक् भवति, तद्राजप्रत्ययकृतमेव बहुत्वं चेत्। उदा०—अङ्गा। वङ्गाः। पञ्चालाः।

६३. यस्कादिभ्यो गोत्रे ७०

पद०—यस्कादिभ्यः ५। गोत्रे ७। स०—यस्कः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—बहुषु वर्तमानस्य यस्कादिपरस्य गोत्रप्रत्ययस्य अस्त्रीलिङ्गस्य लुग् भवति, गोत्रप्रत्ययकृतमेव बहुत्वं चेत्। उदा०—यस्काः।

६४. यञञोश्च

पद०—यञञोः ६। च अ०। स०—यञ् च, अञ् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—बहुषु वर्त्तमानयोः अस्त्रीलिङ्गयोः गोत्रप्रत्यययोः यञञोः लुग् भवति। गोत्रप्रत्ययकृतमेव बहुत्वं चेत्। उदा०—गर्गाः।

७१. सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः

पद०—सुपः ६। धातु-प्रातिप्रदिकयो· ६। स० - धातुश्च प्रातिपदिकञ्च ते, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—धातुसंज्ञायाः प्रातिपदिकसंज्ञायाः च सुपः विभक्तेः लुक् भवति। उदा०—पुत्रीयति। कष्टश्रितः।

७२. अदिप्रभृतिभ्यः शपः   ७३, ७६

पद०—अदिप्रभृतिभ्यः ५। शपः ६। स०—अदिः प्रभृतिर्येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—अदिप्रभृतिभ्यः धातुभ्यः उत्तरस्य शपः लुग् भवति। उदा०—अत्ति। हन्ति। द्वेष्टि।

७३. बहुलं छन्दसि

पद०—बहुलम् १। छन्दसि ७। वृ०—अदिप्रभृतिभ्यः धातुभ्यः छन्दसि शपः बहुलं लुग् भवति। उदा०—वृत्रं हनति। अन्येभ्यश्च भवति—त्राध्वं नो देवाः।

७४. यङोऽचि च

पद०--यङः ६। अचि ७। च अ०। वृ०—यङः बहुलं लुक् भवति, अचि प्रत्यये परे। उदा०—लोलुवः। बहुलग्रहणादनच्यपि भवति—शाकुनिको लालपीति। दुन्दुभि वावदीति।

७५. जुहोत्यादिभ्यः श्लुः   ७६

पद०—जुहोत्यादिभ्यः ५। श्लुः १। स०—जुहोति आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०– जुहोत्यादिभ्यः धातुभ्यः उत्तरस्य शपः श्लुः भवति। उदा०—जुहोति।

७७. गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु   ७९, ७८

पद०--गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः ५। सिचः ६। परस्मैपदेषु ७। स०—गातिश्च स्थाश्च घुश्च पाश्च भूश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—गाति, स्था, घु, पा, भू इति एतेभ्यः धातुभ्यः परस्य सिचः लुक् भवति, परस्मैपदेषु परेषु। उदा०—अगात् इत्यादि। गापौ इह गाङ् आदेशः पिबतिः गृह्यते।

७८. विभाषा घ्रा-धेट्-शाच्छासः   ७९

पद०—विभाषा १। घ्रा-धेट्-शाच्छासः ५। स०—घ्राश्च धेट् च शाश्च छाश्च साश्च इति तेषां समाहारः घ्राधेट्शाच्छासम् तस्मात् (स० द्व०)।

वृ०—घ्रा, धेट्, शा, छा, सा इति एतेभ्यः धातुभ्यः उत्तरस्य सिचः परस्मैपदेषु विभाषा लुक् भवति। उदा०—अघ्रात्। अघ्रासीत् इत्यादि।

७९. तनादिभ्यस्त-थासोः

पद०—तनादिभ्यः ५। त-थासोः ७। स०—तन् आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। तश्च थास् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—तनादिभ्यः धातुभ्यः उत्तरस्य सिचः विभाषा लुक् भवति तथासोः परयोः। उदा०—अतत। अतनिष्ठ। अतथाः। अतनिष्ठाः।

८०. मन्त्रे घस-ह्वर-णश-वृह-दहाद्-वृच्-कृ-गमि-जनिभ्यो लेः ८१

पद०—मन्त्रे ७। घस···जनिभ्यः ५। लेः ६। स०—घसश्च ह्वरश्च णशश्च वृहश्च दहश्च आच्च वृच्च कृश्च गमिश्च जनिश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—मन्त्रविषये घस, ह्वर, णश, वृ (वृङ् वृञ् उभयोर्ग्रहणम्), दह, आत्, वृच्, कृ, गमि, जनि इति एतेभ्यः धातुभ्यः उत्तरस्य लेः (च्लिप्रत्ययस्य लिटश्च) लुक् भवति। उदा०—अक्षन्नमीमदन्त पितरः। मा ह्वर्मित्रस्य त्वम्। प्राणङ्-मर्त्यस्य। सुरुचो वेन आवः। मा न आधक्। आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्। मा नो अस्मिन् महाधने परावर्क्। अक्रन् कर्म कर्मकृतः। अग्मन्। अज्ञत वा अस्य दन्ताः। (सूत्रमिदं 'लि' शब्दार्थं गृहीतम्, नान्यत्प्रयोजनम्)।

८१. आमः

पद०—आमः ५। वृ०—आम्प्रत्ययात् उत्तरस्य लेः प्रत्ययस्य लुक् भवति। उदा०—ईहांञ्चक्रे। (लिशब्देन च्लि लिट् इत्युभयं गृह्यते)।

८२. अव्ययादाप्सुपः ८४

पद०—अव्ययात् ५। आप्सुपः ६। स०—आप् च सुप् च तयोः समाहारः आप्सुप् तस्य (स० द्व०)। वृ०—अव्ययात् उत्तरस्य आपः सुपः च लुक् भवति। उदा०—तत्र शालायाम्। कृत्वा।

८३. नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः ८४

पद०—न अ०। अव्ययीभावात् ५। अतः ५। अम् १। तु अ०। अपञ्चम्याः ६। स०—न पञ्चमी अपञ्चमी तस्याः (नञ्तत्०)। वृ०—अदन्तात् अव्ययीभावसमासात् उत्तरस्य सुपः न लुक् भवति, तस्य सुपः अम् आदेशः तु भवति पञ्चमीविभक्तिं वर्जयित्वा। उदा०—उपकुम्भं तिष्ठति। उपकुम्भं पश्य।

८४. तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्

पद०—तृतीयासप्तम्योः ६। बहुलम् १। स०—तृतीया च सप्तमी च ते तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अदन्तात् अव्ययीभावसमासात् उत्तरयोः तृतीया-सप्तम्योः विभक्त्योः बहुलम् अम् आदेशः भवति। उदा०--उपकुम्भेन कृतम्। उपकुम्भं कृतम्। उपकुम्भे निधेहि। उपकुम्भं निधेहि।

८५. लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः

पद०—लुटः ६। प्रथमस्य ६। डारौरसः १। स०—डाश्च रौश्च रस् च ते तथोक्ताः (इ० द्व०)। वृ०—लुटः प्रथमस्य उभयपदस्य डा, रौ, रस् इति एते आदेशाः भवन्ति क्रमशः। उदा०—कर्त्ता। कर्त्तारौ। कर्त्तारः। आत्मनेपदे-- अध्येता। अध्येतारौ। अध्येतारः।

(द्विगु०[१] उपज्ञोपक्रमं०[२] वेञो वयिः, न तौल्वलिभ्यः[४] आमः पञ्च च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति वृहदजुपाणिनीये द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ८५ ॥

अथ तृतीयाध्याये

प्रथमः पादः

***

(अथ प्रत्ययप्रकरणम्)

१. प्रत्ययः ५।४।१६०

पद०—प्रत्ययः १। वृ०—अधिकारोऽयम् 'प्रत्ययः' इति 'निष्प्रवाणिश्च ५। ४। १६०' इति सूत्रं यावत्। उदा०—कर्त्तव्यम्। करणीयम्।

२. परश्च ५।४।१६०

पद०—परः १। च अ०। वृ०—'परश्च' अधिकारोऽयम् 'निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०' इति सूत्रं यावत्। यः प्रत्यय सः परश्च भवति। उदा०—कर्त्तव्यम्। तैत्तिरीयम्।

३. आद्युदात्तश्च ५।४।१६०

पद०—आद्युदात्तः १। च अ०। स०—आदिः उदात्तः यस्य सः (बहु०)। वृ०—अयमपि शब्दः अधिकारः 'निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०' इति सूत्रं यावत्। यः प्रत्ययः स च आद्युदात्तः भवति। उदा०—कर्त्तव्यम्।

४. अनुदात्तौ सुप्पितौ

पद०—अनुदात्तौ १। सुप्पितौ १। स०—सुप् च पित् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—तत्रैव सुप्पितौ प्रत्ययौ अनुदात्तौ भवतः। उदा०—दृषदौ। पचति।

५. गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ७

पद०—गुप्तिज्किद्भ्यः ५। सन् १। स०—गुप् च तिज् च कित् च इति ते तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—गुप्, तिज्, कित् इति एतेभ्यः धातुभ्यः सन् प्रत्ययः भवति। उदा०—जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति 'सन्यङोः६।१।९' इत्यादिना द्वित्वादिकृत्यम्।

७. धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा १०, ९, २२

पद०—धातोः ५। कर्मणः ५। समानकर्तृकात् ५। इच्छायाम् ७। वा अ०। स०—समानः कर्त्ता यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—इच्छायां अर्थे इषि धातोः

कर्मणः समानकर्तृकात् वा सन् प्रत्ययः भवति। उदा०—कर्तुमिच्छति चिकीर्षति।

८. सुप आत्मनः क्यच् ११, ९ १०

पद०—सुपः ५। आत्मनः ६। क्यच् १। वृ०—इषिकर्मणः एषितुरेवात्मसम्बन्धिनः सुबन्तात् इच्छायामर्थे वा क्यच् प्रत्ययः भवति। उदा०—आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति।

९. काम्यच्च

पद०—काम्यच् १। च अ०। वृ०—इषिकर्मणः एषितुरेवात्मसम्बन्धिनः सुबन्तात् इच्छायाम् अर्थे वा काम्यच् प्रत्ययः भवति। उदा०—आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति।

१०. उपमानादाचारे ११

पद०—उपमानात् ५। आचारे ७। वृ०—उपमानात् कर्मणः सुबन्तात् आचारे अर्थे वा क्यच् प्रत्ययः भवति। उदा०—पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्। मात्रीयति परकलत्रम्।

वा० अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्

पद०—अधिकरणात् ५। च अ०। इति अ०। वक्तव्यम् १। वृ०—उपमानाधिकरणात् सुबन्तात् आचारे च अर्थे वा क्यच् प्रत्ययः भवति। उदा०—प्रासादीयति कुट्याम् भिक्षुः।

११. कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च १८

पद०—कर्त्तुः ५। क्यङ् १। सलोपः १। च अ०। स०—सस्य लोपः सलोपः (तत्०)। वृ०—उपमानात् कर्त्तुः सुबन्तात् आचारे अर्थे वा क्यङ् प्रत्ययः भवति, सकारस्य च लोपः भवति। उदा०—श्येनायते काकः।

वा० ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया

पद०—ओजसः ५। अप्सरसः ५। नित्यम् १। पयसः ५। तु अ०। विभाषया ३। वृ०—ओजस्, अप्सरस्, इति एताभ्यां शब्दाभ्यां नित्यं क्यङ् प्रत्ययः भवति, सकारस्य लोपः च भवति; परन्तु पयसः क्यङ् प्रत्ययो विभाषया सकारस्य च लोपः भवति। उदा०—ओजायते। अप्सरायते। पयायते। पयस्यते।

वा० सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः

पद०—सर्वप्रातिपदिकेभ्यः ५। क्विप् १ वा अ०। वक्तव्यः १।

वृ०--सर्वप्रातिपदिकेभ्यः वा क्विप् प्रत्ययः भवति । उदा०—अश्वति खरः । रिपवन्ति मित्राणि ।

१२. भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः १३

पद०—भृशादिभ्यः ५ । भुवि ७ । अच्वेः ५ । लोपः १ । च अ० । हलः ६ । स०--भृशः आदिः येषां ते भृशादयः तेभ्यः (बहु०) । न च्विः अच्विः, तस्मात् (नञ्तत्०) । वृ०—भृशादिभ्यः शब्देभ्यः अच्व्यन्तेभ्यः भुवि (भवति अर्थे) वा क्यङ् प्रत्ययो भवति, हलन्तस्य च लोपः भवति । उदा०—अभृशो भृशो भवति इति भृशायते । सुमनायते । उन्मनायमानः ।

१५. कर्मणो रोमन्थ-तपोभ्यां वर्त्ति-चरोः २०

पद०—कर्मणः ५ । रोमन्थतपोभ्याम् ५ । वर्त्तिचरोः ७ । स०—रोमन्थश्च तपस् च तौ, ताभ्याम् (इ० द्व०) । वर्त्तिश्च चर् च तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—रोमन्थतपोभ्यां शब्दाभ्यां कर्मभ्यां वर्त्तिचरोरर्थयोः क्यङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—रोमन्थं वर्त्तयति रोमन्थायते गौः । तपस्यति । 'तपसः परस्मैपदं च' इति वार्त्तिकेन 'तपस्यति' इति परस्मैपदम् ।

१७. शब्द-वैर-कलहाभ्र-कण्व-मेघेभ्यः करणे २१

पद०—शब्द····मेघेभ्यः ५ । करणे ७ । स०—शब्दश्च वैरश्च कलहश्च अभ्रश्च कण्वश्च मेघश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०) । वृ०—शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ इति एतेभ्यः शब्देभ्यः कर्मवाचिभ्यः करणे (करोत्यर्थे) वा क्यङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—शब्दं करोति शब्दायते इत्यादि ।

१८. सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्

पद०—सुखादिभ्यः ५ । कर्तृ इति लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः । वेदनायाम् ७ । स०—सुखम् आदिः येषां ते सुखादयः, तेभ्यः (बहु०) । वृ०—कर्तुः सुखादिभ्यः कर्मभ्यः शब्देभ्यः कर्त्तुः वेदनायां अर्थे वा क्यङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—सुखं वेदयते सुखायते ।

२२. धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ९०, २४

पद०—धातोः ५ । एकाचः ५ । हलादेः ५ । क्रियासमभिहारे ७ । यङ् १ । स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्मात् (बहु०) । हल् आदिः यस्य सः हलादिः, तस्मात् (बहु०) । क्रियायाः समभिहारः क्रियासमभिहारः तस्मिन् (तत्०) । वृ०—एकाचः हलादेः धातोः क्रियासमभिहारेऽर्थे वा यङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—पुनः पुनः पचति पापच्यते ।

२३. नित्यं कौटिल्ये गतौ २४

पद०—नित्यम् १। कौटिल्ये ७। गतौ ७। वृ०—गत्यर्थाद् धातोः कौटिल्ये गम्यमाने नित्यं यङ् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुटिलं क्रामति चङ्क्रम्यते।

२५. सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् २६

पद०—सत्याप....चुरादिभ्यः ५। णिच् १। स०—चुर् आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। सत्यापश्च पाशश्च रूपं च वीणा च तूलश्च श्लोकश्च सेना च लोम च त्वच च वर्म च वर्णं च चूर्णं च चुरादयश्च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण इति एतेभ्यः शब्देभ्यः चुरादिभ्यः च धातुभ्यः णिच् प्रत्ययः भवति। उदा०—सत्यमाचष्टे सत्यापयति। विपाशयति। रूपयति। वीणयोपगायति उपवीणयति। तूलेनाकुष्णाति अनुतूलयति। श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति। सेनयाऽभियाति अभिषेणयति। लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति। त्वचशब्दोऽदन्तः त्वचं गृह्णाति त्वचयति। वर्मणा संनह्यति संवर्मयति। वर्णं गृह्णाति वर्णयति। चूर्णैरवध्वंसति अवचूर्णयति। चोरयति इत्यादि।

वा० अर्थ-वेद-सत्यानामापुग्वक्तव्यः

पद०—अर्थवेदसत्यानाम् ६। आपुक् १। वक्तव्यः १। वृ०—एतेषां आपुक् आगमः भूत्वा णिच् प्रत्ययः भवति। उदा०—अर्थापयति इत्यादि।

२६. हेतुमति च

पद०—हेतुमति ७। च अ०। वृ०—हेतुमति (प्रयोजकव्यापारप्रेषणादौ अर्थे) च धातोः णिच् प्रत्ययः भवति। उदा०—कटं कारयति।

वा०—आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति णिच् कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकम्

पद०—आख्यानात् ५। कृतः ५। तदाचष्टे ७। इति अ०। णिच् १। कृल्लुक् १। प्रकृतिप्रत्यापत्तिः १। प्रकृतिवत् अ०। च अ०। कारकम् १। वृ०—आख्यानात् कृदन्तात् तदाचष्टे अर्थे णिच् प्रत्ययः भवति, कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवत् च कारकं भवति। उदा०—कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति।

वा० तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम्

पद०—तत्करोति १। इति अ०। उपसंख्यानम् १। सूत्रयत्याद्यर्थम् १।

वृ०—तत्करोति अर्थे सूत्रयति प्रयोगे णिच् प्रत्ययः भवति । उदा०—सूत्रं करोति सूत्रयति ।

२७. कण्ड्वादिभ्यो यक्

पद०—कण्ड्वादिभ्यः ५। यक् १। स०—कण्डू आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—कण्ड्वादिभ्यः धातुभ्यः यक् प्रत्ययः भवति। उदा०—कण्डूयते। कण्डूयति। कण्ड्वादयो द्विधा—धातवः, प्रातिपदिकानि च। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे। कण्डूतिः=घर्षणम्।

३२. सनाद्यन्ता धातवः

पद०—सनाद्यन्ताः १। धातवः १। स०—सन् आदिः येषां ते सनादयः, सनादयः अन्ते येषां ते सनाद्यन्ताः (बहु०)। वृ०—सनाद्यन्ताः समुदायाः धातुसंज्ञकाः भवन्ति। उदा०—चिकीर्षति। पुत्रीयति इत्यादि।

सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यषोऽथाचारक्विब णिज्यङौ तथा।
यगायेयङ्णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः॥ १२॥

(अथ विकरणप्रकरणम्)

३३. स्यतासी लृलुटोः

पद०—स्यतासी १। लृलुटोः ७। स०—स्यश्च तासिश्च स्यतासी (इ० द्व०)। लृच लुट् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—लृलुटोः (लृट्, लृङ्, लुट्) परयोः धातोः यथासंख्यं स्यतासी प्रत्ययौ भवतः। उदा०—करिष्यति। अकरिष्यत्। श्वः कर्त्ता।

३४. सिब्बहुलं लेटि

पद०—सिप् ११ बहुलम् १। लेटि ७। वृ०—लेटि परे धातोः बहुलं सिप् प्रत्ययः भवति। उदा०—जोषिषत्।

३५. कास्-प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ४०, ३९

पद०—कास्प्रत्ययात् ५। आम् १। अमन्त्रे ७। लिटि ७। स०—कास् च प्रत्ययश्च तयोः समाहारः कास्प्रत्ययं तस्मात् (स० द्व०)। न मन्त्रः अमन्त्रः तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—कास्, प्रत्ययान्तधातुश्च इति एतेभ्यः धातुभ्यः आम् प्रत्ययः भवति लिटि परे, अमन्त्रे विषये। उदा०—कासाञ्चक्रे। लोलूयाञ्चक्रे।

३६. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः

पद०—इजादेः ५। च अ०। गुरुमतः ५। अनृच्छः ५। स०—इच् आदि-

यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। न ऋच्छ् अनृच्छ् तस्मात् (नञतत्०)। वृ०—इजादिगुरुमतो धातोः आम् प्रत्ययः भवति लिटि परे ऋच्छधातुं वर्जयित्वा। उदा०—ईहाञ्चक्रे।

३७. दयायासश्च

पद०—दयायासः ५। च अ०। स०—दयश्च अयश्च आस् च तेषां समाहारः दयायास् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—दय, अय, आस् इति एतेभ्यः धातुभ्यश्च लिटि परे आम् प्रत्ययः भवति। उदा०—'न वा पलायाञ्चक्रे विर् दयाञ्चक्रे न राक्षसः' (भट्टि ५।१०६)। आसाञ्चक्रे। अदन्त आमादेश आस्-कासोराम्-विधानात्।

३८. उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३९

पद०—उष-विद-जागृभ्यः ५। अन्यतरस्याम् ७। स०—उषश्च विदश्च जागृ च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—उष, विद, जागृ इति एतेभ्योः धातुभ्यो लिटि परे आम् प्रत्ययः भवति, अन्यतरस्याम्। उदा०—'ओषाञ्चकार कामाऽग्निर् दश-वक्त्रमहर्निशम्। विदाञ्चकार वैदेहीं रामादन्यनिरुत्सुकाम् ॥' (भट्टि ६।१)। विकल्पपक्षे—उवोष इत्यादि।

३९. भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च।

पद०—भीह्रीभृहुवाम् ६। श्लुवत् अ०। च अ०। स०—भीश्च ह्रीश्च भृश्च हुश्च ते, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—ञिभी, ह्री, डुभृञ्, हु इति एतेभ्यः धातुभ्यः लिटि परे आम् प्रत्ययः भवति, अन्यतरस्याम्, श्लुवत् च कार्यं भवति। उदा०—'प्रबिभयाञ्चकाराऽसौ काकुत्स्थादभिशङ्कितः' (भट्टि ६।२)। 'न जिह्रयाञ्चकाराऽथ सीतामभ्यर्थ्य तर्जितः। नाप्यूर्जं बिभरामास वैदेह्यां प्रसितो भृशम्'। (भट्टि ६।३)। विकल्पपक्षे बिभाय इत्यादि।

४०. कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि

पद०—कृञ् १। च अ०। अनुप्रयुज्यते १। लिटि ७। वृ०—आम्प्रत्ययस्य पश्चात् कृञ् (कृ, भू, अस्) अनुप्रयुज्यते लिटि परे। उदा०—पाचयाञ्चकार।

---

४०. 'कृम्वस्ति० ५।४।५०' इति सूत्रतः 'कृञो ५।४।५८' इति सूत्रस्थकृञः ञकारं यावत् कृञ्प्रत्याहारः इति पूर्वाचार्यैः कृतः। अहं तु 'कृम्वस्ति ५.४ ५०' इति सूत्रे कृभ्वस्तीनाम् उपलक्षणं मन्ये कृञ्शब्देन। 'आमः '२।४ ८१' इति सूत्रेण लिटो लुकि पुनः लिड्विधानार्थम् 'लिटि' इति अनुवर्त्तमानेऽपि 'लिटि' इत्यस्य पुनः ग्रहणम्।

४१. विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ४२

पद०—विदाङ्कुर्वन्तु १। इति अ०। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—विदाङ्कुर्वन्तु इति एतच्छब्दं अन्यतरस्यां निपात्यते। उदा०—'विदाङ्कुर्वन्तु रामस्य वृत्तमित्यवदत् स्वकान्' (भट्टि ६।४)। विकल्पपक्षे—विदन्तु।

४३ च्लि लुङि ६६

पद०— च्लि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। लुङि ७। वृ०— लुङि परे धातोः च्लि-प्रत्ययः भवति। उदा०—अग्रे द्रष्टव्यम्।

४४. च्लेः सिच् ६६

पद०—च्लेः ६। सिच् १। वृ०—च्लेः स्थाने सिच् आदेशः भवति, लुङि परे। उदा०—अकार्षीत्। 'अहं न्यवधिषं भीमं राक्षसं क्रूरविक्रमम्' (भट्टि ६।१६)।

४५. शल इगुपधादनिटः क्सः ४७

पद०—शलः ५। इगुपधात् ५। अनिटः ५। क्सः १। स०—इक् उपधा यस्य स इगुपधः, तस्मात् (बहु०)। न विद्यते इट् यस्मिन् सः अनिट्, तस्मात् (बहु०)। वृ०—शलन्तात् इगुपधात् अनिट्धातोः च्लेः स्थाने क्सः आदेशो भवति, लुङि परे। उदा०—अधुक्षत्। 'मा धुक्षः पत्युरात्मानम्' (भट्टि ६।१६)।

४७. न दृशः

पद०—न अ०। दृशः ५। वृ०—दृश्धातोः च्लेः स्थाने क्सः आदेशो न भवति, लुङि परे। उदा०— अदर्शत्। अद्राक्षीत्। 'मा स्म द्राक्षीर् मृषा दोषम्' (भट्टि ६। १७)।

४८. णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ५१

पद०— णिश्रिद्रुस्रुभ्यः ५। कर्त्तरि ७। चङ् १। स०—णिश्च श्रिश्च द्रुश्च स्रुश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—ण्यन्तेभ्यः धातुभ्यः श्रि, द्रु, स्रु इत्येतेभ्यः धातुभ्यश्च च्लेः स्थाने चङ् आदेशः भवति, कर्त्तरि लुङि परे। उदा०—अचीकरत्। 'भक्तं मां माऽतिचिक्लिशः। शैलं न्यशिश्रियद् वामा, नदीं तु प्रत्यदुद्रुवत् ॥ (भट्टि ६।१७)।

४९. विभाषा धेट्-श्व्योः ५०

पद०—विभाषा १। धेट्-श्व्योः ६। स०—धेट् च श्विश्च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—धेट्, टुओश्वि इत्येताभ्यामुत्तरस्य च्लेः स्थाने विभाषा चङ् आदेशो भवति लुङि परे। उदा०—अदधत्। 'त्वं नो मतिमिवाऽधासीर् नष्टा

प्राणानिवाऽन्दधः' (भट्टि ६ । १८) । 'रुदतोऽशिश्वियच् चक्षु-रास्यं हेतोस् तवाऽश्वयीत्' (भट्टि ६ । १९) । विकल्पपक्षे—अधात् । अधासीत् इत्यादि ।

५२. अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् ५९

पद०—अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्यः ५ । अङ् १ । स० - अस्यतिश्च वक्तिश्च ख्यातिश्च इति ते तेभ्यः (इ० द्व०) । वृ०—असु, वच, ख्या इत्येतेभ्यः धातुभ्यः च्लेः स्थाने अङ् आदेशः भवति, लुङि परे । उदा०—पर्यास्थत । अवोचत् । आख्यत् । 'म्रियेऽहं मां निरास्थश् चेन् मा न वोचश् चिकीर्षितम्' (भट्टि६।१९) । 'लक्ष्मणाऽऽचक्ष्व, यद्याख्यत् सा किञ्चित् कोप-कारणम्' (भट्टि ६।२०) ।

५३. लिपि-सिचि-ह्वश्च ५४

पद०—लिपि-सिचि-ह्वः ५ । च अ० । स०—लिपिश्च सिचिश्च ह्वश्च इति तेषां समाहारः लिपिसिचिह्वम्, तस्मात् (स० द्व०) । वृ०—लिप, षिच, ह्वेञ् इत्येतेभ्यः धातुभ्यः च्लेः स्थाने अङ् आदेशः भवति लुङि परे । उदा०—'इह सा व्यलिपद् गन्धैः स्नान्तीहाऽभ्यषिचज् जलैः । इहाऽहं द्रष्टुमाह्व तां रमरन्नेव मुमोह सः' ॥ (भट्टि ६ । २१) ।

५४. आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्

पद०—आत्मनेपदेषु ७ । अन्यतरस्याम् ७ । वृ०—लिप, षिच, ह्वेञ् इत्येतेभ्यः धातुभ्यः च्लेः स्थाने अङ् आदेशः भवति, अन्यतरस्याम् आत्मनेपदेषु लुङि परे । उदा०—'तस्याऽलिपत शोकाऽग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन् । अलिप्तैवाऽनिलः शीतो वने तं न त्वजिह्वदत्' ॥ (भट्टि ६ । २२) । 'स्नानभ्यषिचताम्भोऽसौ रुदन् दयितया विना । तथाऽभ्यषिक्त वारीणि पितृभ्यः शोकमूर्च्छितः' ॥ (भट्टि ६। २३) । 'आह्वास्त स मुहुः शूरान्, मुहुराह्वत राक्षसान्' । (भट्टि ६ । २५) ।

५५. पुषादि-द्युताद्य्लृदितः **परस्मैपदेषु** ५८

पद०—पुषादिद्युताद्य्लृदितः ५ । परस्मैपदेषु ७ । स०—पुषः आदिः येषां ते पुषादयः, द्युतः आदिः येषां ते द्युतादयः, लृ इत् यस्य स लृदित् । पुषादयश्च द्युतादयश्च लृदित् च इति तेषां समाहारः पुषादिद्युताद्य्लृदित् तस्मात् (बहुव्रीहि गर्भसमाहारः द्वन्द्वः) । वृ०—पुषादिभ्यः द्युतादिभ्यः लृदिद्भ्यश्च धातुभ्यः च्लेः स्थाने अङ् आदेशः भवति, परस्मैपदेषु लुङि परे । उदा०—अपुषत् । अद्युतत् । अगमत् । 'तथाऽऽर्तोऽपि क्रियां धर्म्यां स काले नाऽमुचत् क्वचित्' । (भट्टि ६।२४) । 'स्व-पोषमपुषद् युष्मान् या पक्षि-मृग-शावकाः । अद्युतच् चेन्दुना सार्धं तां प्रब्रूत गता यतः' ॥ (भट्टि ६ । २६) ।

५६. सर्ति-शास्त्यर्तिभ्यश्च

पद०—सर्तिशास्त्यर्तिभ्यः ५। च अ०। स०—सर्तिश्च शास्तिश्च अर्तिश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—सृ, शासु, ऋ इत्येतेभ्यः धातुभ्यश्च च्लेः स्थाने अङ् आदेशः भवति, परस्मैपदेषु लुङि परे। उदा०—असरत्। अशिषत्। आरत्। 'गिरिमन्वसृपद् रामो लिप्सुर् जनकसंभवाम्। तस्मिन्नायोधनं वृत्तं लक्ष्मणायाऽशिषन् महत्' ॥ (भट्टि ६।२७)। 'सीतां जिघांसू सौमित्रे राक्षसावारतां ध्रुवम्'। (भट्टि ६।२८)।

५७. इरितो वा ५८

पद०—इरितः ५। वा अ०। स०—इर् इत् यस्य सः इरित्, तस्मात् (बहु०)। वृ०—इरितः धातोः च्लेः स्थाने वा अङ् आदेशः भवति, परस्मैपदेषु लुङि परे। उदा०—अभिदत्। अभैत्सीत्। 'इदं शोणितमभ्यग्रं संप्रहारेऽच्युतत् तयोः'। (भट्टि ६।२८)।

६०. चिण् ते पदः ६५, ६६

पद० – चिण् १। ते ७। पदः ५। वृ०—पदधातोः च्लेः स्थाने चिण् आदेशः भवति, लुङि तशब्दे परे। उदा०—उदपादि सस्यम्। 'जिघत्सोर् नूनमापादि ध्वंसोऽयं तां निशाचरात्'। (भट्टि ६।३१)।

६१. दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ६३

पद०—दीप ···· प्यायिभ्यः ५। अन्यतरस्याम् ७। स० – दीपश्च जनश्च बुधश्च पूरिश्च तायिश्च प्यायिश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—दीपी, जनी, पूरी, ताय, ओप्यायी इति एतेभ्यः धातुभ्यः च्लेः स्थाने चिण् आदेशः भवति, अन्यतरस्यां लुङि तशब्दे परे। उदा०—अदीपि, अदीपिष्ट। अजनि, अजनिष्ट। अबोधि, अबुद्ध। अपूरि, अपूरिष्ट। अतायि, अतायिष्ट। अप्यायि, अप्यायिष्ट। 'क्रुद्धोऽदीपि रघु-व्याघ्रो, रक्त-नेत्रोऽजनि क्षणात्। अबोधि दुःस्थं त्रैलोक्यं दीप्तैरापूरि भानुवत्' ॥ (भट्टि ६।३२)। 'अताय्यस्योत्तमं सत्त्वमप्यायि कृत-कृत्यवत्। उपाचायिष्ट सामर्थ्यं तस्य संरम्भिणो महत्' ॥ (भट्टि ६।३३)।

६६. चिण् भाव-कर्मणोः ६७

पद०— चिण् १। भाव-कर्मणोः ७। स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी तयोः (इ० द्व०)। वृ०—धातोः च्लेः स्थाने चिण् आदेशः भवति, भावे कर्मणि तशब्दे लुङि परे। उदा०—अशायि भवता। अकारि कटो देवदत्तेन।

६७. सार्वधातुके यक् ८२

पद०--सार्वधातुके ७। यक् १। वृ०--सार्वधातुके परे भावकर्मणोः धातोः यक् प्रत्ययः भवति। उदा०--आस्यते भवता। क्रियते कटः।

६८. कर्त्तरि शप् ८८

पद०--कर्त्तरि ७। शप् १। वृ०--सार्वधातुके परे कर्त्तरि शप् प्रत्ययः भवति। उदा०--भवति।

६९. दिवादिभ्यः श्यन् ७२

पद०--दिवादिभ्यः ५। श्यन् १। स०--दिवः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०--दिवादिभ्यो धातुभ्यः श्यन् प्रत्ययः भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०--दीव्यति।

७०. वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः ७२

पद०--वा अ०। भ्राश... लषः ५। स०--भ्राशश्च भ्लाशश्च भ्रमुश्च क्रमुश्च क्लमुश्च त्रसिश्च त्रुटिश्च लष् च इति तेषां समाहारः, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०--टुभ्राशृ, टुभ्लाशृ, भ्रमु, क्रमु, क्लमु, त्रसी, त्रुटी, लष इति एतेभ्यः धातुभ्यः वा श्यन् प्रत्ययः भवति कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०--भ्राशते। भ्राश्यते इत्यादि।

७३. स्वादिभ्यः श्नुः ७६

पद०--स्वादिभ्यः ५। श्नुः १। स०--षुञ् आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०--स्वादिभ्यः धातुभ्यः श्नुप्रत्ययः भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०--सुनोति। सुनुते।

७४. श्रुव श्रृ च

पद०--श्रुवः ५। श्रृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। च अ०। वृ०--श्रुवः धातोः श्नुः प्रत्ययः भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परे तथा श्रुवः स्थाने श्रृ आदेशः भवति। उदा०--श्रृणोति।

७७. तुदादिभ्यः शः।

पद०--तुदादिभ्यः ५। शः १। स०--तुदः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०--तुदादिभ्यः धातुभ्यः शः प्रत्ययः भवति, 'कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०--तुदति। तुदते।

७८. रुधादिभ्यः श्नम्

पद०—रुधादिभ्यः ५। श्नम् १। स०—रुध् आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—रुधादिभ्यः धातुभ्यः श्नम् प्रत्ययः भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०—रुणद्धि। रुन्धे।

७९. तनादिकृञ्भ्य उः ८०

पद०—तनादिकृञ्भ्यः ५। उः १। स०—तन् आदिः येषां ते तनादयः, तनादयश्च कृञ् च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः)। वृ०—तनादिभ्यः धातुभ्यः कृञश्च उप्रत्ययः भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०—तनोति। तनुते। करोति। कुरुते। पृथक् करोतेर्ग्रहणं नियमार्थम् अन्यत्तनादिकार्यं मा भूत्। 'तनादिभ्यस्तथासोः २।४।७९' इति विभाषा सिचो लुक् न भवति—अकृत, अकृथाः।

८१. क्र्यादिभ्यः श्ना ८२

पद०—क्र्यादिभ्यः ५। श्ना १। स०—क्री आदिः येषां ते तेभ्यः (बहु०)। वृ०—क्र्यादिभ्यः धातुभ्यः श्ना प्रत्ययः भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परे। उदा०—क्रीणाति। क्रीणीते।

८३. हलः श्नः शानज्झौ ८४

पद०—हलः ५। श्नः ६। शानच् १। हौ ७। वृ०—हलन्तात् धातोः उत्तरस्य श्नः स्थाने शानच् आदेशः भवति, हौ परे। उदा०—मुषाण। (इति क्रियासिद्धिः पूर्णा), (अथ शब्दसिद्धिः तत्रानुपपदकृत्)।

९१. धातोः ३।४।११७

पद० —धातोः ५। वृ०—अधिकारोऽयम्। 'धातोः' इति अयम् अधिकारः वेदितव्यः 'छन्दस्युभयथा ३।४।११७' इति सूत्रं यावत्। उदा०—कर्त्तव्यम्। करणीयम्।

९२. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ९४

पद०—तत्र अ०। उपपदम् १। सप्तमीस्थम् १। स०—सप्तम्यां तिष्ठतीति (तत्०)। वृ०—तत्र धात्वधिकारे सप्तमीस्थं पदम् उपपदसंज्ञं भवति। उदा०—कुम्भकारः। (सप्तम्यन्ते पदे कर्मणि इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादितद्वाचकं पदम् उपपदसंज्ञं भवति। तस्मिन् सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात्। यथा कुम्भं करोति इति लौकिकविग्रहे कुम्भ अम् कृ अण् इत्यलौकिक-विग्रहे कुम्भकारः।

९३. कृदतिङ् ३।४।७७

पद०—कृत् १। अतिङ् १। स०—न तिङ्, अतिङ् (नञ्तत०)। वृ०—तत्र धात्वधिकारे तिङ्वर्जितः प्रत्ययः कृत्संज्ञकः भवति। उदा०—कर्त्तव्यम्। करणीयम्।

९४. वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्

पद०—वा अ०। असरूपः १। अस्त्रियाम् ७। स०—समानं रूपं यस्य सः, सरूपः, न सरूपः असरूपः (बहुव्रीहिगर्भनञ्तत०)। न स्त्री अस्त्री तस्याम् (नञ्तत०)। वृ०—तत्र धात्वधिकारे असरूपः (असमानरूपः) प्रत्ययः वा बाधकः भवति, स्त्र्यधिकारविहितप्रत्ययं वर्जयित्वा। उदा०—विक्षेपकः। विक्षेप्ता। विक्षिपः।

९५. कृत्याः प्राङ्ण्वुलः १३३

पद०— कृत्याः १। वृ०—अधिकारोऽयम्। ण्वुलतृचौ ३।१।१३३ इति सूत्रं यावत् ये प्रत्ययाः सन्ति, तावत् ते कृत्यसंज्ञकाः वेदितव्याः। उदा०—ण्वुलः प्राक् कृत्याधिकृतिः।

९६. तव्यत्-तव्यानीयरः

पद०—तव्यत्तव्यानीयरः १। स०—तव्यत् च तव्यश्च अनीयर् च इति ते (इ० द्व०)। वृ० –धातोः तव्यत्, तव्य, अनीयर् इति एते प्रत्ययाः भवन्ति। उदा०—कर्तव्यम्। कर्त्तव्यम् (स्वरे भेदः)। करणीयम्।

वा०—केलिमर उपसंख्यानम्

पद०—केलिमरः १। उपसंख्यानम् १। वृ०—केलिमरः प्रत्ययोऽपि भवति। उदा०—पचेलिमा माषाः। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३। ४। ७०' इति कर्मणि भावे च कृत्यप्रत्ययाः। सकर्मकात् कर्मणि अकर्मकाद्भावे इति ज्ञेयम्।

९७. अचो यत् १०५

पद०—अचः ५। यत् १। वृ०—अजन्तात् धातोः यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—गेयम् इत्यादि।

९८. पोरदुपधात्

पद०—पोः ५। अदुपधात् ५। स०—अत् उपधा यस्य सः अदुपधः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—अदुपधात् पवर्गान्तात् धातोः यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—शप्यम्। लभ्यम्।

१०९. एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुषः क्यप्　　१२१

पद०—एति…जुषः ५। क्यप् १। स०—एतिश्च स्तुश्च शास् च वृ च दृ च जुष् च इति तेषां समाहारः एति…जुष् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—एति, स्तु, शास्, वृ, दृ, जुष इति एतेभ्यः धातुभ्यः क्यप् प्रत्ययः भवति। उदा०—इत्यः। स्तुत्यः। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः।

११०. ऋदुपधाच्चाक्लृपि-चृतेः

पद०—ऋदुपधात् ५। च अ०। अक्लृपि-चृतेः ५। स०—ऋत् उपधा यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। क्लृपिश्च चृतिश्च तयोः समाहारः क्लृपिचृति। न क्लृपिचृति अक्लृपिचृति तस्मात् (द्वन्द्वगर्भनञ्तत्०)। वृ०—ऋदुपधात् च धाता क्यप् प्रत्ययः भवति, क्लृपिचृती वर्जयित्वा। उदा०—वृत्यम्। वृद्धयम्।

१२०. विभाषा कृ वृषोः

पद०—विभाषा १। कृवृषोः ६। स०—कृ च वृष् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—कृञः वृषः च धातोः विभाषा क्यप् प्रत्ययः भवति। उदा०—कृत्यम्। कार्यम्। वृष्यम्। वर्ष्यम्।

१२४. ऋ-हलोर्ण्यत्　　१३१

पद०—ऋहलोः (पञ्चम्यर्थे षष्ठयन्तग्रहणम्) ६। ण्यत् १। स०—ऋ च हल् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ऋवर्णान्तात् हलन्ताच्च धातोः ण्यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—कार्यम्। वर्ष्यम्। वाक्यम्। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२' इति सूत्रम्।

१२५. ओरावश्यके

पद०—ओः ५। आवश्यके ७। वृ०—उवर्णान्तात् धातोः ण्यत् प्रत्ययः भवति, आवश्यके अर्थे। उदा०—अवश्यलाव्यम्।

१३३. ण्वुल्-तृचौ

पद०—ण्वुल्तृचौ १। स०—ण्वुल् च तृच् चेति तौ (इ० द्व०)। वृ०—धातोः ण्वुल्तृचौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—कारकः। कर्त्ता।

१३४. नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः

पद०—नन्दिग्रहिपचादिभ्यः ५। ल्युणिन्यचः १। स०—नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च इति तेषां समाहारः नन्दिग्रहिपच्, नन्दिग्रहिपच् आदि येषां ते, तेभ्यः (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। ल्युश्च णिनिश्च अच् च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—नन्द्या-

दिभ्यः ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च धातुभ्यः यथासंख्यं ल्यु, णिनि, अच् इति एते प्रत्ययाः भवन्ति । उदा०—नन्दनः । ग्राही । पचः ।

१३५. इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः १३६

पद०—इगुपध···किरः ५ । कः १ । स०—इक् उपधा यस्य सः, इगुपधः, इगुपधश्च ज्ञा च प्री च किर् चेति तेषां समाहारः इगुपधज्ञाप्रीकिर् तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०—इगुपधेभ्यः ज्ञा, प्रीञ्, कॄ इति एतेभ्यः धातुभ्यः कः प्रत्ययः भवति । उदा०—विक्षिपः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

१३६. आतश्चोपसर्गे १३७

पद०—आतः ५ । च अ० । उपसर्गे ७ । वृ०—आदन्तात् धातोः उपसर्ग उपपदे कः प्रत्ययः भवति । उदा०--प्रस्थः ।

(प्रत्ययः[१], मुण्ड०[२] विदां०[३] दीपजन०[४] क्र्यादिभ्यः०[५] अवद्य०[६] युग्यं०[७] श्याद्व्यध० दश च इति प्रथमः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ७२ ॥

अथ द्वितीयः पादः

(अथोपपदकृत्)

१. कर्मण्यण् ५८, २

पद०—कर्मणि ७। अण् १। वृ०—कर्मणि उपपदे धातोः अण् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुम्भकारः। काण्डलावः। वेदाध्यायः।

३. आतोऽनुपसर्गे कः ६०, ७

पद०—आतः ५। अनुपसर्गे ७। कः १। स०—न उपसर्गः अनुपसर्गः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—आदन्तात् धातोः अनुपसर्गे कर्मण्युपपदे कः प्रत्ययः भवति। उदा०—गोदः।

४. सुपि स्थः ८३

पद०—सुपि ७। स्थः ५। वृ०—सुबन्ते उपपदे स्थाधातोः कः प्रत्ययः भवति। उदा०—समस्थः। विषमस्थः।

२८. एजेः खश् ३७

पद०—एजेः ५। खश् १। वृ०—एज्धातोः (ण्यन्तात्) कर्मणि उपपदे खश् प्रत्ययः भवति। उदा०—जनमेजयः।

३८. प्रिय-वशे-वदः खच् ४७

पद०—प्रियवशे ७। वदः ५। खच् १। स०—प्रियश्च वशश्च तयोः समाहारः प्रियवशं तस्मिन् (स० द्व०)। वृ०—प्रिय, वश इति एतयोः कर्मणोः उपपदयोः वद्धातोः खच् प्रत्ययः भवति। उदा०—प्रियंवदः। वशंवदः।

५८. स्पृशोऽनुदके क्विन् ६०

पद०—स्पृशः ५। अनुदके ७। क्विन् १। स०—न उदकम् अनुदकं तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अनुदके सुबन्ते उपपदे स्पृशधातोः क्विन् प्रत्ययः भवति। उदा०—घृतस्पृक्।

५९. ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिगुष्णिगञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च

पद०—ऋत्विग्…क्रुञ्चाम् ६। च अ०। स०—ऋत्विक् च दधृक् च स्रक् च दिक् च उष्णिक् च अञ्चुश्च युजिश्च इति ते, तेषाम् (इ० द्व०)।

वृ०—ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक्, उष्णिक् इति एतेषां क्विन् प्रत्यया रूपाणि च तद्योगे निपात्यन्ते, अञ्चु, युजि, क्रुञ्च् इति एतेभ्यः धातुभ्यश्च क्विन्प्रत्ययः निपात्यते। उदा०—ऋतुशब्दे उपपदे यजेः धातोः क्विन् प्रत्ययः निपात्यते—ऋतौ यजति, ऋतुं वा यजति, ऋतुप्रयुक्तो वा यजति ऋत्विक्। धृषेः क्विन् प्रत्ययः द्विर्वचनमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते—धृष्णोतीति दधृक्। सृजेः कर्मणि क्विन् अमागमश्च निपात्यते--सृजन्ति तामिति स्रक्। दिशेः कर्मणि क्विन् प्रत्ययः निपात्यते--दिशन्ति तामिति दिक्। उत्पूर्वात् स्निहेः क्विन्नुपसर्गान्तलोपः षत्वं च निपात्यते—उष्णिक्। अञ्चतेः सुपि उपपदे क्विन् प्रत्ययः भवति—प्राङ्। प्रत्यङ्। उदङ्। युजि-क्रुञ्चोः केवलयोः क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते—युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः।

६०. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च

पद०--त्यदादिषु ७। दृशः ५। अनालोचने ७। कञ् १। च अ०। स०—त्यद् आदिः येषां ते, तेषु (बहु०)। न आलोचनं अनालोचनं तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—त्यदादिषु उपपदेषु दृशेः धातोः अनालचने अर्थे कञ् प्रत्ययः भवति, क्विन् अपि चात्। उदा०—त्यादृक्। त्यादृशः इत्यादि।

७४. आतो मनिन्-क्वनिब्-वनिपश्च ७५

पद०—आतः ५। मनिन्क्वनिब्वनिपः १। च अ०। स०—मनिन् च क्वनिप् च वनिप् च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—आदन्तात् धातोः छन्दसि मनिन्, क्वनिप्, वनिप् इति एते प्रत्ययाः भवन्ति, चकारात् विच् प्रत्ययोऽपि। उदा०—सुदामा। सुधीवा। भूरिदावा। कीलालपाः।

७५. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते

पद०—अन्येभ्यः ५। अपि अ०। दृश्यन्ते १। वृ०—अन्येभ्योऽपि धातुभ्यः (अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः) मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच् इति एते प्रत्ययाः दृश्यन्ते। उदा०—सुशर्मा। प्रातरित्वा। विजावा। रेऽसि पर्णं नयेः। धीवा। दृशिग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्।

---

७४. 'विजुपे छन्दसि ३।२।७३' इति सूत्रात् विच् छन्दसि इत्युभयपदमघस्तने ७४ सूत्रे आयाति।

७६. क्विप् च ७७

पद०—क्विप् १। च अ०। वृ०—सर्वधातुभ्यः सोपपदेभ्यः निरुपपदेभ्यश्च क्विप् प्रत्ययः भवति। उदा०—उखास्रत्। विद्। भूभृत् इत्यादि वक्ष्यति 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७८' इति।

७८. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ८३, ८६

पद०—सुपि ७। अजातौ ७। णिनिः १। ताच्छील्ये ७। स०—न जातिः अजातिः, तस्याम् (नञ्तत्०)। न जातिः अजातिस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। तस्य शीलं तच्छीलं तस्य भावः, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—अजातौ सुबन्ते उपपदे ताच्छील्ये अर्थे धातोः णिनिप्रत्ययः भवति। उदा०—उष्णभोजी। श्राद्धभोजी विप्रः।

(अथ भूते कृत्)

८४. भूते १२२

पद०—भूते ७। वृ०—'भूते' इति अधिकारोऽयम् 'वर्त्तमाने लट् ३।२।१२३' इति सूत्रं यावत्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

९७. सप्तम्यां जनेर्डः १०१

पद०—सप्तम्याम् ७। जनेः ५। डः १। वृ०—सप्तम्याम् उपपदे जनेः धातोः डप्रत्ययः भवति भूते। उदा०—उपसरजः। उपसरे जात इत्यर्थः।

१०१. अन्येष्वपि दृश्यते

पद०—अन्येषु ७। अपि अ०। दृश्यते १। वृ०—अन्येषु (कारकेषु) उपपदेषु अपि जनेः धातोः डप्रत्यय। दृश्यते अपिः सर्वोपाधि व्यभिचरति। उदा०—अजः। द्विजः। परिखा।

१०२. निष्ठा

पद०—निष्ठा १। वृ०—धातोः निष्ठासंज्ञकप्रत्ययः भूतेऽर्थे भवति। उदा०—कृतम्। कृतवान्।

१०५. छन्दसि लिट् १०७ अनुवृत्यर्थमिदं सूत्रम्।

१०६. लिटः कानज्वा १०९

पद०—लिटः ६। कानच् १। वा अ०। वृ०—लिटः स्थाने कानच् वा आदेशः भवति, छन्दसि लोकेऽपि। उदा०—अग्निं चिक्यानः। अहं सूर्यमुभयतो ददर्श।

१०७. क्वसुश्च १०८

पद०—क्वसुः १। च अ०। वृ०—छन्दसि लोकेऽपि लिटः स्थाने क्वसुः वा आदेशो भवति। उदा०—जक्षिवान्। अहं सूर्यमुभयतो ददर्श। 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे' इति कालिदासो रघुवंशे।

११०. लुङ्

पद०—लुङ् १। वृ०—भूतेऽर्थे धातोः लुङ्प्रत्ययो भवति। उदा०—अकार्षीत्।

१११. अनद्यतने लङ्

पद०—अनद्यतने ७। लङ् १। स०—न विद्यते अद्यतनः यस्मिन् सः, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—अनद्यतने भूतेऽर्थे धातोः लङ्प्रत्ययो भवति। उदा०—अकरोत्।

११२. अभिज्ञावचने लृट् ११४

पद०—अभिज्ञावचने ७। लृट् १। स०—अभिज्ञायाः वचनम् तत्, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—अभिज्ञावचने (स्मृतिवचने) उपपदे अनद्यतने भूते धातोः लृट् प्रत्ययः भवति। उदा०—अभिजानासि देवदत्त! कश्मीरेषु वत्स्यामः 'संभविष्याव एकस्याममभिजानासि मातरि' (भट्टिः)।

११३. न यदि

पद०—न अ०। यदि ७। वृ०—यच्छब्दसहितेऽभिज्ञावचने उपपदे अनद्यतने भूते धातोः लृट्प्रत्ययः न भवति। उदा०—अभिजानासि देवदत्त! यत् कश्मीरेष्ववसाम। 'अवसामो नगेन्द्रेषु यत् पास्यामो मधूनि च' (भट्टिः)।

११५. परोक्षे लिट् ११६, ११७

पद०—परोक्षे ७। लिट् १। वृ०—अनद्यतने परोक्षे भूते धातोः लिट् प्रत्ययः भवति। उदा०—चकार। 'ददौ स दयितां भ्रात्रे ममार व्रणपीडितः' (भट्टिः)।

११८. लट् स्मे १२२, ११९

पद०—लट् १। स्मे ७। वृ०—अनद्यतने परोक्षे अर्थे भूते स्मशब्दे उपपदे धातोः लट् प्रत्ययः भवति। उदा०—नलेन स्म पुराधीयते।

११९. अपरोक्षे च

पद०—अपरोक्षे ७। च अ०। वृ०—अनद्यतने अपरोक्षे अर्थे भूते च स्मशब्दे उपपदे धातोः लट् प्रत्ययः भवति। उदा०—एवं स्म पिता ब्रवीति।

(अथ वर्त्तमाने कृत्)

१२३. वर्त्तमाने लट् ३।३।१

पद०—वर्त्तमाने ७। लट् १। वृ०—वर्त्तमाने अर्थे धातोः लट् प्रत्ययः भवति। उदा०—पचति।

१२४. लटः शतृ-शानचावप्रथमा-समानाधिकरणे १२६

पद०—लटः ६। शतृशानचौ १। अप्रथमासमानाधिकरणे ७। स०—शतृ च शानच् च तौ (इ० द्व०)। प्रथमया समानाधिकरणं प्रथमासमानाधिकरणम्, न प्रथमासमानाधिकरणं तत्, तस्मिन् (तृतीयातत्पुरुषगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—वर्त्तमानेऽर्थे लटः स्थाने शतृशानचौ प्रत्ययौ आदेशौ भवतः, अप्रथमान्तेन चेत् तस्य सामानाधिकरण्यं भवति। उदा०—पचन्तं देवदत्तं पश्य। पश्यन् गच्छतीति प्रथमान्तप्रयोगोऽपि 'वसन् ददर्शेति' माघः। अग्रिमसूत्रे चकार-पाठात्।

१२५. सम्बोधने च

पद०—सम्बोधने ७। च अ०। वृ०—वर्त्तमाने अर्थे सम्बोधने च विषये लटः स्थाने शतृशानचौ आदेशौ भवतः। उदा०—हे पचन्। हे पचमान।

१२७. तौ सत्

पद०—तौ १। सत् १। वृ०—तौ (शतृशानचौ) सत्संज्ञकौ भवतः। उदा०—ब्राह्मणस्य कुर्वन्। ब्राह्मणस्य करिष्यन्।

१३४. आ क्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु १७८

पद०—आ० अ०। क्वेः ५। तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ७। स०—तस्य शीलः तच्छीलः, तस्य धर्मः तद्धर्मः, तस्मिन् साधुकारी तत्साधुकारी, तच्छीलश्च तद्धर्मश्च तत्साधुकारी च ते, तेषु (तत्पुरुषगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—'भुवः संज्ञान्तरयोः ३। २। १७९' इति सूत्रावधि प्रत्ययाः तच्छीलादिषु अर्थेषु भवन्ति॥ अर्थाधिकारोऽयम्।

१३५. तृन्

पद०—तृन् १। वृ०—तच्छीलादिषु अर्थेषु धातोः तृन्प्रत्ययः भवति। उदा०—कर्त्ता कटान् (न लोक० २। ३। ६९ इति षष्ठीनिषेधः)। मुण्डयितारः श्राविष्ठायना भवन्ति वधूमूढाम्। कर्त्ता कटम्।

१६८. सनाशंस-भिक्ष उः १७०

पद०—सनाशंसभिक्षः ५। उः १। स०—सन् च आशंसश्च भिक्ष् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—सन्नन्तेभ्यः धातुभ्यः आशंसेः भिक्षेः च तच्छीलादिषु उः प्रत्ययः भवति। उदा०—चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः।

१७५. स्थेश-भास-पिस-कसो वरच् १७६

पद०—स्थेशभासपिसकसः ५। वरच् १। स०—स्थाश्च ईशश्च भासश्च पिसश्च कस् च इति तेषां समाहारः, तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—ष्ठा, ईश, भासृ, पिसृ, कस इति एतेभ्यः धातुभ्यः तच्छीलादिषु वरच् प्रत्ययः भवति। उदा०—स्थावरः। ईश्वरः। भास्वरः। पेस्वरः। विकस्वरः।

१७७. भ्राज-भास-धुर्विद्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्राव-स्तुवः क्विप् १७९

पद०—भ्राज……स्तुवः ५। क्विप् १। स०—भ्राजश्च भासश्च धुर्विश्च द्युतश्च ऊर्जिश्च पृच जुश्च ग्रावस्तुश्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—भ्राजृ, भासृ, धुर्वी, द्युत, ऊर्ज, पॄ, जु, ग्रावपूर्वात् ष्टुञ् इति एतेभ्यः धातुभ्यः तच्छीलादिषु क्विप् प्रत्ययः भवति। उदा०—विभ्राट्। भाः। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। जूः। ग्रावस्तुत्।

१७८. अन्येभ्योऽपि दृश्यते

पद०—अन्येभ्यः ५। अपि अ०। दृश्यते १। वृ०—अन्येभ्योऽपि धातुभ्यः तच्छीलादिषु क्विप् प्रत्ययः दृश्यते। उदा०—युक्। छित्।

(समाप्तं ताच्छीलिकम्)

(कर्मणि०[१] दिवा०[२] पूःसर्वं०[३] सत्सू०[४] बहुलं०[५] अन्येष्वपि०[६] नन्वोः०[७] समिति०[८] भञ्जभास०[९] धः कर्मणि अष्टौ च इति द्वितीयः पादः)।

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ३६ ॥

अथ तृतीयः पादः

१. उणादयो बहुलम्   ३

पद०—उणादयः १। बहुलम् १। स०—उण् आदिः येषां ते उणादयः (बहु०)। वृ०—संज्ञायां वर्त्तमाने धातुभ्यः उणादयः प्रत्ययाः बहुलं भवन्ति। उदा०—'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उ० सू० १। १)। कारुः। वायुः। केचिदविहिता एव प्रयोगत उन्नीयन्ते। यथा माधातोः 'डलकडित्रां डोलना' प्रत्ययैः 'मलकमित्रां मोलना' कस्यचन यवनस्य नामसिद्धिः कृता केनचिद्-वैयाकरणेनेति प्रसिद्धिः।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

यास्क-शाकटायनयोः मते सर्वे शब्दाः धातुजाः। किन्तु पाणिनेर्मते अव्युत्पन्ना व्युत्पन्नाश्चेति द्विविधा।

(अथ भविष्यति कृत्)

३. भविष्यति गम्यादयः   १५

पद०—भविष्यति ७। गम्यादयः १। स०—गमी आदिः येषां ते (बहु०)। वृ०—भविष्यति अर्थे उणादयः (उणादिप्रत्यययुक्ताः) गम्यादयः शब्दाः भवन्ति। उदा०—गमी ग्रामम्। आगामी।

१०. तुमुन्-ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्   १३

पद०—तुमुन्ण्वुलौ १। क्रियायाम् ७। क्रियार्थायाम् ७। स०—तुमुन् च ण्वुल् च तौ (इ० द्व०)। वृ०—क्रियार्थायां क्रियायाम् उपपदे सत्यां धातोः तुमुन्ण्वुलौ प्रत्ययौ भवतः, भविष्यति अर्थे। उदा०—भोक्तुं व्रजति। भोजको व्रजति।

१३. लृट् शेषे च   १४

पद०—लृट् १। शेषे ७। च अ०। वृ०—शेषे (शुद्धे भविष्यति काले) क्रियार्थायां क्रियायाम् उपपदे सत्यां धातोः लृट् प्रत्ययः भवति, भविष्यति काले च। उदा०—करिष्यामीति व्रजति। करिष्यति।

१४. लृटः सद्वा

पद०—लृटः ६। सत् १। वा अ०। वृ०—शेषे, शुद्धे भविष्यति काले लृटः स्थाने सत् (शतृ, शानच्) आदेशः वा भवति। उदा०—करिष्यन्तं देवदत्तं पश्य। करिष्यमाणं देवदत्तं पश्य। करिष्यन् देवदत्तः, करिष्यमाणो देवदत्तः, करिष्यति वा।

१५. अनद्यतने लुट्

पद०—अनद्यतने ७। लुट् १। वृ०—भविष्यति अर्थे अनद्यतने धातोः लुट् प्रत्ययः भवति। उदा०—श्वः कर्त्ता।

(अथ घञ्प्रकरणम्)

१६. पद-रुज-विश-स्पृशो घञ् ५५

पद०—पद......स्पृशः ५। घञ् १। स०—पदश्च रुजश्च विशश्च स्पृश् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—पद, रुज, विश, स्पृश इति एतेभ्यः धातुभ्यः घञ्प्रत्ययः भवति। उदा०—पादः। रोगः। वेशः। स्पर्शः।

१८. भावे ११२

पद०—भावे ७। वृ०—भावे वाच्ये धातोः घञ् प्रत्ययः भवति। उदा०—पाकः। भावः।

१९. अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् ११२

पद०—अकर्त्तरि ७। च अ०। कारके ७। संज्ञायाम् ७। स०—न कर्त्ता अकर्त्ता तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां धातोः घञ् प्रत्ययः भवति। उदा०—प्रासः। आहारः।

५६. एरच्

पद०—एः ५। अच् १। वृ०—भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् इवर्णान्ताद् धातोः अच् प्रत्ययः भवति। उदा०—जयः। नयः।

५७. ऋदोरप् ८७

पद—ऋदोः ५। अप् १। स०—ऋत् च उश्च इति तयोः समाहारः तत् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—ऋकारान्तेभ्यः उवर्णान्तेभ्यः धातुभ्यः अप् प्रत्ययः भवति, भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—गरः। करः। यवः। लवः। दकारोऽयं स्पष्टार्थः न तु तपरः।

८८. ड्वितः क्त्रिः

पद०—ड्वितः ५। क्त्रिः १। स०—डु इत् यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—ड्वितः धातोः क्त्रिः प्रत्ययः भवति भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—पाकेन निर्वृत्तम् पक्त्रिमम्। ततः 'क्त्रेर्मम् नित्यम् ४।४।२०' इति मम्प्रत्ययः। 'असंस्कृत्रिमसंव्यानावनुप्त्रिमफलाशिनौ। अभृत्रिम-परीवारौ पर्यभूता तथापि माम्'॥ (भट्टि ४।३७)।

८९. ट्वितोऽथुच्

पद०—ट्वितः ५। अथुच् १। स०—टु इत् यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—ट्वितः धातोः अथुच् प्रत्ययः भवति भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—वेपथुः। 'केचिद् वेपथुमासेदुरन्ये दवथुमुत्तमम्। सरक्तं वमथुं केचिद् भ्राजथुं न च केचन'॥ (भट्टि ४।४३)।

९०. यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्

पद०—यज····रक्षः ५। नङ् १। स०—यजश्च याचश्च यतश्च विच्छश्च प्रच्छश्च रक्ष् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—यजादिभ्यः धातुभ्यः नङ् प्रत्ययः भवति भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—यज्ञः इत्यादि। 'रक्ष्णं करोषि कस्मात् त्वं यत्नेनाऽख्यायतां शुभे'। (भट्टि ७।६६)।

९२. उपसर्गे घोः किः ९३

पद०—उपसर्गे ७। घोः ५। किः १। वृ०—उपसर्गे उपपदे अधिकरणे घुसंज्ञकात् धातोः किः प्रत्ययः भवति, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—प्रदिः। निधिः। 'स्वप्ने निधिवदाभाति तव संदर्शनं हि नः'। (भट्टि ७।६६)।

९३. कर्मण्यधिकरणे च

पद०—कर्मणि ७। अधिकरणे ७। च अ०। वृ०—कर्मणि उपपदे अधिकरणे कारके घुसंज्ञकात् धातोः किः प्रत्ययः भवति। उदा०—जलधिः। 'ततो जलधि-गम्भीरान् वानरान् प्रत्युवाच सा'। (भट्टि ७।६७)।

९४. स्त्रियां क्तिन् ११२, ९७

पद०—स्त्रियाम् ७। क्तिन् १। वृ०—स्त्रियां (स्त्रीलिङ्गे) भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां धातोः क्तिन् प्रत्ययः भवति। उदा०—कृतिः। 'इयं दानवराजस्य पूः सृष्टिर् विश्वकर्मणः' (भट्टि ७।६७)।

१०२. अ प्रत्ययात् १०३

पद०—अ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। प्रत्ययात् ५। वृ०—प्रत्ययान्तात् धातोः अकारः प्रत्ययः भवति, स्त्रियां भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—चिकीर्षा। पुत्रीया।

१०३. गुरोश्च हलः

पद०—गुरोः ५। च अ०। हलः ५। वृ०—हलन्तगुरुमतः धातोः च अकारः प्रत्ययः भवति, स्त्रियां भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—कुण्डा।

१०४. षिद्भिदादिभ्योऽङ् १०६

पद०—षिद्भिदादिभ्यः ५। अङ् १। स०—ष् इत् यस्य सः षित्, भिद् आदिः येषां ते भिदादयः, षित् च भिदादयश्च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—षिद्भ्यः भिदादिभ्यश्च धातुभ्यः अङ् प्रत्ययः भवति, स्त्रियां भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—जरा। भिदा।

१०६. आतश्चोपसर्गे

पद०—आतः ५। च अ०। उपसर्गे ७। वृ०—उपसर्गे उपपदे आदन्तात् धातोः अङ् प्रत्ययः भवति स्त्रियां भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—प्रदा। उपदा।

१०७. ण्यास-श्रन्थो युच्

पद०—ण्यासश्रन्थः ५। युच् १। स०—णिश्च आसश्च श्रन्थ् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—ण्यन्त, आस, श्रन्थ इत्येतेभ्यः धातुभ्यः युच् प्रत्ययः भवति स्त्रियां भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०–कारणा। आसना। श्रन्थना। 'प्रायोपासनया शान्तिं मन्वानो बालि-सम्भवः' (भट्टि ७।७३)।

वा० घट्टि-विदि-वन्दिभ्यो युच् वक्तव्यः

पद०—घट्टिविदिवन्दिभ्यः ५। युच् १। वक्तव्यः १। वृ०—घट्टि-विदि-वन्दिधातुभ्यश्च युच् प्रत्ययः भवति, स्त्रियां भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्। उदा०—घट्टना। वेदना। वन्दना। 'युक्त्वा योगं-स्थितः शैले विवृण्वंश्चित्त-वेदनाम्' (भट्टि ७।७३)।

११३. कृत्यल्युटो बहुलम्

पद०—कृत्यल्युटः १ । बहुलम् १ । स०—कृत्याश्च ल्युट् च इति ते (इ० द्व०) । वृ०—कृत्यसंज्ञकाः प्रत्ययाः ल्युट् च बहुलं भवन्ति । उदा०—स्नानीयं चूर्णम् । दानीयो ब्राह्मणः ।

११४. नपुंसके भावे क्तः ११६

पद०—नपुंसके ७ । भावे ७ । क्तः १ । वृ०—नपुंसके भावे धातोः क्तः प्रत्ययो भवति । उदा०—हसितम् ।

११५. ल्युट् च ११७

पद०—ल्युट् १ । च अ० । वृ०—नपुंसके भावे धातोश्च ल्युट् प्रत्ययः भवति । उदा०—हसनं छात्रस्य ।

१२०. अवे तृ-स्त्रोर्घञ् १२५

पद०—अवे ७ । तृस्त्रोः ६ । घञ् १ । स०—तृ च स्तृ च इति तौ (इ० द्व०) । वृ०—अवे उपपदे तृ स्तृञ् च धातोः करणाधिकरणयोः संज्ञायां च घञ् प्रत्ययः भवति । उदा०—अवतारः । अवस्तारः ।

१२१. हलश्च

पद०—हलः ५ । च अ० । वृ०—हलन्तात् धातोश्च पुंसि करणाधिकरणयोः संज्ञायां घञ् प्रत्ययः भवति । उदा०—लेखः । वेदः ।

(अथ लकारार्थाः)

१३१. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा १३२

पद०—वर्तमानसामीप्ये ७ । वर्तमानवत् अ० । वा अ० । स०—वर्तमानस्य सामीप्यं तत्, तस्मिन् (तत्०) । वृ०—वर्तमानसामीप्ये धातोः वर्तमानवत् प्रत्ययः वा भवति । उदा०—देवदत्त कदाऽऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । अयमागमम् । एषोऽहमस्मि आगतः ।

१३४. आशंसावचने लिङ्

पद०—आशंसावचने ७ । लिङ् १ । वृ०—आशंसावचने उपपदे धातोः लिङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय ।

१२०, १२१. 'करणाधिकरणयोः' 'पुंसि संज्ञायाम्' इति "करणाधिकरणयोश्च ३।३।११७' 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३।३।११८' च इति सूत्रात् अनुवर्त्तेते ।

१३९. लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ १४१

पद०—लिङ्निमित्ते ७। लृङ् १। क्रियातिपत्तौ ७। स०—लिङः निमित्तं तत्, तस्मिन् (तत्०)। क्रियायाः अतिपत्तिः सा, तस्याम् (तत्०)। वृ०—भविष्यति काले लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ धातोः लृङ् प्रत्ययः भवति। उदा०—दक्षिणेन चेदायास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्।

१४०. भूते च १४१

पद०—भूते ७। च अ०। वृ०—भूते काले च लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ धातोः लृङ् प्रत्ययः भवति। उदा०—यदि स तेनाहृष्टोऽभविष्यत्, तदाऽभोक्ष्यत, न तु भुक्तवान्, अन्येन पथा स गतः।

१६१. विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् १६२

पद०—विधि···प्रार्थनेषु ७। लिङ् १। स०—विधिश्च निमन्त्रणञ्च आमन्त्रणञ्च अधीष्टश्च सम्प्रश्नश्च प्रार्थनञ्च तानि, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—विध्यादिषु अर्थेषु धातोः लिङ् प्रत्ययः भवति। उदा०—कटं कुर्यात्। इह भवान् भुञ्जीत। इह भवानासीत्। अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवानुपनयेत्। किं नु खलु भो व्याकरणमधीयीय ? भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय।

१६२. लोट् च १६३

पद०—लोट् १। च अ०। वृ०—विध्यादिषु अर्थेषु धातोः लोट् च प्रत्ययः भवति। उदा०—कटं तावद् भवान् करोतु इत्यादि।

१६७. कालसमयवेलासु तुमुन् १६८

पद०—कालसमयवेलासु ७। तुमुन् १। स०—कालश्च समयश्च वेला च ताः, तासु (इ० द्व०)। वृ०—कालसमयवेलासु उपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययः भवति। उदा०—कालो भोक्तुम् इत्यादि।

१६९. अर्हे कृत्यतृचश्च

पद०—अर्हे ७। कृत्यतृचः १। च अ०। स०—कृत्याश्च तृच् च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—अर्हे कर्त्तरि वाच्ये धातोः कृत्याः तृच् च एते प्रत्ययाः भवन्ति, चकारात् लिङ् च। उदा०—भवता खलु कन्या वोढव्या। भवान् खलु कन्याया वोढा। भवान् खलु कन्यां वहेत्।

---

१३९. 'भविष्यति' इति पदं 'भविष्यति मर्यादा'···३।३।१३६ इति सूत्राद् अनुवर्तते।
१६९. 'लिङ्' इति पदं 'लिङ् यदि ३।३।१६८' इति सूत्राद् अनुवर्तते।

१७२. शकि लिङ् च

पद०—शकि ७। लिङ् १। च अ०। वृ०—शक्नोत्यर्थे धातोः लिङ् कृत्याश्च प्रत्यया भवन्ति। उदा०—भवान् खलु भारं वहेत्। भवता खलु भारो वोढव्यः।

१७३. आशिषि लिङ्लोटौ　　　　१७५

पद०—आशिषि ७। लिङ्लोटौ १। स०—लिङ् च लोट् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—आशिषि अर्थे धातोः लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—चिरं जीवतु भवान् (जीवतात्)।

१७५. माङि लुङ्　　　　१७६

पद०—माङि ७। लुङ् १। वृ०—आशिषि अर्थे धातोः लुङ् प्रत्ययः भवति। उदा०—मा कार्षीत्। 'न माङ् योगे ६।४।७४' इत्यडागमनिषेधः।

१७६. स्मोत्तरे लङ् च

पद०—स्मोत्तरे ७। लङ् १। च अ०। स०—स्मः उत्तरः यस्मात् सः, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—स्मशब्दोत्तरे माङि उपपदे धातोः लङ्लुङौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—मा स्म करोत्। मा स्म कार्षीत्।

(उणादयो०[१] इङ०[२] निवास०[३] व्यधजपो०[४] अपघनो०[५] इच्छा[६] हलश्च[७] वोताप्योः[८] विधि षोडश च इति तृतीयः पादः)।

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥३॥

॥ इति शिवम् ॥ ३८ ॥

---

१७२. 'कृत्याः' इति पदं "कृत्याश्च ३।३।१७१" इति सूत्रात् अनुवर्तते।

अथ चतुर्थः पादः

१. धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ६

पद०—धातुसम्बन्धे ७। प्रत्ययाः १। स०—धात्वर्थे धातुशब्दः, धातोः अर्थः धात्वर्थः, धात्वर्थानां सम्बन्धः, तस्मिन् (मध्यपदलोपी तत्०)। वृ०—धातुसम्बन्धे धात्वर्थानां सम्बन्धे विशेषणं विशेष्यभावे सति अयथाकालोक्ता अपि प्रत्यया भवन्ति। उदा०—अग्निष्टोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता। कृतः कटः श्वो भविता। 'वसन् ददर्शावतरन्तमम्बरात्' (इति माघः)।

१८. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा २४

पद०—अलङ्खल्वोः ७। प्रतिषेधयोः ७। प्राचाम् ६। क्त्वा १। स०—अलञ्च खलुश्च इति तौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—प्राचाम् आचार्याणां मतेन प्रतिषेधवाचिनोः अलंखल्वोः उपपदयोः धातोः क्त्वा प्रत्ययः भवति। उदा०—अलं कृत्वा। खलु कृत्वा।

२१. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले २६

पद०—समानकर्तृकयोः ७। पूर्वकाले ७। स०—समानः कर्त्ता ययोः, तौ, तयोः (बहु०)। पूर्वश्चासौ कालः, सः, तस्मिन् (कर्म०)। वृ०—समानकर्तृकयोः धात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानात् धातोः क्त्वा प्रत्ययः भवति। उदा०—भुक्त्वा व्रजति।

२२. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च २३, २४

पद०—आभीक्ष्ण्ये ७। णमुल् १। च अ०। वृ०—आभीक्ष्ण्ये पौनःपुन्ये अर्थे समानकर्तृकयोः धात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानात् धातोः णमुल् क्त्वा च प्रत्ययः भवति। उदा०—भोजं भोजं व्रजति। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। 'नित्यवीप्सयोः ८।१।४' इति आभीक्ष्ण्ये द्वित्वम्।

२५. कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् २८

पद०—कर्मणि ७। आक्रोशे ७। कृञः ५। खमुञ् १। वृ०—आक्रोशे अर्थे कर्मणि उपपदे समानकर्तृकयोः धात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे कृञः धातोः खमुञ् प्रत्ययः भवति। उदा०—चोरङ्कारमाक्रोशति।

२६. स्वादुमि णमुल्　　　　५८

पद०—स्वादुमि ७। णमुल् १। वृ०—स्वाद्वर्थेषु उपपदेषु समानकर्तृकयोः धात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे कृञः धातोः णमुल् प्रत्ययः भवति। उदा०—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते।

३४. निमूल-समूलयोः कषः

पद०—निमूल-समूलयोः ७। कषः ५। स०—निमूलञ्च समूलञ्च ते, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—निमूलसमूलयोः कर्मणोः उपपदयोः कषः धातोः णमुल् प्रत्ययः भवति। उदा०—निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति। 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ३।४।४६' ३४ इति सूत्रात् कषादयः। यस्माद्धातोः प्रत्ययः, तस्यैवानुप्रयोगश्च।

४५. उपमाने कर्मणि च

पद०—उपमाने ७। कर्मणि ७। च अ०। वृ०—उपमाने कर्मणि उपपदे कर्त्तरि च उपपदे धातोः णमुल् प्रत्ययः भवति। उदा०—घृतम् इव निहित इति घृतनिधायं निहितः। अजक इव नष्टः इति अजकनाशं नष्टः।

४६. कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः

पद०—कषादिषु ७। यथाविधि अ०। प्रयोगः १। स०—कषः आदिः येषां ते, तेषु (बहु०)। वृ०—कषादिषु धातुषु यस्मात् धातोः णमुल् प्रत्ययः भवति, स एव अनुप्रयोगः भवति। उदा०—समूलघातं हन्ति इत्यादि।

६७. कर्तरि कृत्　　　　६९

पद०—कर्तरि ७। कृत् १। वृ०—कृत्संज्ञकाः कर्तरि कारके भवन्ति। उदा०—कारकः। कर्त्ता। नन्दनः।

६९. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः　　　　७२

पद०—लः १। कर्मणि ७। च अ०। भावे ७। च अ०। अकर्मकेभ्यः ५। वृ०—लकाराः सकर्मकेभ्यः धातुभ्यः कर्मणि कारके कर्त्तरि च भवन्ति, अकर्मकेभ्यः धातुभ्यः भावे कर्त्तरि च भवन्ति। उदा०—गम्यते ग्रामो देवदत्तेन। गच्छति ग्रामं देवदत्तः। आस्यते देवदत्तेन। आस्ते देवदत्तः।

---

३४. 'कर्मणि' इति पदं 'कर्मणि दृशि ३।४।२९' इति सूत्रात् अनुवर्तते।

४५. "कर्त्तरि" इति पदं "कर्त्रोर्जीव० ३।४।४३" इति सूत्रात् अनुवर्तते।

७०. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः

पद०—तयोः ७। एव अ०। कृत्यक्तखलर्थाः १। स०—खल् अर्थः येषां ते खलर्थाः। कृत्याश्च क्तश्च खलर्थाश्च इति ते (बहुव्रीहिगर्भः इ० द्व०)। वृ०—तयोः भावकर्मणोः एव कृत्यसंज्ञकाः, क्तप्रत्ययाः खलर्थाश्च प्रत्ययाः भवन्ति। उदा०—कर्त्तव्यः कटो भवता। आसितव्यं भवता। कृतः कटो भवता। आसितं भवता। ईषत्करः कटो भवता। ईषदाढ्यभवं भवता।

७१. आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च ७२

पद०—आदिकर्मणि ७। क्तः १। कर्त्तरि ७। च अ०। वृ०—आदिभूतः क्रियाक्षणः आदिकर्म, तस्मिन् आदिकर्मणि प्रारम्भे इति यावत् क्तः कर्त्तरि, कर्मणि भावे च भवति। उदा०—प्रकृतः कटं देवदत्तः। प्रकृतः कटो देवदत्तेन।

७२ गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थास-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च

पद०—गत्यर्था···भ्यः ५। च अ०। स०—गत्यर्थाश्च अकर्मकश्च श्लिषश्च शीङ् च स्थाश्च आसश्च वसश्च जनश्च रुहश्च जीर्यतिश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—गत्यर्थेभ्यः धातुभ्यः अकर्मकेभ्यः श्लिषादिभ्यश्च क्तः प्रत्ययः कर्त्तरि, कर्मणि भावे च भवति। उदा०—गतो देवदत्तो ग्रामम्, गतो देवदत्तेन ग्रामः। गतं देवदत्तेन। ग्लानो भवान्। ग्लानं भवता। उपश्लिष्टो गुरुं भवान्। उपश्लिष्टो गुरुर्भवता। उपश्लिष्टं भवता इत्यादि।

(गतः कृत्)

(अथ तिङ्)

७७. लस्य ११७

पद०—लस्य ६। वृ०—'लस्य' इति पदं 'छन्दस्युभयथा ३।४।११७' इति सूत्रं यावत् अनुवर्तते। 'ल' इति दशलकाराः। यथा क्रमेण लट्। लिट्। लुट्। लृट्। लेट्। लोट्। लङ्। लिङ्। (विधिलिङ्, आशीर्लिङ्) लुङ्। लृङ् इति। उदा०—पचति। पचते इत्यादि। (तत्र लेडिति वेदे एव)।

७८. तिप्-तस्-झि-सिप्-थस्-थ-मिब्-वस्-मस्-तातां-झ-थासाथां-ध्वमिड्वहि-महिङ्

पद०—तिप्······महिङ् १। स०—तिप् च तस् च झिश्च सिप् च थस् च थश्च मिप् च वस् च मस् च तश्च आतां च झश्च थास् च आथां च ध्वम् च इट् च वहिश्च महिङ् च इति तेषां समाहारः तत् (स० द्व०)। वृ०—लस्य स्थाने तिबादयः आदेशाः भवन्ति। उदा०—पचति। पचते। पपाच। पेचे इत्यादि।

७९. टित आत्मनेपदानां टेरे ८०

पद०— टितः ६। आत्मनेपदानाम् ६। टेः ६। ए लुप्तप्रथमान्तः। स०—ट् इत् यस्य स (बहु०)। वृ०—टितः लकारस्य स्थाने यानि आत्मनेपदानि तेषां टेः एकारादेशः भवति। उदा०—पचते।

८०. थासः से

पद०— थासः ६। से लुप्तप्रथमान्तः। वृ०—टितः लकारस्य थासः स्थाने से आदेशः भवति। उदा०—पेचिषे इत्यादि।

८१. लिटस्तझयोरेशिरेच् ८२

पद०—लिटः ६। तझयोः ६। एशिरेच् १। स०—तश्च झश्च इति तौ, तयोः (इ० द्व०)। एश् च इरेच् च इति तयोः समाहारः तत् (स० द्व०)। वृ०—लिडादेशयोः तझयोः स्थाने क्रमेण एशिरेचौ आदेशौ भवतः। उदा०—पेचे। पेचाते। पेचिरे।

८२. परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुस-णल्-व-माः ९४

पद०—परस्मैपदानाम् ६। णल…माः १। स०—णल् च अतुस् च उस् च थल् च अथुस् च अश्च णल् च वश्च मश्च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—लिडादेशानां परस्मैपदसंज्ञकानां क्रमेण तिबादीनां णलादयः नवादेशाः भवन्ति। उदा०- पपाच। पेचतुः। पेचुः इत्यादि।

८३. विदो लटो वा ८४

पद०—विदः ५। लटः ६। वा अ०। वृ०—विद्धातोः लडादेशानां परस्मैपदानां तिबादीनां णलादयः वा आदेशाः भवन्ति। उदा०—वेद इत्यादि। वा वेत्ति इत्यादि।

८४. ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः

पद०—ब्रुवः ५। पञ्चानाम् ६। आदितः अ०। आहः १। ब्रुवः ६। वृ०—ब्रुवः धातोः लडादेशानां परस्मैपदानां पञ्चानामादिभूतानां पञ्चैव णलादयः वा आदेशाः भवन्ति, तत्सन्नियोगेन च ब्रुवः स्थाने आहः आदेशः भवति। उदा०—आह। आहतुः। आहुः इत्यादि। वा ब्रवीति इत्यादि।

८५. लोटो लङ्वत् ९३

पद०—लोटः ६। लङ्वत् अ०। वृ०—लोट्लकारस्य लङ्वत् कार्यं भवति। उदा०—पचताम्। पचतम्। पचत इत्यादि।

८६. एरुः

पद०—एः ६। उः १। वृ०—लोडादेशानाम् इकारस्य स्थाने उकारः आदेशः भवति। उदा०—पचतु। पचन्तु।

८७. सेर्ह्यपिच्च ८८

पद०—सेः ६। हि लुप्तप्रथमान्तः। अपित् १। च अ०। स०—प् इत् यस्य सः पित्, न पित् अपित् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—लोडादेशस्य सेः स्थाने हि आदेशः भवति अपिच्च भवति। उदा०—लुनीहि।

८९. मेर्निः

पद०—मेः ६। निः १। वृ०—लोडादेशस्य मेः स्थाने निः आदेशः भवति। उदा०—पचानि। (निविधानान्नोत्वम्)।

९०.—आमेतः ९१

पद०- आम् १। एतः ६। वृ०—लोट्सम्बन्धिनः एकारस्य स्थाने आम् आदेशः भवति। उदा०—पचताम्।

९१. सवाभ्यां वामौ

पद०—सवाभ्याम् ५। वामौ १। स०—सश्च वश्च तौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वश्च अम् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—सकारवकारभ्यां लोट्-सम्बन्धिनः एकारस्य स्थाने क्रमेण वामौ आदेशौ भवत.। उदा०—पचस्व। पचध्वम्।

९२. आडुत्तमस्य पिच्च ९३

पद०—आट् १। उत्तमस्य ६। पित् १। च अ०। स०—प् इत् यस्य सः (बहु०)। वृ०—लोट्सम्बन्धिनः उत्तमपुरुषस्य आडागमः भवति, पित् च भवति। उदा०—करवाणि। करवाव। करवाम।

९३. एत ऐ

पद०—एतः ६। ऐ लुप्तप्रथमान्तः। वृ०—लोट्सम्बन्धिनः उत्तमपुरुषस्य एकारस्य स्थाने ऐ आदेशः भवति। उदा०—करवै। करवावहै। करवामहै।

९९ नित्यं ङितः १०१

पद०—नित्यम् १। ङितः ६। वृ०—ङित्लकारसम्बन्धिनः उत्तमपुरुषस्य सकारस्य नित्यं लोपः भवति। उदा०—अपचाव। अपचाम।

१००. इतश्च

पद०—इतः ६। च अ०। वृ०—ङित्‌लकारसम्बन्धिनः इकारस्य च नित्यं लोपः भवति। उदा०—अपचत्।

१०१. तस्थस्थमिपां तांतंतामः

पद०—तस्थस्थमिपाम् ६। तांतंतामः १। स०—तस् च थस् च थश्च मिप् च इति ते, तेषां (इ० द्व०)। ताम् च तम् च तश्च अम् च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—ङित्‌लकारसम्बन्धिनां तस्थस्थमिपां स्थाने क्रमेण तांतंतामः आदेशाः भवन्ति। उदा०—अपचताम्। अपचतम्। अपचत। अपचम्।

१०२. लिङः सीयुट्   १०८

पद०—लिङः ६। सीयुट् १। वृ०—लिङः लकारस्य आदेशानां सीयुट् आगमः भवति। उदा०—पचेत। पक्षीष्ट।

१०३. यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च   १०४

पद०—यासुट् १। परस्मैपदेषु ७। उदात्तः १। ङित् १। च अ०। वृ०—परस्मैपदेषु परस्मैपदविषयस्य लिङः यासुट् आगमः भवति, स च उदात्तः ङिच्च भवति। उदा०—कुर्यात्।

१०४. किदाशिषि

पद०—कित् १। आशिषि ७। वृ०—परस्मैपदेषु आशिषि विषये लिङः यासुट् आगमः भवति, स च उदात्तः किच्च भवति। उदा०—इष्यात्।

१०५. झस्य रन्

पद०—झस्य ६। रन् १। वृ०—लिङादेशस्य झस्य रन् आदेशः भवति। उदा०—पचेरन्।

१०६. इटोऽत्

पद०—इटः ६। अत् १। वृ०—लिङादेशस्य इटः अत् आदेशः भवति। उदा०—यजेय।

१०७. सुट् तिथोः

पद०—सुट् १। तिथोः ६। स०—तिश्च थश्च इति तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—लिङादेशयोः तकारथकारयोः स्थाने सुट् आगमः भवति। उदा०—कृषीष्ट। कृषीयास्थाम्। ति इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः।

१०८. झेर्जुस् ११२

पद०—झेः ६। जुस् १। वृ०—लिङादेशस्य झेः स्थाने जुस् आदेशः भवति। उदा०—पचेयुः।

१०९. सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ११०

पद०—सिजभ्यस्तविदिभ्यः ५। च अ०। स०—सिच् च अभ्यस्तश्च विदिश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ङिदादेशस्य झेः स्थाने जुस् आदेशः भवति। उदा०—अकार्षुः। अबिभयुः। अविदुः।

११०. आतः

पद०—आतः ५। वृ०—आदन्तात् धातोः एव सिचः लुकि झेः स्थाने जुस् आदेशः भवति। उदा०—अदुः। अकार्षुः। प्रत्युदाहरणम्-अभूवन्।

१११. लङः शाकटायनस्यैव ११२

पद०—लङः ६। शाकटायनस्य ६। एव अ०। वृ०—शाकटायनस्यैव मते आदन्तादेव लङादेशस्य झेः स्थाने जुस् आदेशः भवति। उदा०—अयुः। अयान्।

११२. द्विषश्च

पद०—द्विषः ५। च अ०। वृ०—लङादेशस्य द्विष्धातोः झेः स्थाने जुस् आदेशः भवति शाकटायनस्य मतेन। उदा०—अद्विषुः। अद्विषन्।

११३. तिङ्शित्सार्वधातुकम्

पद०—तिङ्शित् १। सार्वधातुकम् १। स०—इत् यस्य सः शित्, तिङ् तिङ्श् प्रत्याहारः च शित् च इति तयोः समाहारः तत् (बहुव्रीहिगर्भः समाहार-द्वन्द्वः)। वृ०—तिङ्शितौ प्रत्ययौ सार्वधातुकसंज्ञौ भवतः। उदा०—नयति। पचमानः।

११४. आर्धधातुकं शेषः ११७

पद०—आर्धधातुकम् १। शेषः १। वृ०—शेषः (तिङ्शिद्भिन्नः) प्रत्ययः आर्धधातुकसंज्ञः भवति। उदा०—लविता।

११५ लिट् च

पद०—लिट् १। च अ०। वृ०—लिडादेशः आर्धधातुकसंज्ञः भवति। उदा०—पेचिथ।

---

१०९. 'ङितः' इति पदं मण्डूकप्लुत्या 'नित्यं ङितः ३।४।९९' सूत्रात् अनुवर्तते।

११०. अत्र सिचो लुकि अपि उकारान्तत्वात् न झेर्जुस्।

११६. लिङाशिषि

पद०—लिङ् १। आशिषि ७। वृ०—आशिषि अर्थे लिङादेशः आर्धधातुकसंज्ञः भवति। उदा०—लविषीष्ट।

११७. छन्दस्युभयथा

पद०—छन्दसि ७। उभयथा अ०। वृ०—छन्दसि विषये उभयथा आर्धधातुको सार्वधातुकश्च लिङादेशो भवति। उदा०—उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम्।

(धातुसम्बन्धे०[१] समानकर्तृकयोः०[२] अधिकरणे०[३] स्वाङ्गे०[४] लिटस्त०[५] तस्-थस् षोडश च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥४॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ इति शिवम् ॥ ४९ ॥

अथ चतुर्थाध्याये

प्रथमः पादः

१. ङ्याप्प्रातिपदिकात् ५।४।१६०

पद०—ङ्याप्प्रातिपदिकात् ५। स०—ङी च आप् च प्रातिपदिकं च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—अधिकारोऽयम्। ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति पदं 'निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०' इति सूत्रं यावदनुवर्त्तते। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१' इतोऽग्रे 'निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०' इति सूत्रं यावत् ये प्रत्ययाः सन्ति, ते ङ्यन्तात् (ङीप्-ङीष्-ङीनन्तात्) आबन्तात् (टाप्-डाप्-चाबन्तात्) प्रातिपदिकात् च भवन्ति। उदा०—अग्रे द्रष्टव्यम्।

२. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्-भिस्-ङे-भ्याम्-भ्यस्-ङसि-भ्याम्-भ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्-सुप्

पद०—स्वौ······सुप् १। स०—सु च औ च जस् च अम् च औट् च शस् च टा च भ्याम् च भिस् च ङे च भ्याम् च भ्यस् च ङसि च भ्याम् च भ्यस् च ङस् च ओस् च आम् च ङि च ओस् च सुप् च इति तेषां समाहारः तत् (स० द्व०)। वृ०—ङ्याप्प्रातिपदिकात् स्वादयः प्रत्ययाः भवन्ति। उदा०—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। खट्वा, बहुराजा, करीषगन्धा। दृषद्, दृषदौ इत्यादि।

३. स्त्रियाम् ८१

पद०—स्त्रियाम् ७। वृ०—अधिकारोऽयम्। 'स्त्रियाम्' इति पदं 'दैव० ४।१।८१' इति सूत्रं यावदनुवर्त्तते। 'स्त्रियाम् ४।१।३' इतोऽग्रे ये प्रत्ययाः सन्ति, ते स्त्रियां भवन्ति। उदा०—अग्रे द्रष्टव्यम्।

---

१. 'अल्पाच्तरम् २।२।३४' इति पूर्वनिपातेऽपि स्त्रीप्रत्ययानां तद्धितप्रत्ययेभ्यः पूर्वोपादानेन प्रातिपदिकप्रकृतेः स्त्रीप्रकृतिरभ्यर्हितेति द्योतयति पाणिनिः। वररुचिस्तु साक्षाद् 'वा० अभ्यर्हितं च २।२।३४' मातापितरौ इत्युदाहरन् स्त्रियाः अभ्यर्हितत्वमुपदिशति।

४. अजाद्यतष्टाप् ८१

पद०—अजाद्यतः ५। टाप् १। स०—अजः आदिः येषां ते अजादयः, अजादयश्च अत् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—अजादिभ्यः अकारान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां टाप् प्रत्ययः भवति। उदा०—अजा। खट्वा।

५. ऋन्नेभ्यो ङीप् २४

पद०—ऋन्नेभ्यः ५। ङीप् १। स०—ऋत् च नश्च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—ऋकारान्तेभ्यः नकारान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः भवति। उदा०—कर्त्री। दण्डिनी।

६. उगितश्च

पद०—उगितः ५। च अ०। स०—उक् इत् यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् च स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः भवति। उदा०—भवती। पचन्ती। अतिभवती। 'शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१' इति नुम्।

१०. न षट्स्वस्रादिभ्यः १२

पद०—न अ०। षट्स्वस्रादिभ्यः ५। स०—स्वसा आदिः येषां ते स्वस्रादयः, षट् च स्वस्रादयश्च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप्टापौ प्रत्ययौ न भवतः। उदा०—पञ्चब्राह्मण्यः। स्वसा।

११. मनः

पद०—मनः ५। वृ०—मन्नन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः न भवति। उदा०—दामा।

१२. अनो बहुव्रीहेः

पद०—अनः ५। बहुव्रीहेः ५। वृ०—अन्नन्तात् बहुव्रीहेः प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः न भवति। उदा०—सुपर्वा।

१३. डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्

पद०—डाप् १। उभाभ्याम् ५। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—उभाभ्यां

---

४. यत्र अदन्तस्य प्रयोजनं भवति, तत्रैव तद् गमिष्यति न तु 'ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५' इत्यादिषु।

१०, अल्पाच्तरत्वात् षषः पूर्वनिपातः।

(मन्नन्तात् अन्नन्तात् बहुव्रीहेः च) प्रातिपदिकाभ्यां डाप् प्रत्ययः भवति, अन्यतरस्याम्। उदा०—पामा, पामे, पामाः। बहुराजा, बहुराजे, बहुराजाः। पामानः। बहुराजानः!

१४. अनुपसर्जनात् ८१

पद०—अनुपसर्जनात् ५। स०—न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, तस्मात् (नञ्तत्०)। वृ०—अधिकारोऽयम्। 'अनुपसर्जनात्' इति पदं 'दैव० ४।१।८१' इति सूत्रं यावदनुवर्त्तते। 'अनुपसर्जनात् ४।१।१६' इतोऽग्रे ये स्त्रीप्रत्ययाः सन्ति, ते अनुपसर्जनात् भवन्ति। उदा०--अग्रे द्रष्टव्यम्।

१५. टिड्ढाणञ्-द्वयसज्दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः

पद०—टिड्......क्वरपः ५। स०—ट् इत् यस्य स टित् (बहु०), टित् च ढश्च अण् च अञ् च द्वयसच् च दघ्नच् च मात्रच् च तयप् च ठक् च ठञ् च कञ् च क्वरप् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—टिदादिभ्यः अदन्तेभ्यः अनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुरुचरी। सौपर्णेयी। कुम्भकारी। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। नश्वरी।

२०. वयसि प्रथमे

पद०—वयसि ७। प्रथमे ७। वृ०—प्रथमे वयसि अर्थे अदन्तात् अनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुमारी।

२१. द्विगोः २४

पद०—द्विगोः ५। वृ०—द्विगुसंज्ञकात् अदन्तात् अनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययः भवति। उदा०—पञ्चपूली।

२५. बहुव्रीहेरूधसो ङीष् २९, २६

पद०—बहुव्रीहेः ५। ऊधसः ५। ङीष् १। वृ०—ऊधस्—शब्दान्तात् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः भवति। उदा०--घटोघ्नी।

४०. अन्यतो ङीष् ६५

पद०—अन्यतः अ०। ङीष् १। वृ०—अन्यतः (तोपधभिन्नात्) वर्णवाचिनः अनुदात्तान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः भवति। उदा०--सारङ्गी।

---

४०. 'वर्णादनुदात्तात्' इति पदे 'वर्णादनु० ४।१।३९' इति सूत्रादनुवर्त्तते।

४३. षिद्गौरादिभ्यश्च

पद०—षिद्गौरादिभ्यः ५। च अ०। स०—ष् इत् यस्य स षित्, गौरः आदिः येषां ते गौरादयः, षित् च गौरादयश्च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—षिद्भ्यः गौरादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः भवति। उदा०—नर्त्तकी। गौरी।

४४. वोतो गुणवचनात् ४५

पद०—वा अ०। उतः ५। गुणवचनात् ५। वृ०—उकारान्तात् गुणवचनात् (गुणवाचिनः) प्रातिपदिकात् स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययः भवति। उदा०—पट्वी। पटुः।

४५. बह्वादिभ्यश्च

पद०—बह्वादिभ्यः ५। च अ०। स०—बहुः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—बह्वादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः वा भवति। उदा०—बह्वी। बहुः।

४८. पुंयोगादाख्यायाम् ४९

पद०—पुंयोगात् ५। आख्यायाम् ७। स०—पुंसा योगः पुंयोगः, तस्मात् (तत्०)। वृ०—पुंयोगात् या पुमाख्या स्त्रियां वर्त्तते, ततः प्रातिपदिकात् ङीष् प्रत्ययः भवति। उदा०—गणकस्य स्त्री गणकी। गोपस्य स्त्री गोपी।

४९. इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक्

पद०—इन्द्र……मातुलाचार्याणाम् ६। आनुक् १। स०—इन्द्रश्च वरुणश्च भवश्च शर्वश्च रुद्रश्च मृडश्च हिमं च अरण्यं च यवश्च यवनश्च मातुलश्च आचार्यश्च इति ते, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—इन्द्रादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः पुंयोगात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः भवति, आनुक् चागमः। उदा०—इन्द्राणी इत्यादि।

---

४४. 'वा' इति पदं 'अस्वाङ्ग ४।१।५३' इति सूत्रादनुवर्त्तते। गुणम् उक्तवानिति गुणवचनः कर्त्तरि बाहुलकात् ल्युट् तनो गुणवाचिनः इत्यर्थः।

५४. स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ५८

पद०--स्वाङ्गात् ५। च अ०। उपसर्जनात् ५। असंयोगोपधात् ५। स०--संयोगः उपधायां यस्य तत् संयोगोपधम्, न संयोगोपधम् तत्, तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—उपसर्जनम् असंयोगोपधम् च यत् स्वाङ्गम् तदन्तात् अदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययः भवति। उदा०-चन्द्रमुखी। चन्द्रमुखा।

५६. न क्रोडादिबह्वचः ५६

पद०—न अ०। क्रोडादिबह्वचः ५। स०—क्रोडः आदिः येषां ते क्रोडादयः, बह्वः अचः यस्मिन् स बह्वच्, क्रोडादयश्च बह्वच् च तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—क्रोडाद्यन्तात् बह्वजन्तात् प्रातिपदिकात् च 'स्वाङ्गात् ४।१।५४' इति प्राप्तः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः न भवति। उदा०—कल्याणक्रोडा। पृथुजघना।

६३. जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ६४

पद०—जातेः ५। अस्त्रीविषयात् ५। अयोपधात् ५। स०—स्त्री विषयः यस्य स स्त्रीविषयः, न स्त्रीविषयः अस्त्रीविषयः तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। य उपधा यस्य स योपधः, न योपधः अयोपधः तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—जातिवाचि यत् प्रातिपदिकं न च स्त्रियामेव नियतम् अस्त्रीविषयम् अयोपधं च तस्मात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः भवति।
उदा०—कुक्कुटी।

---

५४. 'वा' इति पदं 'अस्वाङ्ग० ४।१।५३' इति सूत्रादनुवर्त्तते।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत् तत् तथा युतम्॥

अद्रवम्—सुस्वेदा। मूर्तिमत्–सुज्ञाना। स्वप्राणिस्थम्–सुमुखा शाला। अविकारजम्–सुशोफा। (प्रत्युदाहरणानि)।

अतत्स्थं तत्र दृष्टम्–सुकेशी सुकेशा वा रथ्या। तेन चेत् तत् तथायुतम्–सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा। (उदाहरणानि)।

६३. आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥
प्रादुर्भाव-विनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद् गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥ (इति जातिलक्षणे)।

६५. इतो मनुष्यजातेः　　६६

पद०—इतः ५ । मनुष्यजातेः ५ । स०—मनुष्यस्य जातिः मनुष्यजातिः, तस्याः (तत्०) । वृ०— मनुष्यजातिवाचिन इकारान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययः भवति । उदा०—दाक्षी । कुन्ती ।

६६. ऊङुतः　　७२

पद०—ऊङ् १ । उतः ५ । वृ०—मनुष्यजातिवाचिनः उकारान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ऊङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—कुरूः ।

६९. ऊरूत्तरपदादौपम्ये　　७०

पद०—ऊरूत्तरपदात् ५ । औपम्ये ७ । स०— ऊरूः उत्तरपदं यस्य तत्, तस्मात् (बहु०) । वृ०—औपम्ये अर्थे ऊरूत्तरपदात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ऊङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—कदलीस्तम्भोरूः ।

७०. संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च

पद०—संहितशफलक्षणवामादेः ५ । च अ० । स०—संहितश्च शफश्च लक्षणञ्च वामश्च संहितशफलक्षणवामाः, संहितशफलक्षणवामाः आदौ यस्य सः, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०) । वृ०—संहितशफलक्षणवामादेश्च ऊरूत्तरपदात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ऊङ् प्रत्ययः भवति । उदा०—संहितोरूः । शफोरूः । लक्षणोरूः । वामोरूः ।

७६. तद्धिताः　　५।४।१६०

पद०—तद्धिताः १ । वृ०—अधिकारोऽयम् । 'तद्धिताः ४।१।७६' इति सूत्रादारभ्य 'निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०' इति सूत्रं यावत् ये प्रत्ययाः सन्ति, ते तद्धितसंज्ञकाः भवन्ति (सर्वत्र तद्धितोऽनुवर्त्तते) । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

७७. यूनस्तिः

पद०—यूनः ५ । तिः १ । वृ०—युवन्शब्दात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां तिः प्रत्ययः भवति, स च तद्धितसंज्ञः भवति । उदा०— युवतिः ।

(पूर्णः स्त्रीप्रत्ययाधिकारः)

८२. समर्थानां प्रथमाद्वा　　५।२।१४०

पद०—समर्थानाम् ६ । प्रथमात् ५ । वा अ० । वृ०—अधिकारोऽयम् । 'समर्थानां प्रथमाद्वा ४।१।८२' इति सूत्रादारभ्य 'प्राग्दिशो ५।३।१' इति सूत्रं यावत् ये तद्धिताः सन्ति, ते समर्थानां मध्ये प्रथमात् प्रथमनिर्दिष्टात् (षष्ठ्यन्तादित एव) वा भवन्ति । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

८३. **प्राग्दीव्यतोऽण्** ४।४।२

पद०—प्राक् अ० । दीव्यतः ५ । अण् १ । वृ०—'तेन दीव्यति ४।४।२' इति एतस्मात् प्राक् अर्थेषु अण् प्रत्ययोऽधिकृताः इति ज्ञेयम् । (अधिकारः परिभाषा विधिर्वा त्रिष्वपि दर्शनेषु अपवादविषयं परिहृत्य अण् प्रवर्त्तते)। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

८४. अश्वपत्यादिभ्यश्च

पद०—अश्वपत्यादिभ्यः ५ । च अ० । स०—अश्वपतिः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—अश्वपत्यादिभ्यः समर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेषु अर्थेषु अण् प्रत्ययः भवति । उदा०—आश्वपतम् इत्यादि ।

८५. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः

पद०—दित्य····· पदात् ५ । ण्यः १ । स०—पतिः उत्तरपदं यस्य तत् पत्युत्तरपदं, दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च पत्युत्तरपदञ्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—दिति, अदिति, आदित्य, पत्युत्तरपद इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेषु अर्थेषु ण्यः प्रत्ययः भवति । उदा०—दैत्यः । आदित्यः । आदित्यम् । प्राजापत्यम् ।

८७. स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ **भवनात्** ५।२।१

पद०—स्त्रीपुंसाभ्याम् ५ । नञ्स्नञौ १ । भवनात् ५ । स०—स्त्री च पुमांश्च इति ते, ताभ्याम् (इ० द्व०)। नञ् च स्नञ् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—भवनात् ('धान्यानां भवने ५।२।१' इति सूत्रात्) प्राक् निर्दिष्टेषु अर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथाक्रमं नञ्स्नञौ प्रत्ययौ भवतः । उदा०—स्त्रैणम् । पौंस्नम् ।

(अथ अपत्याधिकारः)

९२. **तस्यापत्यम्** १७६

पद०—तस्य ६ । अपत्यम् १ । वृ०—तस्य इति षष्ठीसमर्थात् अपत्येऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति । उदा०—औपगवः । दैत्यः । स्त्रैणः । पौंस्नः । (पादान्तोऽपत्याधिकारः)।

---

८७. 'अचतुर-विचतुर-सुचतुर-स्त्रीपुंस० ५।४।७७' इति स्त्रीपुंसौ द्विवचनान्तशब्दः ।

९३. एको गोत्रे

पद०--एकः १ । गोत्रे ७ । वृ०—गोत्रे एक एव अपत्ये प्रत्ययः भवति । उदा०--गर्गस्य अपत्यं गार्गिः । गार्गेरपत्यम्, गर्गस्य वा गोत्रापत्यं गार्ग्यः ।

९४. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्

पद०--गोत्रात् ५ । यूनि ७ । अस्त्रियाम् ७ । स०—न स्त्री अस्त्री तस्याम् (नञ्तत्०) । वृ०—यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रादेव प्रत्ययः भवति अस्त्रियाम् । उदा०--गार्ग्यस्यापत्यं गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः ।

९५. अत इञ् १००

पद०--अतः ५ । इञ् १ । वृ०--अकारान्तात् प्रातिपदिकात् षष्ठीसमर्थात् अपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययः भवति । (अणोऽपवादः) । उदा०—दाक्षिः ।

९६. बाह्वादिभ्यश्च

पद०--बाह्वादिभ्यः ५ । च अ० । स०--बाहुः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०) । वृ०—बाह्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः तस्यापत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययः भवति । उदा०--बाहविः । सौमित्रिः ।

९८. गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् १११

पद०—गोत्रे ७ । कुञ्जादिभ्यः ५ । च्फञ् १ । स०—कुञ्जः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०) । वृ०—गोत्रसंज्ञकेऽपत्येऽर्थे कुञ्जादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः च्फञ् प्रत्ययः भवति । उदा०—कौञ्जायन्यः (स्वार्थे ञ्यः) ।

९९. नडादिभ्यः फक् १०३

पद० – नडादिभ्यः ५ । फक् १ । स०—नडः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०) । वृ० – नडादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः गोत्रापत्ये फक् प्रत्ययः भवति । उदा०—नडस्य गोत्रापत्यं नाडेरपत्यं नाडायनः ।

१०१. यञिञोश्च

पद०—यञिञोः ६ । च अ० । स०—यञ् च इञ् च यञिञौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ० – यञन्तात् इञन्तात् च प्रातिपदिकात् अपत्येऽर्थे फक् प्रत्ययः भवति । उदा० – दाक्षायणः । गार्ग्यायणः ।

१०५. गर्गादिभ्यो यञ् १०९

पद०—गर्गादिभ्यः ५ । यञ् १ । स०--गर्गः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०) । वृ० – गर्गादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः गोत्रापत्ये यञ् प्रत्ययः भवति । उदा०—गार्ग्यः ।

११०. अश्वादिभ्यः फञ् १११

पद०--अश्वादिभ्यः ५। फञ् १। स०— अश्वः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०— अश्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः गोत्रापत्ये फञ् प्रत्ययो भवति। उदा०--आश्वायनः इत्यादि।

११२. शिवादिभ्योऽण् ११९

पद०—शिवादिभ्यः ५। अण् १। स०—शिवः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०--शिवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अपत्येऽर्थे अण् प्रत्ययः भवति। (इञादीनामपवादः)। उदा०--शैवः इत्यादि।

११५. मातुरुत्संख्या-संभद्रपूर्वायाः

पद०—मातुः ५। उत् १। संख्यासंभद्रपूर्वायाः ५। स०--संख्या च सञ्च भद्रश्च संख्यासंभद्राः, संख्यासंभद्राः पूर्वे यस्याः सा, तस्याः (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—संख्या, सम्, भद्र इत्येवं पूर्वात् मातृशब्दात् अपत्ये अण् प्रत्ययः भवति। उकारश्चान्तादेशो रपरः। उदा०—षाण्मातुरः। सांमातुरः। भाद्रमातुरः।

११६. कन्यायाः कनीन च

पद०--कन्यायाः ६। कनीन इति लुप्तप्रथमान्तः। च अ०। वृ०—कन्याशब्दात् अपत्ये अण् प्रत्ययः भवति, तत्सन्नियोगेन कनीनश्चादेशः भवति। उदा०—कानीनः (व्यासः कर्णश्च)।

१२०. स्त्रीभ्यो ढक् १२१, १२७

पद०—स्त्रीभ्यः ५। ढक् १। वृ०— स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अपत्ये ढक् प्रत्ययः भवति। उदा०—वैनतेयः।

१३२. पितृष्वसुश्छण् १३३, १३४

पद०—पितृष्वसुः ५। छण् १। वृ०—पितृष्वसृप्रातिपदिकात् अपत्ये छण् प्रत्ययः भवति। उदा०—पैतृष्वस्रीयः।

१३३. ढकि लोपः १३४

पद०—ढकि ७। लोपः १। वृ०—अपत्येऽर्थे ढकि परे पितृष्वसुः शब्दस्य लोपः भवति। उदा०—पैतृष्वसेयः। (एतदेव ज्ञापकं ढक्विधौ)।

१३४. मातृष्वसुश्च

पद०—मातृष्वसुः ५। च अ०। वृ०—अपत्येऽर्थे मातृष्वसुः शब्दात् पूर्ववत् छण् प्रत्ययः ढकि परे लोपश्च भवति (पितृष्वसुर्यदुक्तं तन्मातृष्वसुरपि भवतीत्यर्थः)। उदा०—मातृष्वस्रीयः। मातृष्वसेयः।

१३७. राज-श्वशुराद्यत्

पद०—राजश्वशुरात् ५। यत् १। स०—राजा च श्वशुरश्च इति तयोः समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—राजन्श्वशुराभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां अपत्ये यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—राजन्यः। श्वशुर्यः।

१३८. क्षत्राद् घः

पद०—क्षत्रात् ५। घः १। वृ०—क्षत्रप्रातिपदिकात् अपत्ये घः प्रत्ययः भवति। उदा०—क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः।

१३९. कुलात् खः		१४०

पद०—कुलात् ५। खः १। वृ०—कुलप्रातिपदिकात् अपत्ये खः प्रत्ययः भवति। उदा०—कुलीनः।

१४३. स्वसुश्छः		१४४

पद०—स्वसुः ५। छः १। वृ०—स्वसृप्रातिपदिकात् अपत्ये छः प्रत्ययः भवति। उदा०—स्वस्रीयः।

१४४. भ्रातुर्व्यच्च		१४५

पद०—भ्रातुः ५। व्यत् १। च अ०। वृ०—भ्रातृप्रातिपदिकात् अपत्ये व्यत् छश्च प्रत्ययः भवति। उदा०—भ्रातृव्यः। भ्रात्रीयः।

१६१. मनोर्जातावञ्-यतौ षुक् च

पद०—मनोः ५। जातौ ७। अञ्यतौ १। षुक् १। च अ०। स०—अञ् च यत् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—मनुप्रातिपदिकात् अञ्यतौ प्रत्ययौ भवतः, तत्सन्नियोगेन षुक् आगमः समुदायेन चेत् जातिः गम्यते। उदा०—मानुषः। मनुष्यः। अपत्ये तु अण्—मानवः।

१६२. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्		१६५

पद०—अपत्यम् १। पौत्रप्रभृति १। गोत्रम् १। स०—पुत्रस्य अपत्यं पौत्रः प्रभृतिः यस्य तत् (बहु०)। वृ०—पौत्रप्रभृति यत् अपत्यं तत् गोत्रसंज्ञं भवति। उदा०—गर्गस्यापत्यं पौत्रप्रभृति गार्ग्यः।

१६३. जीवति तु वंश्ये युवा १६५

पद०---जीवति ७ । तु अ० । वंश्ये ७ । युवा १ । वृ०---वंश्ये (अभिजन-प्रबन्धो वंशः, तत्र भवो वंश्यः तस्मिन् वंश्ये) पित्रादौ जीवति सति पौत्रप्रभृति यत् अपत्यं चतुर्थादि तत् युवसंज्ञमेव भवति, न तु गोत्रं भवति । उदा०–गार्ग्यस्यापत्यं युवापत्यं गार्ग्यायणः । ('गोत्राद्यूनि ४।१।९४' इति नियमात् 'यञिञोश्च ४।१।१०१' इति फक् 'किति च ७।२।११८' इति वृद्धिः भवत्येव पर्यन्यवल्लक्षणप्रवृत्या) ।

१६८. जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् १७८

पद० – जनपदशब्दात् ५ । क्षत्रियात् ५ । अञ् १ । वृ०---जनपदशब्दात् क्षत्रियवाचिनः प्रातिपदिकात् अपत्ये अञ् प्रत्ययः भवति । उदा०--पाञ्चालः ।

१७२. कुरुनादिभ्यो ण्यः

पद०---कुरुनादिभ्यः ५ । ण्यः १ । स०---न आदिः येषां ते नादयः (बहु०), कुरवश्च नादयश्च ते, तेभ्यः (इ० द्व०) । वृ०---जनपदशब्देभ्यः क्षत्रियेभ्यः कुरुशब्दनकारादिशब्देभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः ण्यः प्रत्ययः भवति । अणञोरपवादः । उदा० – कौरव्यः । नैषध्यः । नैपथ्यः ।

१७४. ते तद्राजाः १७८

पद०—ते १ । तद्राजाः १ । स०—तेषां राजानः तद्राजाः (तत्०) । वृ०—ते (जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्यारभ्य विहिताः प्रत्ययाः) तद्राजसंज्ञकाः भवन्ति । उदा०—'तद्राजस्य २।४।६२' इत्यादयः पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गा इत्यादयः ।

(ङ्याप्०[१] द्विगोः[२] षिद्गौरादि०[३] वाहः[४] दैवयज्ञि०[५] यञि[६] द्व्यचः[७] महाकुला०[८] मनोर्जाता० अष्टादश च इति प्रथमः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ६३ ॥

---

१६३. पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यमिति तदत्र षष्ठ्या विपरिणम्यते, तेन चतुर्थादारभ्य युवसंज्ञा विधीयते ।

अथ द्वितीयः पादः

(अथ रक्ताद्यर्थप्रकरणम्)

१. तेन रक्तं रागात् १२, २

पद०—तेन ३। रक्तम् १। रागात् ५। वृ०—तेन (तृतीयासमर्थेन) रक्तमिति एतस्मिन्नर्थे रागवाचिनः प्रातिपदिकात् यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति। उदा०—कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। कौसुम्भम्।

३. नक्षत्रेण युक्तः कालः ६

पद०—नक्षत्रेण ३। युक्तः १। कालः १। वृ०-तृतीयासमर्थात् नक्षत्रवाचिनः प्रातिपदिकात् युक्तः कालः इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः (अण्) भवति। उदा०—पुष्येण नक्षत्रेण युक्तः कालः पौषी रात्रिः, पौषमहः। माघी रात्रिः, माघमहः।

२१. सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् २३

पद०—सा १। अस्मिन् ७। पौर्णमासी १। इति अ०। संज्ञायाम् ७। वृ०—'सा' इति पौर्णमासीवाचिनः प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् 'अस्मिन्' इति सप्तम्यर्थे संज्ञायां यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति। उदा०—पौषो मासः (पूर्णो मासः तस्येयं पौर्णमासी)। (मासार्द्धमास-संवत्सराणामेषा संज्ञा) पौषोऽर्द्धमासः। पौषः संवत्सरः।

२४. सास्य देवता ३५

पद०—सा १। अस्य ६। देवता १। वृ०—'सा' इति प्रथमासमर्थात् देवतावाचिनः प्रातिपदिकात् 'अस्य' इति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति। उदा०—इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रं हविः। आदित्यं चरुः।

३६. पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः

पद०—पितृ… महाः १। स०—पितृव्यश्च मातुलश्च मातामहश्च पितामहश्च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—पितृव्यादयः इमे शब्दाः निपात्यन्ते। उदा०—पितृमातृभ्यां भ्रातर्यर्थे क्रमेण व्यत्, डुलच्—पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः। मातृपितृभ्यां पितर्यर्थे डामहच् मातरि षिच्च—मातुः पिता

मातामहः। पितुः पिता पितामहः। मातुः माता मातामही। पितुः माता पितामही। 'षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१' इति ङीष्।

३७. तस्य समूहः ५४, ५१

पद०—तस्य ६। समूहः १। वृ०—'तस्य' इति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् 'समूहः' इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति। उदा०—काकानां समूहः काकम्। शौकम्। बाकम्।

४३. ग्राम-जन-बन्धु-सहायेभ्यस्तल्

पद०—ग्राम...सहायेभ्यः ५। तल् १। स०—ग्रामश्च जनश्च बन्धुश्च सहायश्च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—तस्य समूहः इति एतस्मिन्नर्थे ग्रामादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः तल् प्रत्ययः भवति। उदा०—ग्रामाणां समूहः ग्रामता इत्यादि।

(उक्तः समूहः)

५९. तदधीते तद्वेद ६६

पद०—तत् २। अधीते १। तत् २। वेद १। वृ०—तदिति द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् अधीते इति एतस्मिन्नर्थे, तदिति द्वितीयासमर्थात् शब्दात् 'वेद' इति एतस्मिन्नर्थे च यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति। उदा०—छन्दोऽधीते छान्दसः। वैयाकरणः। नैरुक्तः। निमित्तानि वेद नैमित्तः। मौहूर्त्तः। औत्पातः।

६०. क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्

पद०—क्रतूक्थादिसूत्रान्तात् ५। ठक् १। स०—उक्थः आदिः येषां ते उक्थादयः, सूत्रमन्ते यस्य सः सूत्रान्तः, क्रतुश्च उक्थादयश्च सूत्रान्तश्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—क्रतुविशेषवाचिभ्यः, उक्थादिभ्यः सूत्रान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः तदधीते तद्वेद इति अस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययः भवति। अणोऽपवादः। उदा०—अग्निष्टोममधीते वेद वा आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। उक्थादिभ्यः—औक्थिकः। लौकायतिकः। सूत्रान्तात्—वार्तिकसूत्रिकः। सांग्रहसूत्रिकः।

६१. क्रमादिभ्यो वुन्

पद०—क्रमादिभ्यः ५। वुन् १। स०—क्रमः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—द्वितीयासमर्थेभ्यः क्रमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः तदधीते तद्वेद इति अस्मिन् विषये वुन् प्रत्ययः भवति। अणोऽपवादः। उदा०—क्रममधीते वेद वा क्रमकः। पदकः इत्यादि।

६४. प्रोक्ताल्लुक् ६६, ६५

पद०—प्रोक्तात् ५। लुक् १। वृ०—द्वितीयासमर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकात् अध्येतृवेदित्रोरर्थयोरुत्पन्नस्य प्रत्ययस्य (अणः) लुक् भवति। उदा०—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् (वृद्धाच्छः ४।२।११४) तदधीते पाणिनीयः। अत्राणोऽभावान्न ङीप् पाणिनीया ब्राह्मणी। टाप् स्वरे च विशेषः।

६५. सूत्राच्च कोपधात्

पद०—सूत्रात् ५। कोपधात् ५। स०—क उपधा यस्य सः कोपधः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—द्वितीयासमर्थात् सूत्रवाचिनः कोपधात् प्रातिपदिकात् च अध्येतृवेदित्रोरर्थयोरुत्पन्नस्य (अणादेः) प्रत्ययस्य लुग् भवति। अप्रोक्तार्थ आरम्भः। उदा०—पाणिनीयमष्टकं सूत्रम्, तदधीयते विदन्ति वा अष्टकाः पाणिनीयाः। दशका वैयाघ्रपदीयाः। त्रिकाः काशकृत्स्नाः।

(अथ चातुरर्थिकाः)

६७. तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ७०

पद०—तत् १। अस्मिन् ७। अस्ति १। इति अ०। देशे ७। तन्नाम्नि ७। स०—तत् नाम यस्य स तन्नामा तस्मिम् (बहु०)। वृ०—अस्ति समानाधिकरणात् तदिति प्रथमासमर्थात् अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे तन्नाम्नि देशेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययः (अण्) भवति। उदा०—उदुम्बराः अस्मिन् देशे सन्ति इति औदुम्बरः। पार्वतः देशः।

६८. तेन निर्वृत्तम्

पद०—तेन ३। निर्वृत्तम् १। वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् निर्वृत्तम् इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति देशनामधेये गम्यमाने। उदा०—सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा। कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी। हेतौ कर्त्तरि च यथायोगं तृतीया समर्थविभक्तिः।

---

६४. पणनं पण 'घञर्थे कविधानम्' इति कः। सोऽस्यास्तीति 'अत-इनि-ठनौ ५।२।११५' इति इनिः। पणिनः गोत्रापत्यं पाणिनः टेरिनो लोपस्तु 'गाथि० ६।४।१६५' इति सूत्रेण इहैव निषिध्यते। ततो यूनि इञ् पाणिनिः। ततः तेन प्रोक्तमित्यर्थे 'वृद्धाच्छः ४।२।११४' इति छः। 'इञश्च ४।२।११२' इत्यण् तु न भवति। गोत्रे इञस्तद्भवति, न तु यूनि इञः। 'ण्यक्षत्रियार्ष० २।४।५८' इति अणो लुक् अपि न भवति प्रतिपदोक्तार्षस्याणो ग्रहणात्। अत्र तु न तादृशोऽण्।

६९. तस्य निवासः ७०

पद०—तस्य ६। निवासः १। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् निवासः इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति देशनामधेये गम्यमाने। उदा०—ऋजुनावाम् निवासो देशः आर्जुनावो देशः। शिवानां निवासो देशः शैवः देशः।

७०. अदूरभवश्च

पद०— अदूरभवः १। च अ०। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् अदूरभवः इति एतस्मिन्नर्थे च यथाविहितं (अण्) प्रत्ययः भवति। उदा०—विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम्। हैमवतम्।

७१. ओरञ् ७६

पद०—ओः ५। अञ् १। वृ०—उवर्णान्तात् समर्थविभक्तियुक्तात् प्रातिपदिकात् यथाविहितं अञ् प्रत्ययः भवति तदस्मिन् अस्ति इत्येवमादिषु अर्थेषु। चतुर्षु (अणोऽपवादः) 'सुवास्त्वादि० ४।२।७७' इतः प्रागञोऽधिकारः। उदा०—अरडु—आरडवम्। कक्षतु—काक्षतवम्। कर्कटेलु—कार्कटेलम्।

७७. सुवास्त्वादिभ्योऽण् ७९

पद०—सुवास्त्वादिभ्यः ५। अण् १। स०—सुवास्तुः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—सुवास्त्वादिगणस्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः चातुरर्थिकः अण् प्रत्ययः भवति। उवर्णान्तलक्षणस्य कूपलक्षणस्य चाञोऽपवादः। उदा०—सुवास्तोरदूरभवं नगरं सौवास्तवम्। वार्णवम्।

८१. जनपदे लुप् ८३

पद०—जनपदे ७। लुप् १। वृ०—देशे तन्नाम्नि इति यश्चातुरर्थिकः प्रत्ययः भवति, तस्य (देशसमुदाये) जनपदेऽभिधेये लुप् भवति। उदा०—पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः इत्यादि।

(चातुरर्थिका गताः)

(अथ शेषाधिकारः)

९२. शेषे ४।३।१३४

पद०—शेषे ७। वृ०—अधिकारोऽयम्। 'शेषे' इतः अग्रे 'तस्य विकारः ४।३।१३४' इति सूत्रं यावत् ये प्रत्ययाः सन्ति, ते शेषे (उक्तादन्यः शेषः=

८१. जनपदः=ग्रामसमुदायः।

अपत्यादिभ्यश्चतुरर्थपर्यन्तेऽन्योऽर्थः शेषः तस्मिन्) अर्थे हि भवन्ति। उदाहरण-मग्रे द्रष्टव्यम्।

९३. राष्ट्रावारपाराद् घ-खौ

पद०—राष्ट्रावारपारात् ५। घखौ १। स०—राष्ट्रं च अवारपारं च इति तयोः समाहारः तत्, तस्मात् (स० इ०)। घश्च खश्च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—राष्ट्र, अवारपार इति एताभ्यां शब्दाभ्यां क्रमशः घ-खौ प्रत्ययौ भवतः शेषार्थे। उदा०—राष्ट्रियः। अवारपारीणः।

९४. ग्रामाद् य-खञौ

पद०—ग्रामात् ५। यखञौ १। स०—यश्च खञ् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—ग्रामशब्दात् यखञौ प्रत्ययौ भवतः (भवार्थे)। उदा०—ग्राम्यः। ग्रामीणः।

९७. नद्यादिभ्यो ढक्

पद०—नद्यादिभ्यः ५। ढक् १। स०—नदी आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—नद्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः ढक् प्रत्ययः भवति अचातुरर्थिकः। उदा०—नादेयम् (नद्यां भवं जातं वा) इत्यादि।

९८. दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक्

पद०—दक्षिणापश्चात्पुरसः ५। त्यक् १। स०—दक्षिणा च पश्चात् च पुरश्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—दक्षिणा, पश्चात्, पुरस् इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकः त्यक् प्रत्ययः भवति। उदा०—दाक्षिणात्यः। पाश्चात्त्यः। पौरस्त्यः।

१०१. द्यु-प्रागपागुदक्प्रतीचो यत्

पद०—द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः ५। यत् १। स०—द्यु च प्राक् च अपाक् च उदक् च प्रत्यक् च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—दिव, प्राक्, अपाच् उदच्, प्रत्यच् इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकः यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।

१०४. अव्ययात् त्यप् १०५

पद०—अव्ययात् ५। त्यप् १। वृ०—अव्ययात् शैषिकः त्यप् प्रत्ययः भवति। उदा०—अमात्यः। इतस्त्यः। क्वत्यः। कुतस्त्यः। नित्यः।

---

१०४. अत्रैव अव्ययाः—

अमेहक्वतसित्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः।
निनिर्भ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा॥

११४. वृद्धाच्छः ११८

पद०—वृद्धात् ५। छः १। वृ०—वृद्धसंज्ञकात् शैषिकः छः प्रत्ययः भवति। उदा०—गार्गीयः। वात्सीयः। पाणिनीयः छात्रः। (पणोऽस्यास्तीति पणी, पणिनोऽपत्यं पाणिनः 'गाथिविदथि० ६।४।१६५' इति प्रकृतिभावः। पाणिनस्यापत्यं पणिनो वा, गोत्रं पाणिनः। गोत्रपाणिनस्यापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः। 'अत् इञ् ४।१।९५' औपगविः युवा यथा)।

११५. भवतष्ठक्-छसौ

पद०—भवतः ५। ठक्छसौ १। स०—ठक् च छस् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—भवतः शब्दात् वृद्धात् शैषिकौ ठक्छसौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—भावत्कः। भवदीयः।

(तेन०[१] साऽस्मिन्[२] ठञ्०[३] क्रमादिभ्यो०[४] जनपदे०[५] द्युप्रा०[६] धन्व०[७] वृद्धात् पञ्च च इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २॥

॥ इति शिवम् ॥ २८ ॥

अथ तृतीयः पादः

१. युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ३

पद० - युष्मदस्मदः ६। अन्यतरस्याम् ७। खञ् १। च अ०। स०—युष्मद् च अस्मद् च इति तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—युष्मद्, अस्मद् इति एताभ्यां शब्दाभ्याम् अन्यतरस्यां शैषिकः खञ् प्रत्ययः भवति, चकारात् छश्च, अन्यतरस्यां ग्रहणादण् च। उदा०—यौष्माकीणः। आस्माकीनः। युष्मदीयः। अस्मदीयः। यौष्माकः। आस्माकः। षष्ठीनिर्देशः उत्तरार्थः।

२. तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ३

पद०—तस्मिन् ७। अणि ७। च अ०। युष्माकास्माकौ १। स०—युष्माकश्च अस्माकश्च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—तस्मिन् खञि अणि च परतः युष्मदस्मदोः स्थाने क्रमशः युष्माकास्माकौ आदेशौ भवतः। उदा०—यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

३. तवक-ममकावेकवचने

पद०—तवकममकौ १। एकवचने ७। स०—तवकश्च ममकश्च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—तस्मिन् खञि अणि च परतः एकवचनपरयोः युष्मदस्मदोः स्थाने क्रमेण तवकममकौ आदेशौ भवतः। उदा०—तावकीनः। मामकीनः। तावकः। मामकः।

८. मध्यान्मः

पद०—मध्यात् ५। मः १। वृ०—मध्यशब्दात् शैषिकः मः प्रत्ययः भवति। उदा०—मध्यमः (मध्ये भवः)।

(अथ कालाधिकारः)

११. कालाट्ठञ् २४, १५

पद० - कालात् ५। ठञ् १। वृ०—कालवाचिनः शब्दात् शैषिकः ठञ् प्रत्ययः भवति। उदा०—मासिकः। सांवत्सरिकः।

२३. सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु-ट्युलौ तुट् च २४

पद०—सायं......भ्यः ५। ट्युट्युलौ १। तुट् १। च अ०। स०—सायं च चिरं च प्राह्णे च प्रगे च अव्ययश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। ट्युश्च

ट्युल च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे, इति एतेभ्यः कालवाचिभ्यः अव्ययेभ्यश्च शब्देभ्यः ट्युट्युलौ प्रत्ययौ भवतः, तयोः प्रत्यययोः तुट् चागमः भवति। उदा०—सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। अव्ययेभ्यः। दिवातनम्। दोषातनम्।

(अथ जाताद्यर्थाः)

२५. तत्र जातः ५१, ३७

पद०—तत्र अ०। जातः १। वृ०—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् शब्दात् जातः इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—स्रौघ्नः।

५३. तत्र भवः ५३

पद०—तत्र अ०। भवः १। वृ०—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् शब्दात् भवः इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०-स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः।

५४. दिगादिभ्यो यत् ५५

पद०—दिगादिभ्यः ५। यत् १। स०—दिक् आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—तत्र भवः इति एतस्मिन्नर्थे दिगादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—दिशि भवं दिश्यम्।

५५. शरीरावयवाच्च

पद०—शरीरावयवात् ५। च अ०। स०—शरीरस्य अवयवः सः, तस्मात् (तत्०)। वृ०—शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकात् च यत् प्रत्ययः भवति, तत्र भव इति एतस्मिन् विषये। उदा०—दन्त्यम्। कर्ण्यम्।

७४. तत आगतः ८४, ८२

पद०—ततः अ०। आगतः १। वृ०—ततः इति पञ्चमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् आगतः इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः। माथुरः।

७७. विद्या-योनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ७८

पद०—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ५। वुञ् १। स०—विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, तत्कृतः सम्बन्धः येषां ते, तेभ्यः (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—विद्यायोनिसम्बन्धवाचिभ्यः शब्देभ्यः वुञ् प्रत्ययः भवति, तत आगतः इति एतस्मिन् विषये। उदा०—उपाध्यायादागतम् औपाध्यायकम्। मातामहकः।

७८. ऋतष्ठञ् ७९

पद०—ऋतः ५। ठञ् १। वृ०—विद्यायोनिसम्बन्धवाचिभ्यः ऋकारान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः ठञ् प्रत्ययः भवति, तत आगतः इति एतस्मिन् विषये। उदा०—पैतृकम्। भ्रातृकम्। मातृकम्।

७९. पितुर्यच्च

पद०—पितुः ५। यत् १। वृ०—पितृशब्दात् यत् प्रत्ययः भवति, चकारात् ठञ् च, तत आगतः इति एतस्मिन् विषये। उदा०—पित्र्यम् ('रीङ् ऋतः ७।४।२७' इति रीङि 'यस्येति च ६।४।१४८' ईलोपः) पैतृकम्।

८९. सोऽस्य निवासः १००

पद० - सः १। अस्य ६। निवासः १। वृ०—सः इति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति, यत् प्रथमासमर्थं निवासः चेत् स भवति। उदा०—स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः।

९०. अभिजनश्च ९२

पद० - अभिजनः १। च अ०। वृ०—सः इति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति, यत् प्रथमासमर्थम् अभिजनः चेत् स भवति। उदा०—स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य स्रौघ्नः। (अभिजनः=पूर्वबान्धवः)।

१०१. तेन प्रोक्तम् १११

पद०—तेन ३। प्रोक्तम् १। वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रोक्तमिति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयम् ('वृद्धाच्छः ४।३।११४' इति छप्रत्यये रूपम्)।

१२०. तस्येदम् १३१

पद०—तस्य ६। इदम् १। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् इदमिति एतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—औपगवम्।

(समाप्तः शेषाधिकारः)

(अथ प्राग्दीव्यतीयाः)

१३४. तस्य विकारः १६८

पद०—तस्य ६। विकारः १। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् विकारः इति एतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—अश्मनो विकारः आश्मः (अश्मनो विकारे टिलोपो भवति)। मार्त्तिकः।

१३५. अवयवे च प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्यः १६८

अनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रम् ।

१४३. मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः १५१, १४४

पद०--मयट् १ । वा अ० । एतयोः ७ । भाषायाम् ७ । अभक्ष्याच्छादनयोः७ । भक्ष्यञ्च आच्छादनञ्च भक्ष्याच्छादने, न भक्ष्याच्छादने अभक्ष्याच्छादने तयोः (नञ्तत्०) । वृ०—भक्ष्याच्छादनवर्जितयोः विकारावयवयोः एतयोः अर्थयोः षष्ठीसमर्थात् शब्दात् भाषायां वा मयट् प्रत्ययः भवति । उदा०--अश्ममयम् । आश्मनम् ('अन् ६।४।१६७' इति प्रकृतिभावः) ।

१४५. गोश्च पुरीषे

पद०--गोः ५ । च अ० । पुरीषे ७ । वृ०---षष्ठीसमर्थात् गोः शब्दात् पुरीषे अभिधेये मयट् प्रत्ययः भवति । उदा०---गोमयम् ।

१६०. गो-पयसोर्यत् १६१

पद०- गोपयसोः ६ । यत् १ । स०—गौश्च पयश्च इति तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—षष्ठीसमर्थाभ्यां गोपयःशब्दाभ्यां यत् प्रत्ययः भवति विकारावयवयोः अर्थयोः । गव्यम् । पयस्यम् ।

१६१. द्रोश्च १६२

पद०—द्रोः ५ । च अ० । वृ०—षष्ठीसमर्थात् द्रोः शब्दात् यत् प्रत्ययः भवति, विकारावयवयोः अर्थयोः । उदा०—द्रव्यम् ('ओर्गुणः ६।४।१४६' इति गुणे वान्तादेशः) ।

(युष्मद०[१] हेम०[२] संभूते०[३] ग्रामात्[४] हेतु०[५] तेन०[६] रथा०[७] पला०[८] द्रोश्च अष्टौ च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहदनुपाणिनीये चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ २४ ॥

अथ चतुर्थः पादः

(अथ ठगाधिकारः)

१. प्राग्वहतेष्ठक्   ७६

पद०—प्राक् अ० । वहतेः ५ । ठक् १ । वृ०—अधिकारोऽयम्, इत आरभ्य 'तद्वहति० ४।४।७६' इत्यतः प्राक् ये अर्थाः सन्ति, तेषु ठक् प्रत्ययः अधिकृतः वेदितव्यः । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

२. तेन दीव्यति खनति जयति जितम्   २७

पद०—तेन ३ । दीव्यति १ । खनति १ । जयति १ । जितम् १ । वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् दीव्यति, खनति, जयति, जितम् इति एतेषु अर्थेषु ठक् प्रत्ययः भवति । उदा०—आक्षिकः । आभ्रिकः । आक्षिकः । आक्षिकम् ।

३. संस्कृतम्   ४

पद०—संस्कृतम् १ । वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् संस्कृतम् इति एतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययः भवति । उदा०—दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारिचिकम् ।

५. तरति   ७

पद०—तरति १ । वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् तरति इति एतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययः भवति । उदा०—काण्डप्लाविकः ।

८. चरति   ११

पद०—चरति १ । वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् चरति इति एतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययः भवति । उदा०—दाधिकः ।

२०. क्त्रेर्मम् नित्यम्

पद०—क्त्रेः ५ । मम् १ । नित्यम् १ । वृ०—तृतीयासमर्थात् क्त्र्यन्तात् प्रातिपदिकात् निर्वृत्त इति एतस्मिन्नर्थे नित्यं मम् प्रत्ययः भवति । उदा०—

२०. 'निर्वृत्तम्' इति पदं 'निर्वृत्ते ४।४।१९' इति सूत्रादनुवर्त्तते, प्रथमान्तं च भवति सामर्थ्यात् ।

पवित्रमम् (नपुंसकरूपम् पवित्रमशब्दस्य। पाकेन निर्वृत्तम् इति विग्रहः। केवलं पवित्रशब्दो नास्ति नित्यं ममा योगात्)।

(इति प्राग्दीव्यतीयाः)

५१. तदस्य पण्यम् ६५, ५४

पद०—तत् १। अस्य ६। पण्यम् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययः भवति, यत्प्रथमासमर्थं पण्यं चेत् तद्भवति। उदा०—अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः। मौदकिकः।

५५. शिल्पम् ५६

पद०—शिल्पम् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययः भवति, यत् प्रथमासमर्थं शिल्पं चेत् तद्भवति। उदा०—मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। (शिल्पम् = कौशलम्)।

५७. प्रहरणम् ५९

पद०—प्रहरणम् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययः भवति, यत् प्रथमासमर्थं प्रहरणं चेत् तद्भवति। उदा०—आसिकः। चाक्रिकः। धानुष्कः।

६०. अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः

पद०—अस्ति-नास्ति-दिष्टम् १। मतिः १। स०—अस्ति च नास्ति च दिष्टञ्च इति तेषां समाहारः, तत् (स० द्व०)। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थेभ्यः अस्ति, नास्ति, दिष्ट इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययः भवति, यत् प्रथमासमर्थं मतिः चेत् तद्भवति। उदा०—अस्ति परलोक इति मतिर्यस्यासौ आस्तिकः, तद्विपरीते नास्तिकः। दिष्टम् = प्रमाणमिति मतिर्यस्यासौ दैष्टिकः भाग्यवादी।

६१. शीलम् ६२

पद०—शीलम् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययः भवति, यत्प्रथमासमर्थं शीलं चेत् तद्भवति। उदा०—अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः। (शीलम् = स्वभावः)।

६९. **तत्र नियुक्तः**　　　　७४,७०

पद०—तत्र अ०। नियुक्तः १ । वृ०—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् नियुक्त इति एतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययः भवति। उदा०—शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः अधिकारी।

(अथ यदधिकारः)

७५. **प्राग्घिताद्यत्**　　　　५।१।५

पद०—प्राक् अ०। हितात् ५। यत् १। वृ०—अधिकारोऽयम्, इतः अग्रे 'तस्मै हितम् ५।१।५' इति एतस्मात् प्राक् ये अर्थाः सन्ति, तेषु यत् प्रत्ययः अधिकृतः वेदितव्यः। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

७६. **तद्वहति रथ-युग-प्रासङ्गम्**　　　　८६, ८२

पद०—तत् २। वहति १। रथयुगप्रासङ्गम् २। स०—रथश्च युगश्च प्रासङ्गश्च इति तेषां समाहारः तत्, तथोक्तम् (स० द्व०)। वृ०—तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यः रथ, युग, प्रासङ्ग इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः वहति इति एतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययः भवति। उदा०—रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः।

९८. **तत्र साधुः**　　　　११९, १०६

पद०—तत्र अ०। साधुः १। वृ०—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् साधुः इति एतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययः भवति। उदा०— साम्नि साधुः सामन्यः। ('ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८' इति प्रकृतिभावः)।

१०५. **सभाया यः**　　　　१०६

पद०—सभायाः ५। यः १। वृ०—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् साधुः इति एतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययः भवति। उदा०—सभ्यः।

(प्राग्वहते०[१] अपमित्य०[२] धर्म०[३] शीलम्[४] हल०[५] परिषदो०[६] रक्षो०[७] नक्षत्राद्घः चत्वारि च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ इति शिवम् ॥ १६ ॥

अथ पञ्चमाध्याये

प्रथमः पादः

(अथ छयदधिकारः)

१. प्राक् क्रीताच्छः ३६

पद०—प्राक् अ० । क्रीतात् ५ । छः १ । वृ०—अधिकारोऽयम्, इतः अग्रे 'तेन क्रीतम् ५।१।३७' इति एतस्मात् प्राक् ये अर्थाः सन्ति, तेषु छः प्रत्ययः अधिकृतः वेदितव्यः । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

५. तस्मै हितम् १५

पद०—तस्मै ४ । हितम् १ । वृ०—तस्मै इति चतुर्थीसमर्थात् हितम् इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति । उदा०—वत्सीयः गोधुक् । कलभीयः ।

६. शरीरावयवाद्यत् ७

पद०—शरीरावयवात् ५ । यत् १ । स०—शरीरस्यावयवः शरीरावयवः तस्मात् (तत्०) । वृ०—तस्मै इति चतुर्थीसमर्थात् शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकात् यत् प्रत्ययः भवति, हितम् इति एतस्मिन् विषये । उदा०—दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ।

९. आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः

पद०—आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् ५ । खः १ । स०—भोगः उत्तरपदं यस्य सः भोगोत्तरपदम्, आत्मा च विश्वजनश्च भोगोत्तरपदञ्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०—तस्मै इति चतुर्थीसमर्थेभ्यः आत्मन्, विश्वजन, भोगोत्तरपद इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः हितम् इति एतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययः भवति । उदा०—आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः । ('आत्माध्वानौ खे ६।४।१६९' इति प्रकृति भावः) ।

(अथ ठञधिकारः)

१८. प्राग्वतेष्ठञ् ११४

पद०—प्राक् अ०। वतेः ५। ठञ् १। वृ०—अधिकारोऽयम्, इतोऽग्रे 'तेन तुल्यं ५।१।११५' इति एतस्मात् प्राक् ये अर्थाः सन्ति, तेषु ठञ् प्रत्ययः अधिकृतः वेदितव्यः। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

३७. तेन क्रीतम्

पद०—तेन ३। क्रीतम् १। वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् क्रीतम् इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—ठञ्-साप्ततिकम्। ठक्-नैष्किकम्।

५७. तदस्य परिमाणम् ६१

पद०—तत् १। अस्य ६। परिमाणम् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् परिमाणवाचिनः प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—ठञ्-प्रास्थिकः (राशिः)।

५९. पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम्

पद० –पङ्क्ति···शतम् १। स०—पङ्क्तिश्च विंशतिश्च त्रिंशच्च चत्वारिंशच्च पञ्चाशच्च षष्टिश्च सप्ततिश्च अशीतिश्च नवतिश्च शतञ्च इति तेषां समाहारः तत् (स० द्व०)। वृ०—तदस्य परिमाणमिति एतस्मिन्विषये पङ्क्त्यादयः शब्दाः निपात्यन्ते। उदा०—पङ्क्तिः इत्यादि।

६३. तदर्हति ७६, ७१

पद०—तत् २। अर्हति १। वृ०—तदिति द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् अर्हति इति एतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—श्वैतच्छत्रिकः। शतिकः। साहस्रः।

६६. दण्डादिभ्यो यत्

पद०—दण्डादिभ्यः ५। यत् १। स०—दण्डः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यः दण्डादिभ्यः शब्देभ्यः यत् प्रत्ययः भवति, अर्हति इति एतस्मिन्नर्थे। उदा०—दण्ड्यः इत्यादि।

७९. तेन निर्वृत्तम्

पद०—तेन ३। निर्वृत्तम् १। वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् निर्वृत्तमिति एतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययः भवति। उदा०—आह्निकम्। अर्द्धमासिकम्।

(ठञ् गतः)

(अथ भावकर्माधिकारः)

११५. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ११८

पद०—तेन ३। तुल्यम् १। क्रिया १। चेत् अ०। वतिः १। वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् तुल्यमिति एतस्मिन्नर्थे वतिः प्रत्ययः भवति, यत् तुल्यं क्रिया चेत् सा भवति। उदा०—ब्राह्मणवत्।

११६. तत्र तस्येव

पद०—तत्र अ०। तस्य ६। इव अ०। वृ०—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् तस्येति षष्ठीसमर्थाच्च इवार्थे वतिः प्रत्ययः भवति। उदा०— मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य गावः।

११९. तस्य भावस्त्व-तलौ १३६

पद०—तस्य ६। भावः १। त्वतलौ १। स०—त्वश्च तल् च तौ (इ० द्व०)। वृ०—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् भावः इति एतस्मिन्नर्थे त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—अश्वत्वम्। अश्वता।

१२०. आ च त्वात् १३६

पद०—आ अ०। च अ०। त्वात् ५। वृ०—आ इति एतस्मात् आरभ्य 'ब्रह्मणस्त्वः ५।१।१३६' इति सूत्रं यावत् त्वतलौ प्रत्ययौ अधिकृतौ वेदितव्यौ। (अपवादैः सह त्वतलौ प्रविशतः नञ्स्नञ्भ्यां च कर्मणि प्रवृत्त्यर्थं च वचनम्)। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१२२. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा १२३

पद०—पृथ्वादिभ्यः ५। इमनिच् १। वा अ०। स०—पृथुः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—पृथ्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः वा इमनिच् प्रत्ययः भवति, तस्य भावः इति एतस्मिन्नर्थे। उदा०—प्रथिमा। पार्थवम्। पृथुता। पृथुलम्।

---

७९. 'कालात्' इति पदं 'कालात् ५।१।७८' इति सूत्रादनुवर्त्तते।

१२३. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च १२४

पद०—वर्णदृढादिभ्यः ५ । ष्यञ् १ । च अ० । स०– दृढः आदिः येषां ते दृढादयः, वर्णश्च दृढादयश्च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०--वर्णविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः दृढादिभ्यश्च ष्यञ् प्रत्ययः भवति, चकारात् इमनिच् च तस्य भावः इति एतस्मिन् विषये । उदा०—शौक्ल्यम् । शुक्लिमा । शुक्लत्वम् । शुक्लता ।

१२४. गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च १२६

पद०--गुण⋯⋯भ्यः ५ । कर्मणि ७ । च अ० । स०—ब्राह्मणः आदिः येषां ते ब्राह्मणादयः, गुणवचनाश्च ब्राह्मणादयश्च ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०--तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यः गुणवचनेभ्यः ब्राह्मणादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः कर्मणि अभिधेये भावे च ष्यञ् प्रत्ययः भवति । उदा०--जाड्यम् । ब्राह्मण्यम् ।

१२६. सख्युर्यः

पद०—सख्युः ५ । यः १ । वृ०--तस्येति षष्ठीसमर्थात् सखिशब्दात् यः प्रत्ययः भवति भावकर्मणोः अर्थयोः । उदा०--सख्यम् ।

१२८. पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यो यक्

पद०—पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः ५ । यक् १ । स०--पतिः अन्ते येषां ते पत्यन्ताः, पुरोहितः आदिः येषां ते पुरोहितादयः, पत्यन्ताश्च पुरोहितादयश्च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०--पत्यन्तेभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः यक् प्रत्ययः भवति भावकर्मणोः अर्थयोः । उदा०-सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् इत्यादि ।

१३०. हायनान्त-युवादिभ्योऽण् १३१

पद०—हायनान्तयुवादिभ्यः ५ । अण् १ । स०—हायनः अन्ते येषां ते हायनान्ताः, युवन् आदिः येषां ते युवादयः, हायनान्ताश्च युवादयश्च इति ते, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०—हायनान्तेभ्यः युवादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः अण् प्रत्ययः भवति, भावकर्मणोः अर्थयोः । उदा०—द्वैहायनम् । यौवनम् इत्यादि ।

१३१. इगन्ताच्च लघुपूर्वात्

पद०—इगन्तात् ५। च अ०। लघुपूर्वात् ५। स०—इक् अन्ते यस्य सः इगन्तः, तस्मात् (बहु०)। लघुः पूर्वः यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् लघुपूर्वात् इगन्ताच्च प्रातिपदिकात् अण् प्रत्ययः भवति भाव-कर्मणोः अर्थयोः। उदा०—शौचम्। लाघवम्।

(पूर्णो भावकर्माधिकारः)

(प्राक्क्रीताच्छः[१] शताच्च०[२] सर्वभूमि०[३] सप्तनोऽञ्[४] मासाद्०[५] तस्मै०[६] प्रभवति०[७] न नञ्पूर्वा० षोडश च इति प्रथमः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये पञ्चमाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ २२ ॥

अथ द्वितीयः पादः

१. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्   ४

पद०—धान्यानाम् ६। भवने ७। क्षेत्रे ७। खञ् १। वृ०—षष्ठीसमर्थेभ्यः धान्यवाचिभ्यः भवनेऽभिधेये खञ् प्रत्ययः भवति, तत् चेत् भवनं क्षेत्रं भवति। उदा०—मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम्। (निर्देशादेव समर्थविभक्तिः)।

२६. तेन वित्तश्चुञ्चुप्-चणपौ

पद०—तेन ३। वित्तः १। चुञ्चुप्-चणपौ १। स०—चुञ्चुप् च चणप् च तौ (इ० द्व०)। वृ०—तेनेति तृतीयासमर्थात् वित्तः इति एतस्मिन्नर्थे चुञ्चुप्-चणपौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः। (अत्र लुप्तयकारपूर्वं य्चुञ्चु य्चणप् इति प्रत्ययरूपम्। अतः न 'चुटू १।३।७' प्रवृत्तिः। 'रामोऽपि मायाचणमस्त्रचुञ्चुः' इति भट्टिः)।

३६. तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्   ४४

पद०—तत् १। अस्य ६। संजातम् १। तारकादिभ्यः ५। इतच् १। स०—तारका आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थेभ्यः तारकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अस्य संजातमिति एतस्मिन्नर्थे इतच् प्रत्ययः भवति। उदा०—तारकाः संजाताः अस्य नभः तारकितं नभः।

३७. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः   ३८

पद०—प्रमाणे ७। द्वय…चः १। स०—द्वयसच् च दघ्नच् च मात्रच् च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच् इति एते प्रत्ययाः भवन्ति, तत् प्रथमासमर्थं प्रमाणं चेत् भवति। उदा०—ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्। (जानुदघ्नं नराधिप)।

३९. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्   ४१

पद०—यत्तदेतेभ्यः ५। परिमाणे ७। वतुप् १। स०—यद् च तद् च एतद् च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थेभ्यः यत्तदेतेभ्यः परिमाणोपाधिकेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अस्येति षष्ठ्यर्थे वतुप् प्रत्ययः भवति। उदा०—यत् परिमाणस्य यावान्। तावान्। एतावान्।

४०. किमिदंभ्यां वो घः ४१

पद०—किमिदंभ्याम् ५। वः ६। घः १। स०—किम् च इदम् च इति तौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थाभ्यां किमिदंभ्यां प्रातिपदिकाभ्याम् अस्येति षष्ठ्यर्थे वतुप् प्रत्ययः भवति, वः स्थाने घः आदेशश्च। उदा०—कियान्। इयान्।

४१. किमः संख्यापरिमाणे डति च

पद०—किमः ५। संख्यापरिमाणे ७। डति लुप्तप्रथमान्तः। च अ०। स०—संख्यायाः परिमाणं तत्, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—संख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमः प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे डतिः वतुप् चात् प्रत्ययः भवति, तस्य वः स्थाने घः आदेशः भवति। उदा०—का संख्या परिमाणमेषां ब्राह्मणानां, कति ब्राह्मणाः। कियन्तो ब्राह्मणाः।

४२. संख्याया अवयवे तयप्

पद०—संख्यायाः ५। अवयवे ७। तयप् १। वृ०—अवयवेऽर्थे प्रथमासमर्थात् संख्यावाचिप्रातिपदिकात् अस्येति षष्ठ्यर्थे तयप् प्रत्ययः भवति। उदा०—पञ्चतयम्। (पञ्च अवयवा अस्येति विग्रहः)।

४३. द्वि-त्रिभ्यां तयस्यायज्वा ४४

पद०—द्वित्रिभ्याम् ५। तयस्य ६। अयच् १। स०—द्विश्च त्रिश्च तौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—प्रथमासमर्थाभ्यां द्वित्रिभ्यां तयस्य वा अयच् आदेशः भवति अस्येति षष्ठ्यर्थे। उदा०—द्वाववयवावस्य द्वयम्। द्वितयम्। त्रयम्। त्रितयम्।

४४. उभादुदात्तो नित्यम्

पद०—उभात् ५। उदात्तः १। नित्यम् १। वृ०—अस्येति षष्ठ्यर्थे प्रथमासमर्थात् उभशब्दात् तयस्य नित्यम् अयच् आदेशः भवति, स च उदात्तः। उदा०—उभयो मणिः। उभये देवमनुष्याः। (उभौ अवयवौ अस्य एषामिति विग्रहः)।

४७. संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ५८

पद०—संख्यायाः ५। गुणस्य ६। निमाने ७। मयट् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् अस्येति षष्ठ्यर्थे मयट् प्रत्ययः भवति, तत् प्रथमासमर्थं गुणस्य (भागस्य) निमाने (मूल्ये) चेत् भवति। उदा०—यवानां द्वौ भागौ निमानस्य उदश्विद्भागस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम्। त्रिमयम्।

४८. तस्य पूरणे डट्　　　　५८, ५३

पद०—तस्य ६। पूरणे ७। डट् १। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् पूरणेऽर्थे डट् प्रत्ययः भवति। उदा० एकादशानां पूरणः एकादशः। (पूर्यतेऽनेनेति पूरणम्, येन संख्या संख्यानं पूर्यते संपद्यते स तस्याः पूरणः)।

४९. नान्तादसंख्यादेर्मट्　　　　५०

पद०—नान्तात् ५। असंख्यादेः ५। मट् १। स०—न अन्ते यस्य सः, तस्मात् (बहु०)। संख्या आदिः यस्य सः संख्यादिः, न संख्यादिः असंख्यादिः तस्मात् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—तस्येति षष्ठीसमर्थात् असंख्यादेः संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् डट् प्रत्ययः भवति, डटः मडागमश्च पूरणः इति एतस्मिन्नर्थे। उदा० —पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। (नान्तादिति पञ्चमी डट आगमसम्बन्धे षष्ठीं प्रकल्पयति)।

५१. षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुक्

पद०—षट्⋯राम् ६। थुक् १। स०—षट् च कति च कतिपयश्च चतुर् च इति ते, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—षट्, कति, कतिपय, चतुर् इति एतेषां पूरणः इति एतस्मिन्नर्थे डटि परतः थुक् आगमः भवति। उदा०—षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयः। चतुर्थः। (कतिशब्दयोगात् कतिपयशब्दोऽपि संख्यावाचित्वात् डटं लभते। पूर्वसूत्रादनुवृत्तो डट् सप्तम्या विपरिणम्यतेऽत्र)।

वा० चतुरश्छयतौ आद्यक्षरलोपश्च

पद०—चतुरः ५। छयतौ १। आद्यक्षरलोपः १। च अ०। वृ०—चतुर्-शब्दात् छयतौ प्रत्ययौ भवतः, तस्याद्यक्षरस्य लोपश्च भवति (आद्यक्षरः 'च' इत्यस्य लोप इत्यर्थः)। उदा०—चतुर्णां पूरणः तुरीयः। तुर्यः।

५४. द्वेस्तीयः　　　　५५

पद०—द्वेः ५। तीयः १। वृ०—षष्ठीसमर्थात् द्विशब्दात् पूरणः इति एतस्मिन्नर्थे तीयः प्रत्ययः भवति। उदा०—द्वयोः पूरणः द्वितीयः।

५५. त्रेः सम्प्रसारणञ्च

पद०—त्रेः ५। सम्प्रसारणम् १। च अ०। वृ०—षष्ठीसमर्थात् त्रिशब्दात् पूरणः इति एतस्मिन्नर्थे तीयः प्रत्ययः भवति, तत्सन्नियोगेन त्रेः सम्प्रसारणञ्च भवति। उदा०—त्रयाणां पूरणः तृतीयः।

५६. विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ५८

पद०—विंशत्यादिभ्यः ५। तमट् १। अन्यतरस्याम् ७। स०—विंशतिः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—षष्ठीसमर्थेभ्यः विंशत्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः पूरण इति एतस्मिन्नर्थे डट् प्रत्ययः भवति, डटः स्थाने तमट चागमः भवति, अन्यतरस्याम्। उदा०—विंशतेः पूरणः विंशतितमः। विंशः। एकोनविंशतितम इत्यादि।

(उक्तो डट्)

(अथ मत्वर्थीयाः)

९४. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् १०४

पद०—तत् १। अस्य ६। अस्ति १। अस्मिन् ७। इति अ०। मतुप् १। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् अस्त्यर्थकप्रातिपदिकात् अस्येति षष्ठयर्थे अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मतुप् प्रत्ययः भवति। उदा०—गावोऽस्य सन्ति इति गोमान् देवदत्तः। वृक्षाः अस्मिन् सन्ति इति वृक्षवान् पर्वतः। उगित्वान् ङीप् गोमती देवदत्ता। वृक्षवती अरण्यानी।

वा०—गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः

पद०—गुणवचनेभ्यः ५। मतुपः ६। लुक् १। वक्तव्यः। वृ०—गुणवचनेभ्यः शब्देभ्यः विहितमतुप् प्रत्ययस्य लुग्भवति। उदा०—शुक्लो गुणोऽस्यास्ति शुक्लः पटः। कृष्णः। श्वेतः।

११५ अत इनि-ठनौ ११७

पद०—अतः ५। इनिठनौ १। स०—इनिश्च ठन् च इति तौ (इ० द्व०)। वृ०—अदन्तात् प्रातिपदिकात् इनिठनौ प्रत्ययौ भवतः मत्वर्थे तदस्यास्त्यस्मिन्निति विषये। उदा०—दण्डी। दण्डिकः। दण्डवान्।

१२१. अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिः १२२

पद०—अस्मायामेधास्रजः ५। विनिः १। स०—अस् च माया च मेधा च स्रक् च इति तेषां समाहारः तत, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—असन्तात् प्रातिपदिकात् माया, मेधा, स्रक् इति एतेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः मत्वर्थे विनिः

---

९४. 'वा' इति पदं 'इन्द्रिय० ५।२।९३' इति सूत्रादनुवर्तते।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

प्रत्ययः भवति, तदस्यास्त्यस्मिन्निति विषये। उदा०—पयस्वी। मायावी। मेधावी। स्रग्वी। सर्वे मतुप्प्रत्ययान्ता अपि भवन्ति।

१२४. वाचो ग्मिनिः　　१२५

पद०—वाचः ५। ग्मिनिः १। वृ०—वाच्शब्दात् मत्वर्थे ग्मिनिः प्रत्ययः भवति, तदस्यास्त्यस्मिन्निति विषये। उदा०—वाग्मी।

१२७. अर्शआदिभ्योऽच्

पद०—अर्शआदिभ्यः ५। अच् १। स०—अर्शस् आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—अर्शआदिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः मत्वर्थे अच् प्रत्ययः भवति, तदस्यास्त्यस्मिन्निति विषये। उदा०—अर्शांसि अस्य विद्यन्ते इति अर्शसः। उरसः।

(इति मत्वर्थीयाः)

(धान्यानां०[1] व्रातेन०[2] किमः०[3] विमुक्ता०[4] काल०[5] प्रज्ञा०[6] अस्माया०[7] विंशतिश्च इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये पञ्चमाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ २२ ॥

अथ तृतीयः पादः

(अथ विभक्तिप्रत्ययाः)

१. प्राग्दिशो विभक्तिः २६

पद०—प्राक् अ०। दिशः ५। विभक्तिः १। वृ०—अधिकारोऽयम्, इत्यारभ्य 'दिक्शब्देभ्यः ५।३।२७' इति एतस्मात् प्राक् ये प्रत्ययाः पठितास्ते विभक्तिसंज्ञकाः भवन्ति। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

२. किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः २७

पद०—किंसर्वनामबहुभ्यः ५। अद्व्यादिभ्यः ५। स०—किञ्च सर्वनाम च बहुश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। द्विः आदिः येषां ते द्व्यादयः, न द्व्यादयः अद्व्यादयः, तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—किं, सर्वनाम, बहु इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दिशः प्रत्ययाः भवन्ति, अद्व्यादिभ्यः (द्व्यादिरहितेभ्यः)। उदा०—कुतः। कुत्र। यतः। यत्र। बहुतः। बहुत्र।

३. इदम इश् ४

पद०—इदमः ५। इश् १। वृ०—इदमः स्थाने इश् आदेशः भवति, प्राग्दिशीयेषु प्रत्ययेषु परतः। उदा०—इह।

४. एतेतौ रथोः

पद०—एतेतौ १। रथोः ७। स०—एतश्च इत् च तौ (इ० द्व०)। रश्च थ् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये प्रत्यये परतः इदमः स्थाने एतेतौ आदेशौ भवतः। उदा०—एतर्हि। इत्थम्।

५. एतदोऽन्

पद०—एतदः ६। अन् १। वृ०—प्राग्दिशीये प्रत्यये परतः एतदः स्थाने अन् आदेशः भवति। उदा०—अतः। अत्र।

६. सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि

पद०—सर्वस्य ६। सः १। अन्यतरस्याम् ७। दि ७। वृ०—प्राग्दिशीये दकारादौ प्रत्यये परतः सर्वस्य स्थाने अन्यतरस्यां सः आदेशः भवति। उदा०—सर्वदा। सदा।

९. पञ्चम्यास्तसिल् ९

पद०—पञ्चम्याः ५। तसिल् १। वृ०—पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः तसिल् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुतः। यतः। बहुतः।

१०. सप्तम्यास्त्रल् २२

पद०—सप्तम्याः ५। त्रल् १। वृ०—सप्तम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः त्रल् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुत्र। यत्र। बहुत्र।

११. इदमो हः

पद०—इदमः ५। हः १। वृ०—सप्तम्यन्तात् इदंशब्दात् हः प्रत्ययः भवति। उदा०—इह।

१२. किमोऽत् १३

पद०—किमः ५। अत् १। वृ०—सप्तम्यन्तात् किंशब्दात् अत् प्रत्ययः भवति। उदा०—क्व भोक्ष्यसे। ('क्वाति ७।२।१०५' इति किमः क्वो ज्ञेयः। अस्मादेव तपरादतः न विभक्तिवित्यस्यानित्यतया तलोपश्च)।

१४. इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते

पद०-इतराभ्यः ५। अपि अ०। दृश्यन्ते १। वृ०—इतराभ्योऽपि (पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तेभ्योऽपि) तसिलादयः प्रत्ययाः भवन्ति। उदा०—स भवान्। ततो भवान्। तत्र भवान् इत्यादि।

१५. सर्वैकान्य-कि-यत् तदः काले दा २२

पद०—सर्वैकान्यकियत्तदः ५। काले ७। दा १ स०—सर्वश्च एकश्च अन्यश्च किम् च यत् च तत् च इति तेषां समाहारः तत् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—कालेऽर्थे सप्तम्यन्तेभ्यः सर्व, एक, अन्य, किम्, यत्, तत्, इति एतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः दा प्रत्ययः भवति। उदा०—सदा। सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा।

१६. इदमो र्हिल् १८

पद०—इदमः ५। र्हिल् १। वृ०—कालेऽर्थे सप्तम्यन्तात् इदंशब्दात् र्हिल् प्रत्ययः भवति। उदा० अस्मिन् काले एतर्हि।

१७. अधुना

पद०—अधुना १। वृ०—कालेऽर्थे सप्तम्यन्तात् इदमः शब्दात् अधुना प्रत्ययः भवति तथा इदमः अश् भावश्च भवति। उदा०—अस्मिन् काले अधुना। (अधुना इति निपात्यते। मतान्तरे धुना प्रत्ययः इदम अ निपातनम्)।

१८. दानीं च १९

पद०—दानीम् १। च अ०। वृ०—कालेऽर्थे सप्तम्यन्तात् इदंशब्दात् दानीं च प्रत्ययः भवति। उदा०—इदानीम्।

१९. तदो दा च

पद०—तदः ५। दा १। च अ०। वृ०—कालेऽर्थे सप्तम्यन्तात् तदः शब्दात् दा प्रत्ययः भवति चकारात् इदानीमपि। उदा०—तस्मिन् काले तदानीम्। तदा।

२१. अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्

पद०—अनद्यतने ७। र्हिल् १। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—अनद्यतने कालविशेषे सप्तम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अन्यतरस्यां र्हिल् प्रत्ययः भवति। उदा०—कर्हि। कदा। यर्हि। यदा। तर्हि। तदा।

२२. सद्यःपरुत्-परार्यैषमः-परेद्यव्यद्य-पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः

पद०—सद्यः······रुत्तरेद्युः अ०। वृ०—कालेऽर्थे सप्तम्यन्ताः सद्यः, परुत्, परारि, ऐषमः, परेद्यवि, अद्य, पूर्वेद्युः, अन्येद्युः, अन्यतरेद्युः, इतरेद्युः, अपरेद्युः, अधरेद्युः, उभयेद्युः, उत्तरेद्युः इति एते शब्दाः निपात्यन्ते। उदा०—समानस्य सभावो निपात्यते द्यश्च प्रत्ययः अहन्यभिधेये—समानेऽहनि सद्यः। पूर्वपूर्वतरयोः परभावो निपात्यते उदारी च प्रत्ययौ संवत्सरेऽभिधेये— पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत्। पूर्वतरे संवत्सरे परारि। इदम इश्भावः समसण् प्रत्ययश्च निपात्यते संवत्सरेऽभिधेये—अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः। परस्मादेद्यविः प्रत्ययोऽहनि—परस्मिन्नहनि परेद्यवि। इदमोऽश्भावो द्यश्च प्रत्ययोऽहनि— अद्य। पूर्वान्यान्यतरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्य एद्युस् प्रत्ययो निपात्यतेऽहन्यभिधेये— पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः। अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः। अन्यतरस्मिन्नहनि अन्यतरेद्युः। इतरस्मिन्नहनि इतरेद्युः। अपरस्मिन्नहनि अपरेद्युः। अधरस्मिन्नहनि अधरेद्युः। उभयोः अह्नोः उभयेद्युः। उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्युः।

२३. प्रकारवचने थाल् २६

पद०—प्रकारवचने ७। थाल् १। वृ०—प्रकारवचने अर्थे किमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः थाल् प्रत्ययः भवति। उदा०—तेन प्रकारेण तथा। यथा। सर्वथा।

२४. इदमस्थमुः २५

पद०—इदमः ५। थमुः १। वृ०—प्रकारवचनेऽर्थे इदंशब्दात् थमुः प्रत्ययः भवति। उदा०—अनेन प्रकारेण इत्थम्।

२५. किमश्च २६

पद०—किमः ५। च अ०। वृ०—प्रकारवचनेऽर्थे किंशब्दात् च थमुः प्रत्ययः भवति। उदा०—केन प्रकारेण कथम्।

२७. दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेष्वस्तातिः ४१

पद०—दिक्शब्देभ्यः ५। सप्त…भ्यः ५। दिग्देशकालेषु ७। अस्तातिः १। स०—दिशां शब्दाः ते, तेभ्यः (तत्०)। सप्तमी च पञ्चमी च प्रथमा च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। दिक् च देशश्च कालश्च इति ते, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तेभ्यः दिक्शब्देभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः दिग्देशकालेषु अर्थेषु अस्तातिः प्रत्ययः भवति। उदा०—पुरस्ताद्वसति। पुरस्तादागतः। पुरस्ताद्रमणीयम्।

३०. अञ्चेर्लुक्

पद०—अञ्चेः ५। लुक् १। वृ०—अञ्चत्यन्तेभ्यो दिक्शब्देभ्यः परस्य अस्तातिप्रत्ययस्य लुक् भवति। उदा०—प्राच्यां वसति, प्राच्या आगतः, प्राची रमणीयेति वक्तव्ये—प्राक् वसति, प्राक् आगतः, प्राक् रमणीयम्। एवं प्रत्यक् इत्यादि। (अत्र अस्तातेर्लुकि 'लुक्तद्धितलुकि १।२।४९' स्त्रीप्रत्ययस्य लुक्। 'चोः कुः ८।२।३०' इति कुत्वम्)।

४२. संख्याया विधार्थे धा ४३, ४६

पद०—संख्यायाः ५। विधार्थे ७। धा १। वृ०—संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः विधार्थे (प्रकारार्थे) धा प्रत्ययः भवति। उदा०—एकप्रकारेण एकधा भुङ्क्ते। द्विधा गच्छति। त्रिधा।

४७. याप्ये पाशप्

पद०—याप्ये ७। पाशप् १। वृ०—याप्येऽर्थे (कुत्सिते) प्रातिपदिकात् पाशप् प्रत्ययः भवति। उदा०—कुत्सितो वैयाकरणो वैयाकरणपाशः।

---

३०. 'दिक्शब्देभ्यः', 'अस्तातिः' इति एतौ 'दिक्शब्देभ्यः ५।३।२७' इति सूत्रादनुवर्त्तेते।

५३. भूतपूर्वे चरट् ५४

पद०--भूतपूर्वे ७। चरट् १। वृ०--भूतपूर्वे अर्थे प्रातिपदिकात् चरट् प्रत्ययः भवति। उदा०—आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यचरः।

५५. अतिशायने तमबिष्ठनौ ६५, ५६, ६५

पद०—अतिशायने ७। तमबिष्ठनौ १। स०- तमप् च इष्ठन् च तौ (इ० द्व०)। वृ०—अतिशायनविशिष्टेऽर्थे प्रातिपदिकात् तमबिष्ठनौ प्रत्ययौ भवतः। उदा०—सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामतिशयेनाढ्यः आढ्यतमः। सर्वे इमे पटवः, अयमेषामतिशयेन पटुः पटिष्ठः।

५६. तिङश्च ८५

पद०- तिङः ५। च अ०। वृ०--अतिशायने द्योत्ये तिङन्तात् च तमप् प्रत्ययः भवति। उदा०—सर्वे इमे पचन्तीति अयमेषामतिशयेन पचति पचतितमाम्।

५७. द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ

पद०—द्विवचनविभज्योपपदे ७। तरबीयसुनौ १। स०—द्विवचनं च विभज्यं चेति तयोः समाहारः तत्, द्विवचनविभज्यम्, द्विवचनविभज्यं चाद उपपदं चेति द्विवचनविभज्योपपदं तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भकर्मधारयः)। तरप् च ईयसुन् च तौ (इ० द्व०)। वृ०—द्व्यर्थे विभज्ये चोपपदे प्रातिपदिकात् तिङन्तात् च अतिशायने तरबीयसुनौ प्रत्ययौ भवतः (नात्रक्रमः)। उदा०—द्वाविमावाढ्यौ अयमनयोरतिशयेनाढ्यः आढ्यतरः। पचतितराम्। द्वाविमौ पटू, अयमनयोरतिशयेन पटुः पटुतरः। पटीयान्। विभज्ये चोपपदे— माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढचतराः। दर्शनीयतराः। पटीयांसः।

५८. अजादी गुणवचनादेव ६५

पद०—अजादी १। गुणवचनात् ५। एव अ०। स०- अच् आदिः ययोः तौ (बहु०)। वृ०—गुणवाचिनः प्रातिपदिकात् एव अजादी इष्ठन्नियसुनौ प्रत्ययौ भवतः। उदा० पटीयान्। पटिष्ठः। ('अजादी' शब्देन इष्ठन्, इयसुन् इत्येतौ प्रत्ययौ ज्ञेयौ। विशेषनियमोऽयम्)।

६०. प्रशस्यस्य श्रः ६१

पद०—प्रशस्यस्य ६। श्रः १। वृ०—अजाद्योः प्रत्यययोः परयोः प्रशस्यस्य स्थाने श्रः आदेशः भवति। उदा०—सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठ। उभाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान्। (अजादी इति प्रकृतस्य सप्तमीविभक्तिर्विपरिणम्यते)।

६१. ज्य च	६२

पद०—ज्य लुप्तप्रथमान्तः । च अ० । वृ०—अजाद्योः प्रत्यययोः परयोः प्रशस्यस्य स्थाने ज्य आदेशः भवति । उदा०—ज्येष्ठः । ज्यायान् ।

६३. अन्तिक-बाढयोर्नेदसाधौ

पद०—अन्तिकबाढयोः ६ । नेदसाधौ १ । स०—अन्तिकं च बाढं च तौ, तयोः (इ० द्व०) । नेदश्च साधश्च तौ (इ० द्व०) । वृ०—अजाद्योः प्रत्यययोः परयोः अन्तिकबाढयोः स्थाने नेदसाधौ आदेशौ भवतः (नात्रक्रमः) । उदा०—नेदिष्ठम् । नेदीयः । साधिष्ठम् । साधीयः ।

६४. युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्

पद०—युवाल्पयोः ६ । कन् १ । अन्यतरस्याम् ७ । स०—युवा च अल्पश्च इति तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—अजाद्योः प्रत्यययोः परयोः युवाल्पयोः स्थाने अन्यतरस्यां कन् आदेशः भवति । उदा०—कनिष्ठः । कनीयान् । यविष्ठः । यवीयान् इत्यादि ।

६५. विन्-मतोर्लुक्

पद०—विन्मतोः ६ । लुक् १ । स०—विन् च मतुप्च तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—अजाद्योः प्रत्यययोः परयोः विनः मतुपश्च लुक् भवति । उदा०—सर्वे इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । एवम् त्वचिष्ठः । त्वचीयान् ।

६६. प्रशंसायां रूपप्

पद०—प्रशंसायाम् ७ । रूपप् १ । वृ०—प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे प्रातिपदिकात् तिङन्तात् च रूपप् प्रत्ययः भवति । उदा०—वैयाकरणरूपः (प्रशस्तो वैयाकरण इत्यर्थः) । पचतिरूपम् ।

६७. **ईषदसमाप्तौ** कल्पब्देश्य-देशीयरः	६८

पद०—ईषदसमाप्तौ ७ । कल्पब्देश्यदेशीयरः १ । स०—न समाप्तिः असमाप्तिः, ईषत् चासौ असमाप्तिश्च ईषदसमाप्तिः, तस्याम् (नञ्गर्भकर्मधारयः) । कल्पप् च देश्यश्च देशीयर् च इति ते, (इ० द्व०) । वृ०—ईषदसमाप्तौ अर्थे प्रातिपदिकात् तिङन्तात् च कल्पप्, देश्य, देशीयर्, इति एते प्रत्ययाः भवन्ति । उदा०—पटुकल्पः । पटुदेश्यः । पटुदेशीयः (ईषदूनः पटुरित्यर्थः) । पचतिकल्पम् ।

६८. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् तु ६९

पद०—विभाषा १। सुपः ५। बहुच् १। पुरस्तात् अ०। तु अ०। वृ०—ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्तात् विभाषा बहुच् प्रत्ययः भवति, स च पुरस्तात् भवति न तु परे। उदा०—बहुपटुः। (विकल्पेन कल्पादयः भवन्ति) पटुकल्प इत्यादयः।

६९. प्रकारवचने जातीयर्

पद०—प्रकारवचने ७। जातीयर् १। स०—प्रकारस्य वचनं तत्, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—प्रकारवचनविशिष्टेऽर्थे प्रातिपदिकात् जातीयर् प्रत्ययः भवति। उदा०—पटुप्रकारः। पटुजातीयः। दर्शनीयजातीयः।

(अथ प्रागिवीयाः)

७०. प्रागिवात्कः ९६

पद०—प्राक् अ०। इवात् ५। कः १। वृ०—अधिकारोऽयम् इत्यारभ्य 'इवे प्रतिकृतौ ५। ३।९६' इति एतस्मात् प्राक् कः प्रत्ययः अधिक्रियते। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

७१. अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ७२

पद०—अव्ययसर्वनाम्नाम् ६। अकच् १। प्राक् अ०। टेः ५। स०—अव्ययानि च सर्वनामानि च ते, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—अव्यय-सर्वनाम्नां तिङन्तानां च प्रागिवीयेषु अर्थेषु अकच् प्रत्ययः भवति, स च प्राक् टेः, न परतः। उदा०—उच्चकैः। सर्वके। युवकयोः। आवकयोः। त्वयका। मयका। पचतकि।

७२. अज्ञाते

पद०—अज्ञाते ७। वृ०—अज्ञातेऽर्थे प्रातिपदिकात् तिङन्तात् च यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—अश्वकः। उच्चकैः। सर्वकैः। पचतकि। (अज्ञातोऽश्वो हि अश्वक उच्यते, एवमग्रेऽपि)।

७४. कुत्सिते ७५

पद०—कुत्सिते ७। वृ०—कुत्सितेऽर्थे प्रातिपदिकात् तिङन्तात् च यथाविहितं प्रत्ययः भवति। उदा०—कुत्सितोऽश्वः अश्वकः। पचतकि।

९५. अवक्षेपणे कन्　　१००

पद०—अवक्षेपणे ७। कन् १। वृ०—अवक्षेपणेऽर्थे प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययः भवति। उदा०—व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः।

९६. इवे प्रतिकृतौ　　१११, १००

पद०—इवे ७। प्रतिकृतौ ७। वृ०—इवार्थे प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययः भवति। प्रतिकृतौ (चित्रे) अर्थे। उदा०—अश्व इवायमश्वप्रतिकृतिः अश्वकः।

(पूर्णः प्रागिवीयः)

(प्राग्दिशो०[१] अनद्यतने०[२] विभाषा०[३] ज्य च[४], जातिनाम्नः०[५] वस्ते० एकोनविंशतिः च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहद्दनुपाणिनीये पञ्चमाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ४६ ॥

अथ चतुर्थः पादः

११. किमेत्-तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे   १२

पद०—किमेत्तिङव्ययघात् ५। आमु लुप्तप्रथमान्तः। अद्रव्यप्रकर्षे ७। स०—किम् च एत् च तिङ् च अव्ययञ्च इति तानि, तेषाम् घः सः, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भस्तत०)। द्रव्यस्य प्रकर्षः द्रव्यप्रकर्षः, न द्रव्यप्रकर्षः अद्रव्यप्रकर्षः तस्मिन् (नञ्तत०)। वृ०—किमः एकारान्तात् तिङन्तात् अव्ययेभ्यश्च यः विहितः घः, तदन्तात् प्रातिपदिकात् आमुप्रत्ययः भवति अद्रव्यप्रकर्षे। उदा०—किंतराम्। किंतमाम्। पूर्वाह्णेतराम्। पूर्वाह्णेतमाम्। पचतितराम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तराम्। उच्चैस्तमाम्। (क्रियागुणप्रकर्षे घः)।

१७. संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्   २०

पद०—संख्यायाः ५। क्रियाभ्यावृत्तिगणने ७। कृत्वसुच् १। स०—क्रियायाः अभ्यावृत्तिः सा, तस्याः गणनं तत्, तस्मिन् (तत्०)। वृ०-क्रियाभ्यावृत्तिगणने (क्रियाजन्मगणने) संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कृत्वसुच् प्रत्ययः भवति। उदा०—पञ्च वारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वः।

१८. द्वि-त्रि-चतुर्भ्यः सुच्   १९

पद०—द्वित्रिचतुर्भ्यः ५। सुच् १। स०—द्विश्च त्रिश्च चतुर् च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—क्रियाभ्यावृत्तिगणने संख्यावाचिभ्यः द्वित्रिचतुर्भ्यः प्रातिपदिकेभ्यः सुच् प्रत्ययः भवति। उदा०—द्विर्भुङ्क्ते इत्यादि।

१९. एकस्य सकृच्च

पद०—एकस्य ६। सकृत् १। च अ०। वृ०—क्रियाभ्यावृत्तिगणने संख्यावाचिनः एकशब्दात् सुच् प्रत्ययः भवति, एकस्य स्थाने सकृदादेशश्च। (संयोगान्तलोपात् सुचो निवृत्तिः)। उदा०—सकृद् भुङ्क्ते।

---

११. अत्र सम्बन्धे षष्ठी जन्यजनकभावश्च सम्बन्धः किमादयः घं जनयन्ति, ततस्तदन्तविधिः। क्रियायाः गुणस्य वा प्रकर्षे घः।

२१. तत् प्रकृतवचने मयट् २२

पद०—तत् १। प्रकृतवचने ७। मयट् १। स०—प्रकृतस्य वचनं तत्, तस्मिन् (तत्०)। वृ०—तदिति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् मयट् प्रत्ययः भवति प्रकृतवचनेऽभिधेये। उदा०—अन्नं प्रकृतमस्मिन्नन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व। (प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम् इति)।

३८. प्रज्ञादिभ्यश्च

पद०—प्रज्ञादिभ्यः ५। च अ०। स०—प्रज्ञः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०–प्रज्ञादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे अण् प्रत्ययः भवति। उदा०—प्रज्ञ एव प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री।

४२. बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ४३, ४६

पद०—बह्वल्पार्थात् ५। शस् १। कारकात् ५। अन्यतरस्याम् ७। स० – बहुश्च अल्पश्च बह्वल्पौ, बह्वल्पौ अर्थौ यस्य सः, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—कारकाभिधायिनः बह्वर्थात् अल्पार्थात् च प्रातिपदिकात् अन्यतरस्याम् शस् प्रत्ययः भवति। उदा०—बहूनि ददाति। बहुशो ददाति। अल्पं ददाति। अल्पशो ददाति। बहुभिर्ददाति। बहुशो ददाति, इत्यादि। (कारकसामान्य-वचनात् सर्वाण्येव कारकाणि बोध्यानि—बहुभ्यो ददाति, बहुशो ददातीत्यादि। मङ्गलामङ्गलञ्चापि ध्वन्यते। मङ्गलाद्यभ्युदये बहुशः। अनिष्टकर्मणि अल्पशः)।

४३. संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्

पद०—संख्यैकवचनात् ५। च अ०। वीप्सायाम् ७। स०—संख्या च एकवचनञ्च तयोः समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—संख्यावाचिनः

---

२१. समासभेदेनात्र अर्थद्वयम् प्रकृतस्य वचनं प्रकृतवचनम् तस्मिन्नित्यर्थे (तत्पुरुषः) अन्नमयं वर्त्तते। प्रकृतस्य वचनम् यस्मिन् तत् प्रकृतवचनम्, तस्मिन्नित्यर्थे (व्यधिकरणबहुव्रीही) अन्नमयो यज्ञ, अन्नमयं पर्व इति। उभयोरपि पाणिनि-सम्मतोऽर्थः, पुरुषोत्तमदेवस्तु अन्यथैव व्याख्यायेममेवोभयमर्थं वक्ति—स चासौ प्रकृतः तत्प्रकृतः (कर्मधारयः) तस्य वचनं तत्प्रकृतवचनं तस्मिन्नर्थे मयट् स्यादिति। तत् प्रकृतम् अस्मिन्निति तत्प्रकृतम् (बहुव्रीहिः) तस्य वचनम् तत्प्रकृतवचनं, तस्मिन्नर्थे मयट् स्यात् इत्येवमुभयार्थं वक्ति मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।

३८. 'अण्' इति पदं "तद्युक्तात्० ५।४।३६" इति सूत्रादनुवर्तते।

एकवचनात् च (परिमाणवाचिनः) प्रातिपदिकात् अन्यतरस्यां शस् प्रत्ययः भवति, वीप्सायाम् । उदा०—द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विशः । कार्षापणं कार्षापणं ददाति कार्षापणशः ।

४४. प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ४५, ४९

पद०—प्रतियोगे ७ । पञ्चम्याः ५ । तसिः १ । स०—प्रतिना योगः सः, तस्मिन् (तत्०) । वृ०—प्रतिना (कर्मप्रवचनीयेन) योगे या पञ्चमी विहिता, तदन्तात् तसिः प्रत्ययः भवति अन्यतरस्याम् । उदा०—प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति । वासुदेवात् प्रति ।

४५. अपादाने चाहीय-रुहोः

पद० - अपादाने ७ । च अ० । अहीयरुहोः ६ । स०—हीयश्च रुहश्च तौ हीयरुहौ, न हीयरुहौ अहीयरुहौ तयोः (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०) वृ०—अपादाने या पञ्चमी विहिता, तदन्तात् अन्यतरस्यां तसिः प्रत्ययः भवति, तत् चेत् अपादानं हीय-रुहोः सम्बन्धि न भवति । उदा०—ग्रामत आगच्छति । ग्रामात् । अन्यत्र स्वार्थाद् हीयते । पर्वतादवरोहति ।

५०. अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि च्विः ५३, ५७, ५५, ५३

पद०—अभूततद्भावे ७ । कृभ्वस्तियोगे ७ । संपद्यकर्तरि ७ । च्विः १ । स०—कृ च भू च अस्ति च इति ते, तैः योगः सः, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०) । संपद्यस्य कर्त्ता संपद्यकर्त्ता तस्मिन् (तत्०) । वृ०—संपद्यकर्त्तरि वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् च्विः प्रत्ययः भवति, कृभ्वस्तिभिः धातुभिः योगे अभूततद्भावे गम्यमाने । उदा०—अशुक्लः शुक्लः संपद्यते, तं शुक्लीकरोति । मलिनं शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् ।

५२. विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५३, ५५

पद०—विभाषा १ । साति लुप्तप्रथमान्तः । कार्त्स्न्ये ७ । वृ०—संपद्यकर्त्तरि वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् विभाषा सातिः प्रत्ययः भवति, कृभ्वस्तिभिर्योगे कार्त्स्न्ये गम्यमाने (पक्षे च्विः) । उदा०—अग्निसाद् भवति शस्त्रम् । अग्नीभवति शस्त्रम् इत्यादि ।

५७. अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ६७

पद० - अव्यक्तानुकरणात् ५ । द्व्यजवरार्धात् ५ । अनितौ ७ । डाच् १ । स०—न व्यक्तं अव्यक्तम्, अव्यक्तस्यानुकरणं तत्, तस्मात् (नञ्गर्भस्तत्०) । द्वयोः अचोः समाहारः द्व्यच्, द्व्यच् अवरार्धो यस्य सः तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो

बहु०)। न इति अनिति तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—कृभ्वस्तिभिर्योगे अव्यक्तानुकरणात् द्वचजवरार्धात् डाच् प्रत्ययः भवति, अनितौ परे। उदा०—पटपटाकरोति इत्यादि। अवरशब्द (अपकर्षार्थे ज्ञेयः)।

(अथ समासान्तस्तद्धितः)

६८. **समासान्ताः** १६०

पद०—समासान्ताः १। स०—समासस्य अन्तः समासान्तः, ते (तत्०)। वृ०—अधिकारोऽयम्, इत्यारभ्य 'निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०' इति सूत्रं यावत् ये प्रत्ययाः सन्ति, ते समासान्ताः वेदितव्याः।

६९. न पूजनात् ७२

पद०—न अ०। पूजनात् ५। वृ०—पूजनार्थात् परस्मात् समासान्ता न भवन्ति। उदा०—सुराजा। अतिराजा।

७०. किमः क्षेपे

पद०—किमः ५। क्षेपे ७। वृ०—क्षेपार्थकंकिंशब्दात् परस्मात् समासान्ता न भवन्ति। उदा०—किंराजा यो न रक्षति।

७१. नञस्तत्पुरुषात् ७२

पद०—नञः ५। तत्पुरुषात् ५। वृ०—नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात् समासान्ता न भवन्ति। उदा०—अराजा।

७३. बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्

पद०—बहुव्रीहौ ७। संख्येये ७। डच् १। अबहुगणात् ५। स०—बहुश्च गणश्च तयोः समाहारः बहुगणम्, न बहुगुणं अबहुगणं तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—संख्येये यो बहुव्रीहिः, तस्माद् अबहुगणन्तात् च डच् प्रत्ययः भवति। उदा०—उपदशाः। उपविंशाः। उपत्रिंशाः। आसन्नदशाः। अदूरदशाः। अधिकदशाः। द्वित्राः। पञ्चषाः। पञ्चदशाः।

७४. ऋक्-पूरब्धूःपथामानक्षे

पद०—ऋक्पूरब्धूःपथाम् ६। अ लुप्तप्रथमान्तः। अनक्षे ७। स०—ऋक् च पूर् च अप् च धूर् च पन्थाश्च इति ते, तेषाम् (इ० द्व०)। न अक्षम् अनक्षं

६९. 'पूजायां स्वतिग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति वार्तिकबलात् अत्र स्वतिग्रहणं भवति।
७४. सामर्थ्याद् 'धुर' एतद्विशेषणं मृगादीनाम् न भवति। अक्षसम्बन्धिनी या 'धूर्' तदन्तस्य न भवति।

तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—ऋक्, पूर्, अप्, धुर्, पथिन् इत्येवम् अन्तानां समासानाम् अकारः प्रत्ययः भवति समासान्तोऽक्षे न। उदा०—अनृचः। बह्वृचः। अर्द्धर्च्चः। ललाटपुरम्। द्वीपम्। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६। ३। ९७' इतीत्त्वम्। राजधुरा। जलपथः।

७५. अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः ८७

पद०—अच् १। प्रत्यन्ववपूर्वात् ५। सामलोम्नः ५। स०—प्रतिश्च अनुश्च अवश्च इति तेषां समाहारः प्रत्यन्ववम्, प्रत्यन्ववं पूर्वं यस्य तत्, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। साम च लोम च इति तयोः समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—प्रत्यन्ववपूर्वात् सामान्तात् लोमान्तात् च प्रातिपदिकात् समासान्तः अच् प्रत्ययः भवति। उदा० - प्रतिसाममित्यादि।

८६. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः १०५, ८८

पद०—तत्पुरुषस्य ६। अङ्गुलेः ६। संख्याव्ययादेः ६। स०—संख्या च अव्ययञ्च तयोः समाहारस्तत् संख्याव्ययम् आदिः यस्य सः, तस्य (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—संख्याव्ययादेः अङ्गुलिशब्दान्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्त अच् प्रत्ययः भवति। उदा० – द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्।

८७. अहः सर्वैकदेश-संख्यात-पुण्याच्च रात्रेः

पद० अहः···पुण्यात् ५। च अ०। रात्रेः ५। स०—अहश्च सर्वश्च एकदेशश्च संख्यातश्च पुण्यश्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)! वृ०—अहरादिभ्यः चात् संख्याव्ययादिभ्यश्च परः यः रात्रिशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तः अच् प्रत्ययः भवति। उदा०—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः इत्यादि ('रात्राह्नाहाः, पुंसि २। ४। २९' इति पुंस्त्वम्)।

८८. अह्नोऽह्न एतेभ्यः ९०

पद०—अह्नः ६। अह्नः १। एतेभ्यः ५। वृ०—एतेभ्यः (संख्याव्यय-सर्वादिभ्यः) उत्तरस्य अहःशब्दस्य स्थाने समासान्तः अह्नादेशः भवति, तत्पुरुषे समासे। उदा०—द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः। अहरतिक्रान्तः अत्यह्नः। सर्वाह्नः। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। संख्याताह्नः।

---

८८. अत्र 'एतद्'इति सर्वनाम्ना उपरिस्थसूत्रद्वयतः 'तत्पुरु० ५।४।८६' इत्यतः संख्याव्ययेति 'अहः० ५:४'८७' इत्यतः सर्वादिग्रहणम्! असामर्थ्यात् अहन्शब्दस्य त्यागः। पुण्यशब्दात् निषेधं वक्ष्यति इति तस्यापि त्यागः।

९१. राजाहःसखिभ्यष्टच् ११२

पद०—राजाहःसखिभ्यः ५। टच् १। स०—राजा च अहश्च सखा च ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—राजन्, अहन्, सखि इत्येवमन्तात् प्रातिपदिकात् तत्पुरुषात् समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति। उदा०—महाराजः। परमाहः। राजसखः।

९२. गोरतद्धितलुकि

पद०—गोः ५। अतद्धितलुकि ७। स०—तद्धितस्य लुक् तद्धितलुक्, न तद्धितलुक् अतद्धितलुक् तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—गोशब्दान्तात् तत्पुरुषात् समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति, स चेत् तत्पुरुषः तद्धितलुग्विषयः न भवति। उदा०—परमगवः। पञ्चगवम्।

१०२. द्वि-त्रिभ्यामञ्जलेः

पद०—द्वित्रिभ्याम् ५। अञ्जलेः ५। स०—द्विश्च त्रिश्च इति तौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—द्वित्रिभ्यां परः यः अञ्जलिशब्दः तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति। उदा०—द्वावञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम्। त्र्यञ्जलम्।

(तत्पुरुषः पूर्णः)

१०६. द्वन्द्वाच्चु-द-ष-हान्तात् समाहारे

पद०—द्वन्द्वात् ५। चुदषहान्तात् ५। समाहारे ७। स०—चुश्च दश्च षश्च हश्च तेषां समाहारः चुदषहम्, चुदषहमन्ते यस्य सः, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ० - चवर्गान्तात् दकारान्तात्, षकारान्तात् हकारान्तात् च द्वन्द्वात् समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति समाहारे द्वन्द्वे। उदा०—वाक्त्वचम्। संपद्विपदम्। वाग्विप्रुषम्। छत्रोपानहम्।

१०७. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ११२

पद० —अव्ययीभावे ७। शरत्प्रभृतिभ्यः ५। स०—शरत् प्रभृतिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—शरत्प्रभृतिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः। समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति, अव्ययीभावे समासे। उदा०—शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिशरदम् इत्यादि।

१०८. अनश्च १०९

पद०—अनः ५। च अ०। वृ०—अन्नन्तात् प्रातिपदिकात् च समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति, अव्ययीभावे समासे। उदा० —उपराजम्।

१०९. नपुंसकादन्यतरस्याम् ११२

पद०—नपुंसकात् ५। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—नपुंसकात् अन्नन्तात् प्रातिपदिकात् अन्यतरस्यां समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति, अव्ययीभावे समासे। उदा०—प्रतिचर्मम्। प्रतिचर्म।

१११. झयः

पद०—झयः ५। वृ०—झयन्तात् प्रातिपदिकात् अन्यतरस्यां समासान्तः टच् प्रत्ययः भवति, अव्ययीभावे समासे। उदा०—उपसमिधम्। उपसमित्।

(इति अव्ययीभावः)

११३. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् १६०,११४

पद०—बहुव्रीहौ ७। सक्थ्यक्ष्णोः ६। स्वाङ्गात् ५। षच् १। स०—सक्थिश्च अक्षिश्च इति तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—स्वाङ्गवाचिनः सक्थिशब्दान्तात् अक्षिशब्दान्तात् च समासान्तः षच् प्रत्ययः भवति, बहुव्रीहौ समासे। उदा०—दीर्घं सक्थि यस्य दीर्घसक्थः। लोहिताक्षः।

१२२. नित्यमसिच् प्रजा-मेधयोः १२३

पद०—नित्यम् १। असिच् १। प्रजामेधयोः ६। स०—प्रजा च मेधा च ते, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—नञ्, दुस्, सु इति एतेभ्यः परस्मात् प्रजाशब्दान्तात् मेधाशब्दान्तात् च बहुव्रीहेः नित्यं समासान्तः असिच् प्रत्ययः भवति। उदा०—अविद्यमाना प्रजा अस्य अप्रजाः। अमेधाः। (नित्यग्रहणादन्यपूर्वत्वमपि अल्पमेधसः)।

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याल्पमेधसः।
अनुवाहकता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥

(कुन्तीवाक्यम्—महाभारते)

१२४. धर्मादनिच् केवलात् १२६

पद०—धर्मात् ५। अनिच् १। केवलात् ५। वृ०—केवलपूर्वात् धर्मशब्दान्तात् बहुव्रीहेः समासान्तः अनिच् प्रत्ययः भवति। उदा०—कल्याणो धर्मोऽस्य कल्याणधर्मा।

---

१२२. 'नञ्दुःसुभ्यः' इति पदं 'नञ्दुःसुभ्यो० ५।४।१२१' सूत्रादनुवर्तते।

१२७. इच् कर्म-व्यतिहारे १२८

पद०—इच् १। कर्मव्यतिहारे ७। वृ०—कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिः, तस्मात् समासान्तः इच् प्रत्ययः भवति। उदा०—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि।

१३१. ऊधसोऽनङ् १३३

पद०—ऊधसः ६। अनङ् १। वृ०—ऊधःशब्दान्तस्य बहुव्रीहेः समासान्तः अनङ् आदेशः भवति। उदा०—कुण्डमिव ऊधोऽस्याः, सा कुण्डोध्नी।

१३४. जायाया निङ्

पद०—जायायाः ६। निङ् १। वृ० – जायाशब्दान्तस्य बहुव्रीहेः समासान्तः निङ् आदेशः भवति। उदा०–'युवतिर्जाया यस्य स युवजानिः धनुष्पाणिः।' (भट्टिः–४)

१३५. गन्धस्येदुत-पूति-सु-सुरभिभ्यः १३७

पद०—गन्धस्य ६। इत् १। उत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५। स०—उत् च पूतिश्च सुश्च सुरभिश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—उत्, पूति, सु, सुरभि इति एतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य बहुव्रीहेः समासान्तः इत् (इकारः) आदेशः भवति। उदा०—उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः इत्यादि।

१३८. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः

पद०—पादस्य ६। लोपः १। अहस्त्यादिभ्यः ५। स०—हस्ती आदिः येषां ते हस्त्यादयः, न हस्त्यादयः अहस्त्यादयः, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—उपमानवाचिभ्यः अहस्त्यादिभ्यः परस्य पादशब्दस्य लोपः भवति, समासान्तः बहुव्रीहौ समासे। उदा०—व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्।

१५०. सुहृद्-दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः

पद०—सुहृद्दुर्हृदौ १। मित्रामित्रयोः ७। स०—सुहृद् च दुर्हृद् च इति तौ (इ० द्व०)। मित्रञ्च अमित्रञ्च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सुहृत्, दुर्हृत् इति निपात्येते यथासंख्यं मित्रामित्रयोरभिधेययोः। सुशब्दात् परस्य हृदयशब्दस्य हृद्भावः निपात्यते बहुव्रीहौ, तथा दुःशब्दात् परस्य हृदयशब्दस्य हृद्भावः निपात्यते बहुव्रीहौ। उदा०—शोभनं हृदयमस्य सुहृन्मित्रम्। दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रम्।

---

१२७. 'तत्र तेनेदमिति सरूपे २।२।२७' इत्ययं बहुव्रीहिर्गृह्यते।

१३८. 'उपमानात्' इति पदं 'उपमानाच्च ५।४।१३७' इति सूत्रादनुवर्तते।

१५१. उरःप्रभृतिभ्यः कप् १६०

पद०—उरःप्रभृतिभ्यः ५। कप् १। स०—उरः प्रभृतिः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—उरःप्रभृत्यन्तात् बहुव्रीहेः समासान्तः कप् प्रत्ययः भवति। उदा०—व्यूढमुरोऽस्य व्यूढोरस्कः।

१५३. नद्यृतश्च

पद०—नद्यृतः ५। च अ०। स०—नदी च ऋत् च तयोः समाहारः तत्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—नद्यन्तात् ऋकारान्तात् च बहुव्रीहेः समासान्तः कप् प्रत्ययः भवति। उदा०—बह्व्यः कुमार्योऽस्मिन् देशे बहुकुमारीको देशः। बहुकर्तृकः। ('केऽणः ७।४।१३' इति प्राप्तो ह्रस्वः, 'न कपि ७।४।१४' इति निषिध्यते)।

१५४. शेषाद् विभाषा

पद०—शेषात् ५। विभाषा १। वृ०—शेषात् (यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः, सः शेषः, तस्मात्) बहुव्रीहेः विभाषा समासान्तः कप् प्रत्ययः भवति। उदा०—बह्व्यः खट्वा अस्मिन् बहुखट्वकः। बहुखट्वः।

१६०. निष्प्रवाणिश्च

पद०—निष्प्रवाणिः १। च अ०। वृ०—निष्प्रवाणिरिति इत्यत्र प्राप्तः कप्प्रत्ययः निषिध्यते। उदा०—प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी। प्रवयन्ति तयेति वा प्रवाणी। निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्रवाणिः पटः।

(इति बहुव्रीहिप्रत्ययः)

(पादशतस्य०[१] तत्प्रकृत०[२] वृक-ज्येष्ठाभ्यां०[३] सपत्र०[४] अन्वव०[५] खार्याः०[६] नञ्दुःसुभ्यो०[७] वयसि० विंशतिः च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ इति पूर्वार्द्धः ॥

॥ इति शिवम् ॥ ४४ ॥

---

१६०. 'न' निषेधेति 'न संज्ञायाम् ५।४।१५५' इति सूत्रादनुवर्तते।

उत्तरार्द्धम्

अथ षष्ठाध्याये

प्रथमः पादः

***

(अथ द्विर्वचनप्रकरणम्)

१. एकाचो द्वे प्रथमस्य ११

पदच्छेदः- एकाचः ६। द्वे १। प्रथमस्य ६। समासः—एकः अच् यस्मिन् सः, एकाच्, तस्य (बहुव्रीहिः)। वृत्तिः—अधिकारोऽयम्, प्रथमस्य एकाचः द्वे भवतः इति अधिक्रियते प्राक् सम्प्रसारणात्। उदाहरणानि—'लिटि-धातोरनभ्यासस्य ६।१।१३' पपाच। जजागार। इयाय।

२. अजादेर्द्वितीयस्य ११

पद०—अजादेः ५। द्वितीयस्य ६। स०—अच् आदिः यस्य सः अजादिः, तस्य (बहु०)। वृ०—अजादेः धातोः द्वितीयस्य एकाचः द्वे भवतः इति अधि-क्रियते प्राक् संप्रसारणात्। उदा०-'सन्यङोः ६।१।९' अटिटिषति। अशिशि-षति। अरिरिषति।

३. न न्द्राः संयोगादयः

पद०—न अ०। न्द्राः १। संयोगादयः १। स०—नश्च दश्च रश्च इति ते (इ० द्व०)। संयोगस्य आदयः संयोगादयः (तत्०)। वृ०—अजादीनां धातूनां संयोगादिभूता न-द-रा न द्विरुच्यन्ते। उदा०—उन्दिदिषति। अड्डि-डिषति। अर्चिचिषति।

---

२. 'धातुः' इति पदं उपयोगसामर्थ्याद् ग्रहण भवति।

४. पूर्वोऽभ्यासः

पद०—पूर्वः १। अभ्यासः १। वृ०—(अनुवृत्तं 'द्वे' इति प्रथमान्तमत्र षष्ठ्या विपरिणम्यते) द्विरुक्तस्य पूर्वोऽभ्याससंज्ञः भवति । उदा०—पपाच। पिपक्षति। पापच्यते। जुहोति। अपीपचत्।

५. उभे अभ्यस्तम् ६

पद०—उभे १। अभ्यस्तम् १। वृ०—उभे द्विरुक्ते अभ्यस्तसंज्ञे भवतः। उदा०—ददाति। ददत्। दधतु। (अदभ्यस्तादितिकार्यम्)।

६. जक्षित्यादयः षट्

पद०—जक्षित्यादयः १। षट् १। स०—जक्षितिः आदिः येषां ते (बहु०)। वृ०—जक्षधातुः तदादयश्चान्ये षड्धातवः अभ्यस्तसंज्ञकाः भवन्ति। उदा०—जक्षति इत्यादयः।

८. लिटि धातोरनभ्यासस्य ११

पद०—लिटि ७। धातोः ६। अनभ्यासस्य ६। स०—न अभ्यासः अनभ्यासः तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—लिटि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्य प्रथमस्य एकाचः अजादेः द्वितीयस्य च द्वे भवतः। उदा०—पपाच। पपाठ। प्रोर्णुनाव।

९. सन्-यङोः

पद०—सन्यङोः ६। स०—सन् च यङ् च सन्यङौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सन्नन्तस्य यङन्तस्य च अनभ्यासस्य धात्ववयवस्य प्रथमस्य एकाचः अजादेः द्वितीयस्य च द्वे भवतः। उदा०—पिपक्षति। पिपतिषति। पापच्यते। यायज्यते।

१०. श्लौ

पद०—श्लौ ७। वृ०—श्लौ परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्य प्रथमस्य एकाचः अजादेर्द्वितीयस्य च द्वे भवतः। उदा०—जुहोति। बिभेति। जिह्रेति।

११. चङि

पद०—चङि ७। वृ०—चङि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्य प्रथमस्य एकाचः अजादेर्द्वितीयस्य च द्वे भवतः। उदा०—अपीपचत्। आटिटत्।

(समाप्तं द्वित्वम्)

---

६. अत्र तद्गुणसंविज्ञानेन बहुव्रीहिणा जक्षित्या सह अन्ये षट् धातवः ग्राह्याः। जक्षितिं गृहीत्वा सप्तधातवः इति निष्कर्षः।

१३. ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्र-पत्योस्तत्पुरुषे　१४, ३१

पद०—ष्यङः ६। सम्प्रसारणम् १। पुत्रपत्योः ७। तत्पुरुषे ७। स०—पुत्रश्च पतिश्च पुत्रपती तयोः (इ० द्व०)। वृ०—तत्पुरुषसमासे पुत्रपत्योः उत्तरपदयोः ष्यङः स्थाने सम्प्रसारणं भवति। उदा०—कारीषगन्धीपुत्रः। कारीषगन्धीपतिः।

१५. वचि-स्वपि-यजादीनां किति　　१७, १६

पद०—वचिस्वपियजादीनाम् ६। किति ७। स०—वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च वचिस्वपियजादयः, तेषाम् (इ० द्व०)। क् इत् यस्य सः कित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—वचिस्वपियजादीनां धातूनां किति प्रत्यये परे सम्प्रसारणं भवति। उदा०—उक्तः। उक्तवान्। सुप्तः। सुप्तवान्। इष्टः। इष्टवान् इत्यादि।

१६. ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च　　१७

पद०—ग्रहि···भृज्जतीनाम् ६। ङिति ७। च अ०। स०—ग्रहिश्च ज्या च वयिश्च व्यधिश्च वष्टिश्च विचतिश्च वृश्चतिश्च पृच्छतिश्च भृज्जतिश्च इति ते, तेषाम् (इ० द्व०)। ङ् इत् यस्य सः ङित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां धातूनां किति ङिति च परे सम्प्रसारणं भवति। उदा०—गृहीतः। गृहीतवान्। गृह्णाति। जरीगृह्यते।

१७. लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्

पद०—लिटि ७। अभ्यासस्य ६। उभयेषाम् ६। वृ०—लिटि परे उभयेषां (वच्यादीनां ग्रहादीनां च) धातूनां अभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति। उदा०—उवाच। उवचिथ इत्यादि। जग्राह। जग्रहिथ इत्यादि।

३०. विभाषा श्वेः　　३१

पद०—विभाषा १। श्वेः ६। वृ०—लिटि यङि च परे श्विधातोः सम्प्रसारणं भवति। उदा०—शुशाव। शिश्वाय। शोशूयते। शेश्वीयते। (अत्र 'लिड्यङोश्च ६।१।२९' इति सूत्रमनुवर्तते)।

३१. णौ च संश्चङोः ३२

पद०—णौ ७। च अ०। संश्चङोः ७। स०—सन् च चङ् च संश्चङौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सनि चङि च परे णौ परतः श्विधातोः विभाषा सम्प्रसारणं भवति। उदा०—शुशावयिषति। शिश्वाययिषति। अशूशवत्। अशिश्वयत्।

३२. ह्वः सम्प्रसारणम् ३४, ४४

पद०—ह्वः ६। सम्प्रसारणम् १। वृ०—सन्परे चङ्परे च णौ ह्वेञ् धातोः सम्प्रसारणम् भवति। उदा०—जुहावयिषति। अजूहवत्।

३३. अभ्यस्तस्य च

पद०—अभ्यस्तस्य ६। च अ०। वृ०—अभ्यस्तनिमित्तस्य ह्वयतेः सम्प्रसारणं भवति। उदा०—जुहाव। जोहूयते। जुहूषति।

३७. न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ४४

पद०—सम्प्रसारणे ७। सम्प्रसारणम् १। वृ०—सम्प्रसारणे परे सम्प्रसारणं न भवति। उदा०—विद्धः। विचितः। संवीतः।

४५. आदेच उपदेशेऽशिति ५७, ६५

पद०—आत् १। एचः ६। उपदेशे ७। अशिति ७। स०—श् चासौ इत् सः शित्, न शित् अशित् तस्मिन् (कर्मधारयगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—उपदेशे एजन्तस्य धातोः आकारादेशो भवति, इद्रूपे शकारे परे नहि। उदा०—ग्लाता। ग्लातुम्। ग्लातव्यम्। निशाता। निशातुम्। निशातव्यम्।

४७. क्रीङ्-जीनां णौ ४९

पद०—क्रीङ्जीनाम् ६। णौ ७। स०—क्री च इङ् च जिश्च क्रीङ्जयः तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—क्रीङ्जीनां धातूनां णौ परे एचः स्थाने आकारादेशो भवति। उदा०—क्रापयति। अध्यापयति। जापयति।

---

३१. 'अशूशवत्' इह कृते सम्प्रसारणे द्वित्वे वृद्ध्यावादेशौ 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७।४।१'। 'दीर्घो लघोः ७।४।९४' इत्यभ्यासदीर्घः।

४५. अत्र बहुव्रीहिसमासो नास्ति। प्रसज्यप्रतिषेधकर्मधारयसमासो विद्यते।

५३. विभाषा लीयतेः ५६

पद०—विभाषा १। लीयतेः ६। वृ०—('लीङ् श्लेषणे' इति दैवादिकस्य) लीयतेः धातोः ल्यपि च एचश्च विषये उपदेशे एव विभाषा आकारादेशः भवति। उदा०—विलाता। विलातुम्। विलातव्यम्। विलाय्। विलेता। विलेतुम्। विलेतव्यम्। विलीय।

५४. चि-स्फुरोर्णौ ५७

पद०—चिस्फुरोः ६। णौ ७। स०—चिश्च स्फुर् च चिस्फुरौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—चिस्फुरोः धात्वोः णौ परे एचः स्थाने विभाषा आकारादेशः भवति। उदा०—चापयति। चाययति। स्फारयति। स्फोरयति।

५६. बिभेतेर्हेतुभये ५७

पद०—विभेतेः ६। हेतुभये ७। स०—हेतोः भयं हेतुभयं तस्मिन् (तत्०)। वृ०—हेतुभये अर्थे बिभेतेः ('ञिभी भये' इत्यस्य) धातोः णौ परे एचः स्थाने विभाषा आकारादेशः भवति। उदा०—मुण्डो भापयते। मुण्डो भीषयते।

५७. नित्यं स्मयतेः

पद०—नित्यम् १। स्मयतेः ६। वृ०—हेतुभये अर्थे स्मयतेः ('ष्मिञ्' इत्यस्य) धातोः णौ परे एचः स्थाने नित्यम् आकारादेशः भवति। उदा०-मुण्डो विस्मापयते।

(उक्तमात्वम्)

५८. सृजि-दृशोर्झल्यमकिति ५९

पद०—सृजिदृशोः ६। झलि ७। अम् १। अकिति ७। स०—सृजिश्च दृश् च सृजिदृशौ, तयोः (इ० द्व०)। क् इत् यस्य सः कित्, न कित् अकित्, तस्मिन् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—सृजिदृशोः धात्वोः झलादौ अकिति प्रत्यये परे अम् आगमः भवति। उदा०—स्रष्टुम्। स्रष्टव्यम्। द्रष्टुम्। द्रष्टव्यम्।

५९. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्

पद०—अनुदात्तस्य ६। च अ०। ऋदुपधस्य ६। अन्यतरस्याम् ७। स०—ऋकारः उपधा यस्य सः ऋदुपधः तस्य (बहु०)। वृ०—अनुदात्तस्य ऋदुपधस्य धातोश्च झलादौ अकिति प्रत्यये परे अन्यतरस्याम् अम् आगमः भवति। उदा०—त्रप्ता। तर्पिता। तर्प्ता।

५३. 'ल्यपि' इति पदं 'मीनाति० ६।१।५०' इति सूत्रादनुवर्त्तते।

६४. धात्वादेः षः सः ६५

पद०—धात्वादेः ६। षः ६। सः १। स० —धातोः आदिः धात्वादिः, तस्य (तत्०)। वृ०—उपदेशे धात्वादेः षकारस्य स्थाने सकारादेशः भवति। उदा०—षह–सहते। षिच्–सिञ्चति।

६५. णो नः

पद०—णः ६। नः १। वृ०—उपदेशे धात्वादेः णकारस्य स्थाने नकारादेशः भवति। उदा०—णीञ्–नयति। णम–नमति।

(अथ लोपप्रकरणम्)

६६. लोपो व्योर्वलि ७०

पद०—लोपः १। व्योः ६। वलि ७। स०—व् च य् च व्यौ तयोः (इ० द्वन्द्वः)। वृ०—वकारयकारयोः लोपः भवति वलि परे। उदा०—दिवु–दिदिवान्। दिदिवांसौ। दिदिवांसः। ऊयी–ऊतम्। पचेरन्।

६७. वेरपृक्तस्य

पद०—वेः ६। अपृक्तस्य ६। वृ०—अपृक्तस्य वेः लोपः भवति। उदा०—ब्रह्महा। घृतस्पृक्। अर्द्धभाक्।

६८. हल्-ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सु-ति-स्यपृक्तं हल् ६९

पद०—हल्ङ्याब्भ्यः ५। दीर्घात् ५। सुतिसि १। अपृक्तम् १। हल् १। स०—हल् च ङी च आप् च हल्ङ्यापः, तेभ्यः (इ० द्व०)। सुश्च तिश्च सिश्च इति तेषां समाहारः तत् (स० द्व०)। वृ०—हलन्तात् ङ्यन्तात् आबन्तात् च दीर्घात् परं सु, ति, सि इति एतदपृक्तं हल् लुप्यते। उदा०—राजा। कुमारी। खट्वा। अबिभर्भवान्। अभिनोऽत्र।

६९. एङ्-ह्रस्वात् सम्बुद्धेः

पद०—एङ्ह्रस्वात् ५। सम्बुद्धेः ६। स०—एङ् च ह्रस्वश्च इति तयोः समाहारः एङ्ह्रस्वम्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—एङन्तात् ह्रस्वान्तात् च सम्बुद्धेः हलः लोपः भवति। उदा०—हे अग्ने। हे वायो। हे नाथ। हे वृक्ष।

७१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ७३, ७६

पद०—ह्रस्वस्य ६। पिति ७। कृति ७। तुक् १। वृ०—ह्रस्वान्तस्य धातोः पिति कृति परतः तुक् आगमः भवति। उदा०—अग्निचित्। सोमसुत्। प्रकृत्य। प्रहृत्य। उपस्तुत्य।

(अथ सन्धिप्रकरणम्)

७२. संहितायाम्		१५७

पद०—संहितायाम् ७। वृ०—अधिकारोऽयम्। 'पारस्कर० ६।१।१५७' इति सूत्रं यावत् इतः उत्तरं यद्वक्ष्यामः संहितायाम् इत्येवं तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

७३. छे च		७६

पद०—छे ७। च अ०। वृ०—संहितायां विषये छे च परे ह्रस्वस्य तुक् आगमः भवति। उदा०—इच्छति। गच्छति।

(उक्तस्तुक्सन्धिः)

७७. इको यणचि		१२६

पद०—इकः ६। यण् १। अचि ७। वृ०—इकः स्थाने यण् आदेशः भवति, अचि परे संहितायां विषये। उदा०—दध्यत्र। मध्वत्र। कर्त्रर्थम्। लाकृतिः।

७८. एचोऽयवायावः		८३

पद०—एचः ६। अयवायावः १। स०—अय् च अव् च आय् च आव् च ते (इ० द्व०)। वृ०—संहितायां विषये अचि परे एचः स्थाने क्रमेण अयवायावः आदेशाः भवन्ति। उदा०—चयनम्। लवनम्। चायकः। लावकः।

७९. वान्तो यि प्रत्यये		८०, ८३

पद०—वान्तः १। यि ७। प्रत्यये ७। स०—वकारः अन्ते यस्य सः वान्तः (बहु०)। वृ०—संहितायां विषये यकारादौ प्रत्यये परे एचः स्थाने वान्तः आदेशः भवति। उदा०—बाभ्रव्यः। शङ्कव्यः (दारु)।

(अथ एकादेशप्रकरणम्)

८४. एकः पूर्वपरयोः		१११

पद०—एकः १। पूर्वपरयोः ६। स०—पूर्वश्च परश्च पूर्वपरौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अधिकारोऽयम् 'ऋत उत् ६।१।१११' इति सूत्रं यावत्, इतः उत्तरं यद्वक्ष्यामः, तत्र पूर्वस्य परस्य द्वयोरपि स्थाने एकादेशः भवति इति ज्ञेयम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

---

७७. 'संहितायाम्' इत्यधिकारात् सर्वत्र सूत्रेषु 'संहितायां विषये' इति संयोज्यम्।

८५. अन्तादिवच्च

पद०—अन्तादिवत् अ० । च अ० । स०—अन्तश्च आदिश्च अन्तादी, (इ० द्व०) ताभ्यां तुल्यम् अन्तादिवत् । वृ०—पूर्वपरयोः एकादेशः पूर्वस्य अन्तवद् भवति, परस्य आदिवद् भवति । उदा०—ब्रह्मबन्धूः । वृक्षौ ।

८६. षत्वतुकोरसिद्धः

पद०—षत्वतुकोः ७ । असिद्धः १ । स०—षत्वश्च तुक् च षत्वतुकौ तयोः (इ० द्व०) । वृ०—पूर्वपरयोः एकादेशः षत्वे तुकि च कर्त्तव्ये असिद्धः भवति । उदा०—कोऽस्य । अधीत्य ।

८७. आद्गुणः ९१

पद०—आत् ५ । गुणः १ । वृ०—अवर्णान्तात् अचि परे पूर्वपरयोः गुणः एकादेशः भवति । उदा०—तवेदम् । तवोदकम् । तवर्श्यः । तवल्कारः ।

८८. वृद्धिरेचि ९२, ८९

पद०—वृद्धिः १ । एचि ७ । वृ०—अवर्णान्तात् एचि परे पूर्वपरयोः वृद्धिः एकादेशः भवति । उदा०—ब्रह्मैडका । ब्रह्मैतिकायनः । ब्रह्मौदनः । ब्रह्मौपगवः ।

८९. एत्येधत्यूठ्सु

पद०—एत्येधत्यूठ्सु ७ । स०—एतिश्च एधतिश्च ऊठ् च एत्येधत्यूठः तेषु (इ० द्व०) । वृ०—अवर्णान्तात् एजाद्योः एत्येधत्योः ऊठि च परतः वृद्धिः एकादेशः भवति । उदा०—उपैषि । उपैधते । प्रष्ठौहः ।

९०. आटश्च

पद०—आटः ५ । च अ० । वृ०—आटः अचि परे वृद्धिः एकादेशः भवति । उदा०—ऐक्षिष्ट ।

९१. उपसर्गादृति धातौ ९४, ९२, ९४

पद०—उपसर्गात् ५ । ऋति ७ । धातौ ७ । वृ०—अवर्णान्तात् उपसर्गात् ऋकारादौ धातौ परे पूर्वपरयोः वृद्धिः एकादेशः भवति । उदा०—उपार्च्छति ।

९३. औतोऽम्-शसोः

पद०—आ इति लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । ओतः ५ । अम्शसोः ७ । स०-अम् च शस् च अम्शसौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—ओतः अमि शसि च परतः पूर्वपरयोः आकारः एकादेशः भवति । उदा०—गां पश्य । गाः पश्य ।

---

८७. अत्र शब्दस्वरूपमिति विशेष्यम् । अतः विशेषणे 'येन विधि०' इति सूत्रेण अन्तपदसन्निवेशः ।

९४. एङि पररूपम्   १००

पद०—एङि ७। पररूपम् १। स०—परस्य रूपम् पररूपम् (तत्०)। वृ०—अवर्णान्तात् उपसर्गात् एङादौ धातौ परे पूर्वपरयोः पररूपम् एकादेशः भवति। उदा०—उपेलयति। उपोषति।

९६. उस्यपदान्तात्   ९७

पद०—उसि ७। अपदान्तात् ५। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तः, तस्मात् (नञ्तत्०)। वृ०—अवर्णान्तात् अपदान्तात् उसि परे पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशः भवति। उदा०—भिन्द्या उस्, भिन्द्युः।

९७. अतो गुणे

पद०—अतः ५। गुणे ७। वृ०—अकारात् अपदान्तात् गुणे परे पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशः भवति। उदा०—पचन्ति।

१०१. अकः सवर्णे दीर्घः   १०७, १०६

पद०—अकः ५। सवर्णे ७। दीर्घः १। वृ०—अकः सवर्णे अचि परे पूर्वपरयोः दीर्घः एकादेशः भवति। उदा०—दण्डाग्रम्। दधीन्द्रः। मधूदके। होतॄश्यः।

१०२. प्रथमयोः पूर्वसवर्णः   १०६

पद०—प्रथमयोः ७। पूर्वसवर्णः १। स०—पूर्वस्य सवर्णः पूर्वसवर्णः (तत्०)। वृ०—अकः प्रथमयोः (प्रथमा-द्वितीययोः) अचि परे पूर्वसवर्णः दीर्घः एकादेशः भवति। उदा०—अग्नी। वायू। वृक्षाः। वृक्षान्।

१०३. तस्माच्छसो नः पुंसि

पद०—तस्मात् ५। शसः ६। नः १। पुंसि ७। वृ०—तस्मात् (पूर्वसवर्णदीर्घात्) शसः नकारादेशः भवति, पुंसि। उदा०—वृक्षान्।

१०४. नादिचि   १०५, १०६

पद०—न अ०। आत् ५। इचि ७। वृ०—अवर्णान्तात् इचि परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णः दीर्घः एकादेशः न भवति। उदा०—वृक्षौ।

१०५. दीर्घाज्जसि च   १०६

पद०—दीर्घात् ५। जसि ७। च अ०। वृ०—दीर्घात् इचि जसि च परतः पूर्वसवर्णः दीर्घः एकादेशः न भवति। उदा०—कुमार्यौ। कुमार्यः।

१०७. अमि पूर्वः ११०

पद०—अमि ७। पूर्वः १। वृ०—अकः अमि परे पूर्वपरयोः पूर्वरूपमेकादेशः भवति। उदा०—वृक्षम्।

१०८. सम्प्रसारणाच्च

पद०—सम्प्रसारणात् ५। च अ०। वृ०—सम्प्रसारणात् अचि परे पूर्वपरयोः पूर्वरूपमेकादेशः भवति। उदा०—इष्टम्। उप्तम्। गृहीतम्।

१०९. एङः पदान्तादति ११०, ११२

पद०—एङः ५। पदान्तात् ५। अति ७। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्मात् (तत्०)। वृ०—पदान्तात् एङः अति परे पूर्वपरयोः पूर्वरूपमेकादेशः भवति। उदा०—अग्नेऽत्र। वायोऽत्र।

११०. ङसि-ङसोश्च ११२

पद०—ङसिङसोः ६। च अ०। स०—ङसिश्च ङस् च ङसिङसौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—एङः ङसिङसोः अति परे पूर्वपरयोः पूर्वरूपमेकादेशः भवति। उदा०—अग्नेरागच्छति। वायोरागच्छति।

१११. ऋत उत् ११४

पद०—ऋतः ५। उत् १। वृ०—ऋकारान्तात् ङसिङसोः अति परे पूर्वपरयोः उकारादेशः भवति। उदा०—होतुरागच्छति।

(उक्त एकादेशः)

११२. ख्य-त्यात् परस्य

पद०—ख्यत्यात् ५। परस्य ६। स०—ख्यश्च त्यश्च इति तयोः समाहारः ख्यत्यम्, तस्मात्, (स० द्व०)। वृ०—ख्यत्यात् परस्य ङसिङसोः अतः उकारादेशः भवति। उदा०—सख्युरागच्छति। पत्युः स्वम्।

११३. अतो रोरप्लुतादप्लुते ११४

पद०—अतः ५। रोः ६। अप्लुतात् ५। अप्लुते ७। स०—न प्लुतः अप्लुतः, तस्मात् (नञ्तत्०)। न प्लुतः अप्लुतः तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अप्लुतात् अकारात् परस्य रोः उकारादेशः भवति, अप्लुते अकारे परे। उदा०—वृक्षोऽत्र।

---

१०७. वृक्षम् गुणदीर्घपररूपपूर्वसवर्णदीर्घपूर्वरूपम् इति बाध्यबाधकक्रीडा। एवं हि वृक्षौ वृक्षान् इत्यादिसिद्धौ क्रीडन्तु च्छात्राः शतरङ्गम् इति पाणिनेरभिप्रायः। यथा—वृक्ष + औ गुणः, वृद्धिः, पूर्वसवर्णदीर्घः नादिचि। ततो वृद्धिः वृक्ष + अः गुणः दीर्घः पररूपम् (पूर्वं पठिता अपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् इति पूर्वसवर्णदीर्घः वृक्षाः। इत्थं क्रीडाक्रमः।

११४. हशि च

पद०—हशि ७। च० अ०। वृ०—अप्लुतात् अकारात् परस्य रोः उकारादेशः भवति हशि च परे। उदा०—पुरुषो याति।

(अथ प्रकृतिभावप्रकरणम्)

११५. प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे १३०, ११६

केवलम् अनुवृत्यर्थमिदं सूत्रम् इति न व्याख्यायते।

१२४. इन्द्रे च नित्यम् १२५

अनुवृत्यर्थमिदं सूत्रम्।

१२५. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् १३०

पद०—प्लुतप्रगृह्याः १। अचि ७। स०—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च, ते (इ० द्व०)। वृ०—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च अचि परे नित्यं प्रकृत्या भवन्ति। उदा०—देवदत्ता ३ अत्र न्वसि। अग्नी इति। वायू इति। खट्वे इति।

(उक्तः प्रकृतिभावः)

१३१. दिव उत्

पद०—दिवः ६। उत् १। वृ०—दिवः पदस्य उकारादेशो भवति। उदा०—दिवि कामो यस्य स द्युकामः। द्युमान्। विमलद्युः दिनम्। द्युभ्याम्। द्युभिः।

१३२. एतत्-तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि १३४, १३३

पद० –एतत्तदोः ६। सुलोपः १। अकोः ६। अनञ्समासे ७। हलि ७। स०—एतच्च तच्च एतत्तदौ, तयोः (इ० द्व०)। सोर्लोपः सुलोपः (तत्०)। न विद्यते 'क्' ययोः तौ अकौ तयोः (बहु०)। नञः समासः नञ्समासः, न नञ्समासोऽनञ्समासः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अनञ्समासे अकोः (ककाररहितयोः) एतत्तदोः सुलोपो भवति हलि परे संहितायां विषये। उदा०—एष ददाति। स ददाति।

१३४. सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्

पद०—सः षष्ठ्यर्थे प्रथमा। अचि ७। लोपे ७। चेत् अ०। पादपूरणम् १। स०—पादस्य पूरणम् तत् (तत्०)। वृ०—स इत्येतस्याचि परे सुलोपो भवति संहितायां, लोपे सति चेत् पादः पूर्यते। उदा०—सेन्दू राजा क्षयति चर्षणीनाम्। सौषधीरनुरुध्यसे। सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः। सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥

(अथ सुट्प्रकरणम्)

१३५. सुट् कात् पूर्वः १५७

पद०—सुट् १। कात् ५। पूर्वः १। वृ०—अधिकारोऽयं 'पारस्कर-प्रभृतीनि० ६। १। १५७' इति सूत्रं यावत्। इत उत्तरं यद् वक्ष्यामः, तत्र सुडागमः ककारात् पूर्वः इति अधिकारो वेदितव्यः। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१३७. सं-पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे १३८, १३९

पद०—संपर्युपेभ्यः ५। करोतौ ७। भूषणे ७। सञ्च परिश्च उपश्च इति ते, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—संपर्युपेभ्यो भूषणार्थे करोतौ परे कात् पूर्वः सुडागमो भवति। उदा०—संस्कर्त्ता। परिष्कर्त्ता। उपस्कर्त्ता।

१३८. समवाये च

पद०—समवाये ७। च अ०। वृ०—संपर्युपेभ्यः करोतौ परे कात् सुट् भवति समवायेऽर्थे। उदा०—तत्र नः संस्कृतम्। तत्र नः परिष्कृतम्। तत्र न उपस्कृतम्।

१५७. पारस्कर-प्रभृतीनि च संज्ञायाम्

पद०—पारस्करप्रभृतीनि १। च अ०। संज्ञायाम् ७। स०—पारस्करः प्रभृतिर्येषां तानि (बहु०)। वृ०—पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते संज्ञायां विषये। उदा०—पारस्करो देशः। कारस्करो वृक्षः। रथस्था नदी इत्यादि।

१५८. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्

पद०—अनुदात्तम् १। पदम् १। एकवर्जम् १। स०—एकं वर्जयित्वा तत् एकवर्जम् (उपपदतत्०)। वृ०—परिभाषासूत्रमिदं स्वरविधिविषयकम्। यस्मिन्पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं स्यात्। उदा०—गोपायति। धूपायति।

(एकाचो०[१] चायः की[२] ल्यपि च[३] ये च[४] क्षय्य०[५] अकः[६] अवपथासि च[७] हिंसायाम्[८] अनुदात्तस्य[९] विभाषा भाषायाम्[१०] क्षयो[११] ईवत्याः त्रीणि च इति प्रथमः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये षष्ठाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ७४ ॥

अथ द्वितीयः पादः

(अथ वैदिकस्वरप्रकरणम्)

१. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ११०

पद०—बहुव्रीहौ ७। प्रकृत्या ३। पूर्वपदम् १। वृ०—बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदं स्वरं प्रकृत्या भवति (पूर्वपदस्य यः स्वरः स विकारं अनुदात्तत्वं न आपद्यते इत्यर्थः)। उदा०—कार्ष्णोत्तरासङ्गाः। कृष्णः मृगः, तस्य विकारः कार्ष्णः। ञित्स्वरेण आद्युदात्तः। ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः। ब्रह्मचारिन्शब्दः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तः। अध्यापकपुत्रः। लित्स्वरेण अध्यापकशब्दः मध्योदात्तः। मनुष्यनाथः। मनुष्यशब्दः तित्स्वरेण स्वरितान्तः।

२. तत्पुरुषे तुल्यार्थ-तृतीया-सप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीया-कृत्याः २४

पद०—तत्पुरुषे ७। तुल्यार्थ... कृत्याः १। स०—तुल्यार्थश्च तृतीया च सप्तमी च उपमानं च अव्ययं च द्वितीया च कृत्यश्च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थं तृतीयान्तं सतम्यन्तं उपमानवाचि अव्ययं द्वितीयान्तं कृत्यान्तं च यत्पूर्वपदं तत्स्वरं प्रकृत्या भवति। उदा०—तुल्यार्थ—तुल्यश्वेतः। तुल्यशब्दः आद्युदात्तः। सदृक्च्छ्वेतः। सदृक् शब्दः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तः। सदृशश्वेतः। सदृशशब्दः मध्योदात्तः॥ तृतीया—शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। शङ्कुलाशब्दः अन्तोदात्तः॥ सप्तमी—अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः। अक्षशब्दः अन्तोदात्तः। पानशौण्डः। पानशब्दः लित्स्वरेण आद्युदात्तः॥ उपमान—शस्त्रीश्यामा। शस्त्रीशब्दः अन्तोदात्तः। कुमुदश्येनी। कुमुदशब्दः वा आद्युदात्तः, पक्षे अन्तोदात्तः। न्यग्रोधपरिमण्डला। न्यग्रोधशब्दः मध्योदात्तः॥ अव्यय—अब्राह्मणः। कुब्राह्मणः। निर्वाराणसिः। अतिखट्वः। एतान्यव्ययानि आद्युदात्तानि॥ द्वितीया—मुहूर्त्तसुखम्। मुहूर्त्तशब्दः अन्तोदात्तः॥ कृत्य—भोज्योष्णम्। भोज्यशब्दः अन्तःस्वरितः। पानीयशीतम्। पानीयशब्दस्य ईकार उदात्तः।

२५. अ-ज्यावम-कन्-पापवत्सु भावे कर्मधारये २८

पद०—अज्यावमकन्पापवत्सु ७। भावे ७। कर्मधारये ७। स०—अश्च ज्यश्च अवमश्च कन् च पापवान् च इति ते, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—कर्मधारये

समासे श्र, ज्य, अवम, कन् इति एतेषु पापशब्दवति च उत्तरपदे भाववाचि पूर्वपदं प्रकृत्या स्वरं भवति। उदा०—श्र—गमनश्रेष्ठम्। ज्या--वचनज्येष्ठम्। अवम—गमनावमम्। कन्—गमनकनिष्ठम्। पापवत्—गमनपापिष्ठम्।

६४. आदिरुदात्तः ९१

पद०—आदिः १। उदात्तः १। वृ०—अधिकारोऽयम्, 'आदिरुदात्तः' इति आरभ्य 'न भूता० ६।२।९१' इति सूत्रं यावत् पूर्वपदम् आदिरुदात्तं भवति, इत्येवं ज्ञेयम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

६५. सप्तमी-हारिणौ धर्म्येऽहरणे

पद०—सप्तमीहारिणौ १। धर्म्ये ७। अहरणे ७। स०—सप्तमी च हारी च इति तौ (इ० द्व०)। न हरणम् अहरणं तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—सप्तम्यन्तं हारिवाचि च पूर्वपदं धर्म्यवाचिनि हरणशब्दादन्यस्मिन् उत्तरपदे आद्युदात्तं भवति। उदा०—सप्तमी-स्तूपेशाणः। हारी-मातुलाश्वः। हारी = देयं यः स्वीकरोति सः। धर्म्यम् = आचारनियतं देयम्।

७९. णिनि ८०

पद०—णिनि ७। वृ०—णिन्नन्ते उत्तरपदे पूर्वपदम् आद्युदात्तं भवति। उदा०—पुष्पहारी। फलहारी। पर्णहारी।

९२. अन्तः ११०

पद०—अन्तः १। वृ०—अधिकारोऽयम्, 'अन्तः' इति आरभ्य 'निष्ठोप० ६।२।११०' इति सूत्रं यावत् पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१०६. बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् १२०, १०८

पप०—बहुव्रीहौ ७। विश्वम् १। संज्ञायाम् ७। वृ०—बहुव्रीहौ समासे विश्वशब्दः पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति, संज्ञाया विषये। उदा०—विश्वदेवः। विश्वयशा।

१११. उत्तरपदादिः १९९, १३६

पद०—उत्तरपदषष्ठ्यर्थे प्रथमानिर्देशः। आदिः १। वृ०—अधिकारोऽयम्, उत्तरपदस्यादिः उदात्तः भवति इति ज्ञेयम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१४३. अन्तः १९९

पद०—अन्तः १। वृ०—अधिकारोऽयम्, 'अन्तः' इति आरभ्य 'परादि० ६।२।१९९' इति सूत्रं यावत् उत्तरपदस्यान्तः उदात्तः भवति इति ज्ञेयम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१९९. परादिश्छन्दसि बहुलम्

पद०—परादि १। छन्दसि ७। बहुलम् १। स०—परस्य आदिः परादिः (तत्०)। वृ०—परशब्दस्य (सक्थस्य) आदिः उदात्तः बहुलं भवति। उदा०—अञ्जिसक्थमालभेत। त्वाष्ट्रौ लोमसक्थौ। ऋजुबाहुः। वाक्पतिः। चित्पतिः।

(बहुव्रीहौ०[१] आशङ्का०[२] गौः०[३] क्ते०[४] युक्ता०[५] न हास्तिन०[६] कूल०[७] देवता०[८] विभाषा तृन्न०[९] न नि० एकोनविंशति च इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये षष्ठाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ११ ॥

---

१९९. परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यते। तस्य पूर्वसूत्रे 'सक्थं चाक्रान्तात् ६।२।१९८' इत्येतस्मिन् सन्निहितत्वात्।

.अथ तृतीयः पादः

(अथालुक्)

१. अलुगुत्तरपदे २४, १३९

पद०—अलुक् १। उत्तरपदे ७। स०—न लुक् अलुक् (नञ्तत्०)। अधिकारार्थमिदं सूत्रम्।

२. पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः

पद०—पञ्चम्याः ६। स्तोकादिभ्यः ५। स०—स्तोकः आदिः येषां ते, तेभ्यः (बहु०)। वृ०—स्तोकादिभ्यः परस्य पञ्चम्या उत्तरपदेऽलुग्भवति। उदा० -स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्त इत्यादि।

६. आत्मनश्च पूरणे ७

अनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रमतो न व्याख्यायते।

७. वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ८

पद०—वैयाकरणाख्यायाम् ७। चतुर्थ्याः ६। स०—वैयाकरणानामाख्या सा, तस्याम् (तत्०)। वृ०—वैयाकरणाख्यायाम् (वैयाकरण-संज्ञायाम्) आत्मन उत्तरस्याश्चतुर्थ्याः अलुग्भवति। उदा०—आत्मनेपदम्। आत्मनेभाषा।

८. परस्य च

पद०—परस्य ६ च० अ०। वृ०—वैयाकरणाख्यायां परस्य च उत्तरस्याः चतुर्थ्याः उत्तरपदेऽलुग्भवति। उदा०—परस्मैपदम्। परस्मैभाषा।

९. हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् १९

पद०—हलदन्तात् ५। सप्तम्याः ६। संज्ञायाम् ७। स०—हल् च अत् च हलत्, हलत् अन्ते यस्य स हलदन्तः, तस्मात् (समाहारद्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—हलन्तादन्ताच्चोत्तरस्याः सप्तम्याः संज्ञायामलुग्भवति। उदा०—युधिष्ठिरः। त्वचिसारः। वनेकिंशुकाः।

१४. तत्पुरुषे कृति बहुलम्

पद०—तत्पुरुषे ७। कृति ७। बहुलम् १। वृ०—तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उत्तरपदे सप्तम्याः बहुलमलुग्भवति। उदा०—स्तम्बेरमः। कर्णेजपः।

२१. षष्ठ्या आक्रोशे　　　　　२४, २२

पद०—षष्ठ्याः ६। आक्रोशे ७। वृ०—आक्रोशगतौ उत्तरपदे षष्ठ्याः अलुग्भवति। उदा०—चौरस्य कुलम्।

२३. ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः　　　　　२५

पद०—ऋतः ५। विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ५। स०—विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, विद्यायोनिकृतः सम्बन्धः येषां ते, तेभ्यः (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—ऋदन्तेभ्यः विद्यासम्बन्धेभ्यः योनिसम्बन्धेभ्यश्चोत्तरस्याः षष्ठ्याः अलुग्भवति। उदा०—होतुरन्तेवासी होतुःपुत्रः। पितुरन्तेवासी पितुःपुत्रः।

(उक्ताऽलुक्)

२५. आनङ् ऋतो द्वन्द्वे　　　　　२६

पद०—आनङ् १। ऋतः ६। द्वन्द्वे ७। वृ०—ऋदन्तानां विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां द्वन्द्वे उत्तरपदे आनङ् आदेशो भवति। उदा०—होतापोतारौ। मातापितरौ।

३४. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु　　　　　४२, ४३, ४२

पद०—स्त्रियाः ६। पुंवत् अ०। भाषितपुंस्कादनूङ् लुप्तषष्ठीकम्। समानाधिकरणे ७। स्त्रियाम् ७। अपूरणीप्रियादिषु ७। स०—भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे सः भाषितपुंस्कः (तस्य प्रातिपदिकः शब्दोऽपि भाषितपुंस्कः) तस्मात् भाषितपुंस्कात्, न ऊङ् अनूङ्, भाषितपुंस्कादनूङ् यस्मिन् (स्त्रीशब्द) स भाषितपुंस्कादनूङ् (स्त्रीशब्दः) (नञ्गर्भो बहु०)। प्रिया आदिः येषां ते प्रियादयः, पूरणी च प्रियादयश्च ते पूरणीप्रियादयः, न पूरणीप्रियादयः अपूरणीप्रियादयः, तेषु (द्वन्द्वबहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्येव रूपं भवति, समानाधिकरणे उत्तरपदे स्त्रीलिङ्गे पूरणीप्रियादिवर्जिते। उदा०—दर्शनीयभार्यः। श्लक्ष्णचूडः। दीर्घजङ्घः।

३५. तसिलादिष्वा कृत्वसुचः

पद०—तसिलादिषु ७। आ अ०। कृत्वसुचः ५। स०—तसिल् आदिः येषां ते तसिलादयः, तेषु (बहु०)। वृ०—'पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७' इत्यतः प्रभृति संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् '५।४।१७' इति प्राक् एतस्मात् ये प्रत्ययाः तेषु भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद्भवति। उदा०—तस्याः (शालायाः) ततः। तस्यां तत्र। यस्या यतः। यस्यां यत्र।

४२. पुंवत् कर्मधारय-जातीय-देशीयेषु

पद०—पुंवत् अ०। कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ७। स०—कर्मधारयश्च जातीयश्च देशीयश्च इति ते कर्मधारयजातीयदेशीयाः, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—कर्मधारयसमासे जातीय, देशीय इति एतयोश्च प्रत्यययोः भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद्भवति। उदा०—पाचकवृन्दारिका। पाचकजातीया। पाचकदेशीया।

(उक्तः पुंवद्भावः)

४६. आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः ४७

पद०--आत् १। महतः ६। समानाधिकरणजातीययोः ७। स०—समानाधिकरणश्च जातीयश्च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परे महतः स्थाने आकारादेशो भवति। उदा०—महादेवः। महाजातीयः।

४७. द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ४९

पद०—द्व्यष्टनः ६। संख्यायाम् ७। अबहुव्रीह्यशीत्योः ७। स०—द्वौ च अष्ट च इति तयोः समाहारः द्व्यष्ट, तस्य (स० द्व०)। बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहुव्रीह्यशीती, न बहुव्रीह्यशीती अबहुव्रीह्यशीती, तयोः (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—द्वि अष्टन् इति एतयोः आकारादेशो भवति संख्यायामुत्तरपदे अबहुव्रीह्यशीत्योः। उदा०—द्वादशः। द्वाविंशतिः। द्वात्रिंशत्। अष्टादश। अष्टाविंशतिः। अष्टात्रिंशत्। अन्यत्र द्वित्राः, द्व्यशीतिः, अष्टनवाः, अष्टाशीतिः।

४८. त्रेस्त्रयः ४९

पद०--त्रेः ६। त्रयः १। वृ०—त्रि इति एतस्य शब्दस्य त्रयस् आदेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदे अबहुव्रीह्यशीत्योः। उदा०—त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्। अन्यत्र त्रिदशाः, त्र्यशीतिः।

५०. हृदयस्य हृल्लेख-यदण्-लासेषु ५१

पद०—हृदयस्य ६। हृत् १। लेखयदण्लासेषु ७। स०—लेखश्च यत् च अण् च लासश्च इति ते, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—हृदयस्य स्थाने हृदादेशो भवति, लेखयदण्लासेषु परेषु। उदा०—हृदयं लिखतीति, हृल्लेखः। हृदयस्य प्रियं हृद्यम्। हृदयस्येदं हार्दम्। हृदयस्य लासो हृल्लासः।

(अथ ह्रस्वः)

६१. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य　　　६६

पद०—इकः ६। ह्रस्वः १। अङ्यः ६। गालवस्य ६। स०—न ङी अङी तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—इगन्तस्याङ्यन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति गालवस्य मतेनान्यतरस्याम्। उदा० ग्रामणिपुत्रः। ग्रामणीपुत्रः।

६३. ङ्यापोः संज्ञा-छन्दसोर्बहुलम्　　　६४

पद०—ङ्यापोः ६। संज्ञाछन्दसोः ७। बहुलम् १। स०—ङी च आप् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। संज्ञा च छन्दश्च संज्ञाछन्दसी तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ङ्यन्तस्य आवन्तस्य च संज्ञाछन्दसोः बहुलं ह्रस्वो भवति। उदा०—रेवतिपुत्रः। कालिदासः। कुमारिदारा। शिलवहम्। अजक्षीरेण जुहोति।

६४. त्वे च

पद०—त्वे ७। च अ०। वृ०—त्वे प्रत्यये परे ङ्यापोः बहुलं ह्रस्वो भवति। उदा०—अजाया भावः अजत्वम्। अजात्वम्। रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्। रोहिणीत्वम्।

६६. खित्यनव्ययस्य　　　६९, ६७

पद० - खिति ७। अनव्ययस्य ६। स०—ख् इत् यस्य स खित्, तस्मिन् (बहु०)। न अव्ययम् अनव्ययं तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—खिदन्ते उत्तरपदे अनव्ययस्य ह्रस्वो भवति। उदा०—कालिमन्या। हरिणिमन्या।

(इति ह्रस्वः)

६७. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्　　　७७

पद०—अरुर्द्विषदजन्तस्य ६। मुम् १। स०—अच् अन्ते यस्य स अजन्तः, अरुश्च द्विषत् च अजन्तश्च इति तेषां समाहारः तत्, तस्य (बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वः)। वृ०—अरुस्, द्विषत् इति एतयोः अजन्तानां च खिदन्ते उत्तरपदे मुमागमो भवति। उदा०—अरुंतुदः। द्विषंतपः। कालिमन्या।

७३. नलोपो नञः　　　७७

पद०—नलोपः १। नञः ६। स०—नकारस्य लोपः नलोपः (तत्०)॥ वृ०—उत्तरपदे परे नञो नलोपो भवति। उदा०—अब्राह्मणः।

---

६१. 'अन्यतरस्याम्' इति पदं 'इकहलादौ० ६। ३। ५९' इति सूत्रादनुवर्तते।

७४. तस्मान्नुडचि

पद०—तस्मात् ५। नुट् १। अचि ७। वृ०—तस्मात् (लुप्तनकारात्) नञः नुडागमो भवति, अचि परे। उदा०—अनजः।

(अथ सभावप्रकरणम्)

७८. **सहस्य सः संज्ञायाम्** ८३, ८९

पद०—सहस्य ६। सः १। संज्ञायाम् ७। वृ०—सहशब्दस्य सः आदेशो भवति, संज्ञायां विषये। उदा०—साश्वत्थम्।

८१. अव्ययीभावे चाकाले

पद० - अव्ययीभावे ७। च अ०। अकाले ७। स०—न कालः अकालः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अव्ययीभावे च समासे अकालवाचिनि उत्तरपदे सहशब्दस्य सः आदेशो भवति। उदा०—सचक्रं धेहि। सधुरं व्रज।

८२. वोपसर्जनस्य

पद०—वा अ०। उपसर्जनस्य ६। वृ०—सर्वोपसर्जनस्य समासस्योत्तरपदे सहस्य सो वा भवति। उदा०—सपुत्रः। सहपुत्रः।

८४. **समानस्य छन्दस्यमूर्ध-प्रभृत्युदर्केषु** ८९

पद०—समानस्य ६। छन्दसि ७। अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ७। स०—मूर्धा च प्रभृतिश्च उदर्कश्च मूर्धप्रभृत्युदर्काः, न मूर्धप्रभृत्युदर्काः अमूर्धप्रभृत्युदर्काः, तेषु (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—छन्दसि विषये समानशब्दस्य स इत्ययमादेशः भवति, मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क इति एतानि उत्तरपदानि वर्जयित्वा। उदा०—अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनुसखा सयूथ्यः। यो नः सनुत्यः।

८९. **दृग्दृश-वतुषु** ९१

पद०—दृग्दृशवतुषु ७। स०—दृक् च दृशश्च वतुश्च इति ते दृग्दृशवतवः, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—दृग्दृशवतुषु परेषु समानस्य स आदेशः भवति। उदा०—सदृक्। सदृशः।

(उक्तः सभावः)

९०. इदंकिमोरीश्-की

पद०—इदंकिमोः ६। ईश्की लुप्तप्रथमान्तः। स०—इदम् च किम् च इदङ्किमौ, तयोः (इ० द्व०)। ईश् च की च ईश्की (इ० द्व०)। वृ०—इदम्, किम्, इत्येतयोः ईश्, की इत्येतौ यथासंख्यमादेशौ भवतः, दृग्दृशवतुषु परेषु। उदा०—ईदृक्। ईदृशः। इयान्। कीदृक्। कीदृशः। कियान्।

९१. आ सर्वनाम्नः ९२

पद०—आ १। सर्वनाम्नः ६। वृ०—सर्वनाम्नः आकारादेशो भवति, दृग्दृशवतुषु परेषु। उदा०—तादृक्। तादृशः। तावान्।

९२. विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये ९५

पद०—विष्वग्देवयोः ६। च अ०। टेः ६। अद्रि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। अञ्चतौ ७। वप्रत्यये ७। स०—विष्वक् च देवश्च विष्वग्देवौ तयोः (इ० द्व०)। वः प्रत्ययः यस्मात् स वप्रत्ययः, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—विष्वग्देवयोः सर्वनाम्नश्च टेः स्थाने 'अद्रि' इत्ययमादेशो भवति, अञ्चतौ वप्रत्यये उत्तरपदे। उदा०—विष्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ्। देवद्र्यङ्। तद्र्यङ्।

९३. समः समि

पद०—समः ६। समि लुप्तप्रथमान्तः। वृ०—समः स्थाने समि इत्ययमादेशः भवति अञ्चतौ वप्रत्ययान्ते उत्तरपदे। उदा०—सम्यङ्। सम्यञ्चौ। सम्यञ्चः।

९४. तिरसस्तिर्यलोपे

पद०—तिरसः ६। तिरि लुप्तप्रथमान्तः। अलोपे ७। स०—न लोपः अलोपः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—तिरसः स्थाने तिरि इत्ययमादेशः भवति, अञ्चतौ वप्रत्यये उत्तरपदे अलोपे। उदा०—तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः।

९५. सहस्य सध्रिः ९६

पद०—सहस्य ६। सध्रिः १। वृ०—सहस्य स्थाने सध्रिः आदेशो भवति, अञ्चतौ वप्रत्ययान्ते उत्तरपदे। उदा०—सध्र्यङ्। सध्र्यञ्चौ। सध्र्यञ्चः। सध्रीचः। सध्रीचा।

९७. द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ९८

पद०—द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः ५। अपः ६। ईत् १। स०—द्विश्च अन्तश्च उपसर्गश्च द्व्यन्तरुपसर्गाः, तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः परस्य अपः स्थाने ईकारादेशः भवति। उदा०—द्वीपः। अन्तरीपः। वीपम्। समीपम्।

९८. ऊदनोर्देशे

पद०—ऊत् १। अनोः ५। देशे ७। वृ०—अनोः उत्तरस्य अपः स्थाने ऊकारादेशः भवति, देशाभिधाने। उदा०—अनूपो देशः।

१०१. कोः कत् तत्पुरुषेऽचि १०८, १०३

पद०—कोः ६। कत् १। तत्पुरुषे ७। अचि ७। वृ० - तत्पुरुषे समासे अजादौ उत्तरपदे कोः स्थाने कदादेशः भवति। उदा०—कदजः। कदश्वः।

१०४. का पथ्यक्षयोः १०८

पद०—का लुप्तप्रथमान्तः। पथ्यक्षयोः ७। स० पन्थाश्च अक्षश्च पथ्यक्षौ तयोः पथ्यक्षयोः (इ० द्व०)। वृ०— पथ्यक्षयोः उत्तरपदयोः कोः स्थाने 'का' इत्ययमादेशः भवति। उदा०—कापथः। काक्षः।

१०६ विभाषा पुरुषे १०८

अनुवृत्यर्थमिदं सूत्रम्।

१०७. कवंचोष्णे १०८

पद०—कवम् १। च अ०। उष्णे ७। वृ०—उष्णशब्दे उत्तरपदे कोः स्थाने कवम् आदेशः भवति, का च विभाषा। उदा०—कवोष्णम्। कोष्णम्। कदुष्णम्।

१०९. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्

पद० पृषोदरादीनि १। यथोपदिष्टम् अ०। स०—पृषोदरः आदिः येषां तानि (बहु०)। यानि यानि उपदिष्टानि यथोपदिष्टम् (अव्ययीभावः)। वृ०—पृषोदरादीनि शब्दरूपाणि यथोपदिष्टानि शिष्टैः यथाप्रयुक्तानि साधूनि भवन्ति। उदा०—पृषदुदरमस्य पृषोदरम्। पृषद् उद्वानं यस्य पृषोद्वानम्।

(अथ दीर्घप्रकरणम्)

१११. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ११२ (६।४।१८)

पद०—ढ्रलोपे ७। पूर्वस्य ६। दीर्घः १। अणः ६। स०—ढकारश्च रेफश्च ढ्रौ, तयोः लोपः यस्मिन् सः ढ्रलोपः, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—ढ्रलोपे पूर्वस्य अणः दीर्घः भवति। उदा०—लीढम्। नीरक्तम्।

११२. सहि-वहोरोदवर्णस्य

पद०—सहिवहोः ६। ओत् १। अवर्णस्य ६। स०—सहिश्च वह् च सहिवहौ तयोः (इ० द्व०)। अश्चासौ वर्णः अवर्णः तस्य (कर्मधारयः)। वृ०—सहिवहोः अवर्णस्य ओकारादेशो भवति ढ्रलोपे। उदा०—सोढा। सोढुम्। सोढव्यम्। वोढा। वोढुम्। वोढव्यम्।

११५. संहितायाम्   १३५

पद०—संहितायाम् ७। वृ०—अधिकारोऽयम्। यदितः ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः संहितायाम् इत्येवं तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

११६. नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ

पद०—नहि…तनिषु ७। क्वौ ७। स०—नहिश्च वृतिश्च वृषिश्च व्यधिश्च रुचिश्च सहिश्च तनिश्च इति ते, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्विप्रत्ययान्तेषु उत्तरपदेषु पूर्वपदस्य अणः दीर्घः भवति संहितायां विषये। उदा०—उपानत्। नीवृत्। प्रावृट्। मर्मावित्। नीरुक्। ऋतीषट्। परीतत्।

११८. वले

पद०—वले ७। वृ०—वले परे पूर्वस्याणः दीर्घो भवति। उदा०—कृषीवलः।

११९. मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्   १२०

पद०—मतौ ७। बह्वचः ६। अनजिरादीनाम् ६। स०—बहवः अचः यस्मिन् सः बह्वच्, तस्य (बहु०)। अजिरः आदिः येषां ते अजिरादयः, न अजिरादयः अनजिरादयः, तेषाम् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—मतौ परे अजिरादिवर्जितस्य बह्वचः पूर्वस्य अणः दीर्घः भवति। उदा०—उदुम्बरावती। हनूमान्।

१२२. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्   १२४

पद०—उपसर्गस्य ६। घञि ७। अमनुष्ये ७। बहुलम् १। स०—न मनुष्यः अमनुष्यः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अमनुष्ये अभिधेये घञन्ते उत्तरपदे उपसर्गस्य अणः बहुलं दीर्घः भवति। उदा०—अपामार्गः। वीमार्गः।

१२८. विश्वस्य वसु-राटोः   १३०

पद०—विश्वस्य ६। वसुराटोः ७। स०—वसुश्च राट् च वसुराटौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—वसुराटोः उत्तरपदयोः विश्वशब्दस्य दीर्घः भवति। उदा०—विश्वावसुः। विश्वाराट्।

१३०. मित्रे चर्षौ

पद०—मित्रे ७। च अ०। ऋषौ ७। वृ०—ऋषौ अभिधेये मित्रे चोत्तरपदे विश्वशब्दस्य दीर्घः भवति। उदा०—विश्वामित्रो नाम ऋषिः। अन्यत्र विश्वमित्रो माणवकः।

१३७. अन्येषामपि दृश्यते

पद०—अन्येषाम् ६। अपि अ०। दृश्यते १। वृ०—अन्येषामपि दीर्घः दृश्यते शिष्टप्रयोगात् अनुगन्तव्यः। उदा०—केशाकेशिः। नारकः। पूरुषः।

१३८. चौ

पद०—चौ ७। वृ०—चौ परे पूर्वपदस्य अणः दीर्घः भवति। उदा०—दधीचः पश्य। दधीचा। दधीचे।

१३९. **सम्प्रसारणस्य** ६।४।२

पद०—सम्प्रसारणस्य ६। वृ०—सम्प्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्याण उत्तरपदे परे दीर्घः भवति। उदा०—कारीषगन्धीपुत्रः। कारीषगन्धीपतिः।

(अलुगु०[१] षष्ठ्या०[२] जातेश्च०[३] इको ह्रस्वो०[४] अव्ययीभावे०[५] कोः०[६] इको वहे० एकोनविंशति च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये षष्ठाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ५४ ॥

---

१३८. चौ इति अञ्चतिलुप्तनकारो गृह्यते।

अथ चतुर्थः पादः

(अथ अङ्गाधिकारप्रकरणम्)

१. अङ्गस्य ७ । ४ । ९७

पद०—अङ्गस्य ६ । वृ०—अधिकारोऽयम् 'ई च गणः ७ । ४ । ९७' इति सूत्रं यावत् । इतः उत्तरं यद्वक्ष्यामः अङ्गस्य इत्येवं तद्वेदितव्यम् । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

२. हलः

पद०—हलः ५ । वृ०—सम्प्रसारणान्तस्य अङ्गस्य हलः परस्य दीर्घः भवति । उदा०—हूतः । जीनः । संवीतः ।

३. नामि ७

पद०—नामि ७ । वृ०—नामि परे अजन्तस्य अङ्गस्य दीर्घः भवति । उदा०—अग्नीनाम् ।

४. न तिसृ-चतसृ ५

पद०—न अ० । तिसृ-चतसृलुप्तषष्ठचन्तः । स०—तिसा च चतसा च तिसृचतसारौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—तिसृ-चतसृ इत्येतयोः नामि परे दीर्घो न भवति । उदा०—तिसृणाम् । चतसृणाम् ।

५. छन्दस्युभयथा ६

पद०—छन्दसि ७ । उभयथा अ० । वृ०—छन्दसि विषये तिसृ, चतसृ इत्येतयोः नामि परे उभयथा (दीर्घश्चादीर्घश्च) दृश्यते । उदा०—तिसृणां मध्यन्दिने । तिसॄणां मध्यन्दिने । चतसृणां मध्यन्दिने । चतसॄणां मध्यन्दिने ।

६. नृ च

पद०—नृ लुप्तषष्ठचन्तः । च अ० । वृ०—नृ इत्येतस्य नामि परे उभयथा दीर्घो भवति । उदा०—त्वं नृणां नृपते । त्वं नॄणां नृपते ।

---

६. केचिदत्र 'छन्दसी'ति नानुवर्त्तयन्ति । तेन भाषायामपि विकल्पो भवति ।

७. नोपधायाः १०, १८

पद०—न लुप्तषष्ठ्यन्तः। उपधायाः ६। वृ०—नान्तस्याङ्गस्योपधायाः नामि परे दीर्घो भवति। उदा०—पञ्चानाम्।

८. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ११, १४

पद०—सर्वनामस्थाने ७। च अ०। असम्बुद्धौ ७। स०—न सम्बुद्धिः असम्बुद्धिः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—सर्वनामस्थाने च परे असम्बुद्धौ नोपधायाः दीर्घो भवति। उदा०—राजा। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ।

१०. सान्तमहतः संयोगस्य

पद०—सान्तलुप्तषष्ठ्यन्तः। महतः ६। संयोगस्य ६। स०—सकारः अन्ते यस्य सः सान्तः, तस्य (बहु०)। सान्तसंयोगस्य महतश्च नोपधायाः दीर्घः भवति, सर्वनामस्थाने परे असम्बुद्धौ। उदा०—श्रेयान्। श्रेयांसौ। श्रेयांसः। श्रेयांसि। महान्। महान्तौ। महान्तः।

११. अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम्

पद०—अप्....स्तॄणाम् ६। स०—अप् च तृन् च तृच् च स्वसा च नप्ता च नेष्टा च त्वष्टा च क्षत्ता च होता च पोता च प्रशास्ता च इति ते अप्... प्रशास्तारः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—अप्शब्दस्य, तृन्नन्तस्य, तृजन्तस्य, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इति एतेषां चाङ्गानामुपधाया दीर्घो भवति सर्वनामस्थाने परे असम्बुद्धौ। उदा०—आपः। कर्त्ता कटान्। वदितारौ जनापवादान्। कर्त्तारः। कर्त्तारौ कटस्य। कर्त्तारः। स्वसा। स्वसारौ। स्वसारः। नप्ता। नप्तारौ। नप्तारः। एवं यावत् प्रशास्ता। प्रशास्तारौ। प्रशास्तारः (लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया सूत्रस्थशब्दानामेव दीर्घः)।

१२. इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ १३

पद०—इन्-हन्-पूषार्यम्णाम् ६। शौ ७। स०—इन् च हन् च पूषा च अर्यमा च इति इन्हन्पूषार्यमाणः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येवमन्तानामङ्गानाम् उपधायाः शौ परे एव दीर्घो भवति नान्यत्र। उदा०—बहुदण्डीनि। बहुवृत्रहाणि। बहुपूषाणि। बह्वर्यमाणि।

१३. सौ च १४

पद०—सौ ७। च अ०। वृ०—असम्बुद्धौ सौ परे एव इन्हन्पूषार्यम्णामुपधाया दीर्घो भवति। उदा०—दण्डी। वृत्रहा। पूषा। अर्यमा।

१४. अत्वसन्तस्य चाधातोः

पद०—अत्वसन्तस्य ६। च अ०। अधातोः ६। स०—अतुश्च अश्च अत्वसौ, अत्वसौ अन्ते यस्य स अत्वसन्तः, तस्य (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। न धातुः अधातुः, तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—अतु, अस् इत्येवमन्तस्य च अधातोः उपधायाः असम्बुद्धौ सौ परे दीर्घो भवति। उदा०—भवान्। सुयशाः।

१५. अनुनासिकस्य क्वि-झलोः क्ङिति २१

पद०—अनुनासिकस्य ६। क्विझलोः ७। क्ङिति ७। स०—क्विश्च झल् च तौ क्विझलौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। वृ०—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य उपधाया दीर्घो भवति क्विप्रत्यये परे झलादौ च क्ङिति। उदा०—प्रशान्। शान्तः। शंशान्तः।

१६. अज्झन-गमां सनि १७

पद०—अज्झनगमाम् ६। सनि ७। स०—अच् च हनश्च गम् च अज्झनगमः तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—अजन्तानाम् अङ्गानां हनो गमश्च झलादौ सनि परे दीर्घो भवति। उदा०—चिकीर्षति। जिघांसति। अधिजिगांसते।

१७. तनोतेर्विभाषा १८

पद०—तनोतेः ६। विभाषा १। वृ०—झलादौ सनि परे तनोतेरङ्गस्य उपधायाः विभाषा दीर्घो भवति। उदा०—तितांसति। तितंसति।

१८. क्रमश्च क्त्वि

पद०—क्रमः ६। च अ०। क्त्वि ७। वृ०—झलादौ क्त्वाप्रत्यये परे क्रमेरङ्गस्य उपधाया विभाषा दीर्घो भवति। उदा०—क्रान्त्वा। क्रन्त्वा।

(उक्तो दीर्घः)

१९. च्छ्-वोः शूडनुनासिके च २१, २०, २१

पद०—च्छ्वोः ६। शूठ् १। अनुनासिके ७। च अ०। स०—च्छश्च वश्च च्छ्वौ तयोः (इ० द्व०)। शश्च ऊठ् च इति तयोः समाहारः तत् (स० द्व०)। वृ०—सतुक्कस्य च्छस्य शो वस्य च ऊठ् स्यादनुनासिके क्वौ झलि क्ङिति। उदा०—प्रश्नः। स्योनः। शब्दप्राट्। अक्षद्युः। पृष्टः। द्युतः।

२०. ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च

पद०—ज्वर...मवाम् ६। उपधायाः ६। च अ०। स०—ज्वरश्च त्वरश्च स्रिविश्च अविश्च मवश्च ते, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—ज्वर त्वर स्रिवि अवि मव इत्येषामङ्गानां वकारस्योपधायाश्च स्थाने ऊठ् आदेशो भवति, अनुनासिके क्वौ झलि क्ङिति। उदा०—जूः। जूरौ। जूरः। जूर्त्तिः। तूः। तूरौ। तूरः। तूर्त्तिः। स्रूः। स्रुवौ। स्रुवः। स्रूतः। स्रूतवान्। स्रूतिः। ऊः। उवौ। उवः। ऊतिः। मूः। मुवौ। मुवः। मूतः। मूतवान्। मूतिः।

२१. राल्लोपः

पद०—रात् ५। लोपः १। वृ०—रेफात् छवयोः लोपः भवति अनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति च परे। उदा०—मूः। मुरौ। मुरः। मूर्तः। मूर्त्तवान्। मूर्त्तिः। तूः। तुरौ। तुरः। तूर्णः। तूर्णवान्। तूर्त्तिः।

२२. असिद्धवदत्राभात् १७५

पद०—असिद्धवत् अ०। अत्र अ०। आ अ०। भात् ५। स०—न सिद्धः असिद्धः (नञ्तत्०), असिद्धेन तुल्यं वर्त्तते इति असिद्धवत्। वृ०—अधिकारोऽयम् 'ऋत्व्य० ६।४।१७५' इति सूत्रं यावत्। इतः ऊर्ध्वं यदनुक्रमिष्यामः, आ अध्यायपरिसमाप्तेः, तत् असिद्धवद् वेदितव्यम्। उदा०—एधि। शाधि। आगहि। जहि। (विलक्षणमतिदेशसूत्रम्)।

२३. श्नान्नलोपः ३३

पद०—श्नात् ५। नलोपः १। स० - नकारस्य लोपः नलोपः (तत्०)। वृ०—श्नात् (श्नमः) परस्य नकारस्य लोपः भवति। उदा०—अनक्ति।

२४. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ३४

पद०—अनिदिताम् ६। हलः ६। उपधायाः ६। क्ङिति ७। स०—इकार इत् येषां ते इदितः, न इदितः अनिदितः, तेषाम् (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—अनिदितामङ्गानां हलन्तानामुपधायाः नकारस्य लोपः भवति, क्ङिति प्रत्यये परे। उदा०—स्रस्तः। सनीस्रस्यते।

२५. दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि २६

पद०—दंशसञ्जस्वञ्जाम् ६। शपि ७। स०—दंशश्च सञ्जश्च स्वञ्जश्च इति दंशसञ्जस्वञ्जाः तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—दंश सञ्ज ष्वञ्ज इत्येतेषामङ्गानां शपि परे उपधायाः नकारस्य लोपः भवति। उदा०—दशति। सजति। परिष्वजते।

---

३२. 'क्त्व' इति पदं 'क्त्व स्कन्दिस्यन्दोः ६।४।३१' इति सूत्रादनुवर्तते।

२६. रञ्जेश्च　　२७

पद०—रञ्जेः ६। च अ०। वृ०—रञ्जेश्च शपि परे उपधायाः नकारस्य लोपः भवति। उदा०—रजति।

२७. घञि च भाव-करणयोः　　२९

पद०—घञि ७। च अ०। भावकरणयोः ७। स०—भावश्च करणञ्च भावकरणे, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—भावकरणवाचिनि घञि परे रञ्जेः उपधायाः नकारस्य लोपः भवति। उदा०—आश्चर्यो रागः। रज्यतेऽनेनेति रागः।

३०. नाञ्चेः पूजायाम्　　३२

पद०—न अ०। अञ्चेः ६। पूजायाम् ७। वृ०—पूजायामर्थे अञ्चेः नकारस्य लोपः न भवति। उदा०—अञ्चिता अस्य गुरवः।

३२. जान्त-नशां **विभाषा**　　३३

पद०—जान्तनशाम् ६। विभाषा १। स०—जः अन्ते येषां ते जान्ताः, जान्ताश्च नश्च जान्तनशः, तेषाम् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—जान्तानामङ्गानां नशेश्च क्त्वाप्रत्यये परे विभाषा नकारस्य लोपः न भवति। उदा०—रङ्क्त्वा। रक्त्वा। नंष्ट्वा। नष्ट्वा।

३३. भञ्जेश्च चिणि

पद०—भञ्जेः ६। चिणि। ७। वृ०—चिणि परे भञ्जेश्च विभाषा नकारस्य लोपः भवति। उदा०—अभाजि। अभञ्जि।

३४. शास इदङ्-हलोः　　३५

पद०—शासः ६। इत् १। अङ्हलोः ७। स०—अङ् च हल् च अङ्हलौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—शासः उपधायाः इकारादेशः भवति अङि परे हलादौ च क्ङिति। उदा०—अन्वशिषत्। अन्वशिषताम्। शिष्टः। शिष्टवान्। तौ शिष्टः। वयं शिष्मः।

३५. शा हौ　　३६

पद०—शा १। हौ ७। वृ०—शासः हौ परे 'शा' आदेशः भवति। उदा०—अनुशाधि। प्रशाधि।

३६. हन्तेर्जः

पद०—हन्तेः ६। जः १। वृ०—हन्तेः स्थाने जः आदेश भवति हौ परे। उदा०—जहि शत्रून्।

३७. अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ३९, ४०

पद०—अनु...नाम् ६। लोपः १। झलि ७। क्ङिति ७। स०—अनुदात्तः उपदेशो येषां ते अनुदात्तोपदेशाः। तनोतिः आदिः येषां ते तनोत्यादयः, अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादयः, तेषाम् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। अनुनासिकस्य लोपः सः (तत्०)। क् च ङ् च क्ङौ क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—अनुदात्तोपदेशानामाङ्गानां वनतेः तनोत्यादीनां चानुनासिकलोपः भवति झलादौ क्ङिति प्रत्यये परे। उदा०—हतः। वतिः। ततः।

३८. वा ल्यपि

पद०—वा अ०। ल्यपि ७। वृ०—ल्यपि परे अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः वा भवति। उदा०—प्ररत्य। प्ररम्य। उद्यत्य खड्गमर्जुनः। उद्यम्य। प्रवत्य। प्रवन्य। प्रतत्य। प्रतन्य इत्यादि।

४०. गमः क्वौ

पद०—गमः ६। क्वौ ७। वृ०—क्वौ परे गमोऽनुनासिकलोपः भवति। उदा०—अङ्गगत्।

४१. विड्वनोरनुनासिकस्यात् ४५

पद०—विड्वनोः ७। अनुनासिकस्य ६। आत् १। स०—विट् च वन् च विड्वनौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—विड्वनोः प्रत्ययोः परयोः अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य आकारादेशः भवति। उदा०—अब्जाः। विजावा।

४२. जन-सन-खनां सञ्झलोः ४३

पद०—जनसनखनाम् ६। सञ्झलोः ७। स०—जनश्च सनश्च खन च जनसनखनः, तेषाम् (इ० द्व०)। सन् च झल् च सञ्झलौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—झलादौ सनि झलादौ क्ङिति च परे जनसनखनामङ्गानाम् आकारादेशः भवति। उदा०—जातः। जातवान्। जातिः सिषासति। सातः। सातवान्। सातिः। खातः। खातवान्। खातिः।

---

३८. व्यवस्थितविभाषात्वात् मकारान्तानां विकल्पः भवति। अन्यत्र नित्यमेव लोपः भवति।

४२. 'अनुदात्तो० ६।४।३७' इत्यतः झलि, क्ङिति चानुवर्तते, सनो विशेषणतया, तेन झलादौ सनि, झलादौ क्ङिति च इति लभ्यते।

४३. ये विभाषा ४४

पद०—ये ७। विभाषा १। वृ०—यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परे जनसनखनामङ्गानाम् आकारादेशः भवति विभाषा। उदा०-जायते। जन्यते। जाजायते। जञ्जन्यते। सायते। सन्यते। सासायते। संसन्यते। खायते। खन्यते। चाखायते। चङ्खन्यते।

४४. तनोतेर्यकि

पद०—तनोतेः ६। यकि ७। वृ०—यकि परे तनोतेरङ्गस्य आकारादेशः भवति विभाषा। उदा०—तायते। तन्यते।

(अथ आर्धधातुके कार्यम्)

४६. आर्धधातुके ६९

पद०—आर्द्धधातुके ७। वृ०—अधिकारोऽयम् 'न ल्यपि ६।४।६९' इति सूत्रं यावत्। यादितः ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तद् आर्धधातुके इत्येवं वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

४७. भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्

पद०—भ्रस्जः ६। रोपधयोः ६। रम् १। अन्यतरस्याम् ७। स०—रश्च उपधा च रोपधे, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—आर्धधातुके परे भ्रस्जः रेफस्य उपधायाश्च स्थाने रम् आगमः भवति विभाषा। उदा०—भर्ष्टा। भ्रष्टा। भ्रज्जनम्। भर्ज्जनम्।

४८. अतो लोपः ५४

पद०—अतः ६। लोपः १। वृ०—आर्धधातुके परे अदन्तस्याङ्गस्य लोपः भवति। उदा०—चिकीर्षिता। चिकीर्षितुम्।

४९. यस्य हलः ५०

पद०—यस्य ६। हलः ५। वृ०—हलः परस्य यशब्दस्य लोपः भवति, आर्धधातुके परे। उदा०—बेभिदिता। बेभिदितुम्।

५०. क्यस्य विभाषा

पद०—क्यस्य ६। विभाषा १। वृ०—हलः परस्य क्यस्य लोपः भवति विभाषा आर्धधातुके परे। उदा०—समिध्यिता। समिधिता।

---

४३. अत्रापि 'क्ङिति' इत्यनुवर्त्तते।

५१. णेरनिटि ५७

पद०—णेः ६। अनिटि ७। स०—न इट् यस्मिन् तत् अनिट् तस्मिन् अनिटि (बहु०)। वृ०—अनिडादौ आर्धधातुके परे णेः लोपो भवति। उदा०—आटिटत्। कारकः। कारणा। कार्यते।

५२. निष्ठायां सेटि

पद०—निष्ठायाम् ७। सेटि ७। स०—इटा सह सेट्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—सेटि निष्ठायां परे णेः लोपो भवति आर्धधातुके। उदा०—कारितम्।

५५. अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ५७

पद०—अय् १। आम……ष्णुषु ७। स०—आम् च अन्तश्च आलुश्च आय्यश्च इत्नुश्च इष्णुश्च आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णवः तेषु (इ० द्व०)। वृ०—आम् अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इत्येतेषु परेषु णेः अय् आदेशः भवति आर्धधातुके। उदा०—कारयांचकार। गण्डयन्तः। स्पृहयालुः। स्पृहयाय्यः। स्तनयित्नुः। पोषियष्णवः।

६२. स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च

पद०—स्य … तासिषु ७। भावकर्मणोः ७। उपदेशे ७। अज्झन-ग्रहदृशाम् ६। वा अ०। चिण्वत् अ०। इट् १। च अ०। स० स्यश्च सिच् च सीयुट् च तासिश्च स्यसिच्सीयुट्तासयः तेषु (इ० द्व०)। भावश्च कर्म च भावकर्मणो तयोः (इ० द्व०)। अच् च हनश्च ग्रहश्च दृश् च अज्झनग्रहदृशः तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—स्य, सिच्, सीयुट्, तासि इत्येतेषु आर्धधातुकेषु परेषु भावकर्मविषयेषु उपदेशेऽजन्तानामङ्गानां हन्, ग्रह, दृश् इत्येतेषां च चिण्वत् कार्यं वा, स्यादीनाम् इडागमश्च चिण्वद्भावेन सहैव भवति। उदा०—स्ये-अजन्तानाम्-चायिष्यते। चेष्यते। 'अचायिष्यत। अचेष्यत। हन्—घानिष्यते। हनिष्यते। अघानिष्यत। अहनिष्यत। ग्रह्—ग्राहिष्यते ग्रहीष्यते। अग्राहिष्यत। अग्रहीष्यत। दृश्—दर्शिष्यते। द्रक्ष्यते। अदर्शिष्यत। अद्रक्ष्यत। सिचि—अजन्तानाम्—अचायिषाताम्। अचेषाताम्। हन्—अघानिषाताम्। अवधिषाताम्। अहसाताम्। ग्रह्—अग्राहिषाताम्। अग्रहीषाताम्। दृश् अदर्शिषाताम्। अदृक्षाताम्। सीयुटि-अजन्तानाम्-चायिषीष्ट। चेषीष्ट। हन्-घानिषीष्ट। वधिषीष्ट। ग्रह्—ग्राहिषीष्ट। ग्रहीषीष्ट। दृश्—दर्शिषीष्ट। दृक्षीष्ट। तासौ—अजन्तानाम्—चायिता। चेता। हन्—घानिता। हन्ता। ग्रह्-ग्राहिता। ग्रहीता। दृश्-दर्शिता। द्रष्टा। दर्ष्टा।

६३. दीङो युडचि क्ङिति	६४, ६८

पद०—दीङः ५। युट् १। अचि ७। क्ङिति ७। स०—क् च ङ् च क्ङौ क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—आर्धधातुके अजादौ क्ङिति प्रत्यये परे दीङः युडागमः भवति। उदा०—उपदिदीये। उपदिदीयाते। उपदिदीयिरे।

६४. आतो लोप इटि च	६९

पद०—आतः ६। लोपः १। इटि ७। च अ०। वृ०—आर्धधातुके इटि अजादौ क्ङिति च अकारान्तस्याङ्गस्य लोपः भवति। उदा०—पपिथ। तस्थिथ। पपतुः। पपुः। गोदः। कम्बलदः। प्रदा। प्रधा।

६५. ईद्यति	६६

पद०—ईत् १। यति ७। वृ०—यति परे आकारान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशः भवति। उदा०—देयम् (ईकारस्य गुणः)।

६६. घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि	६९

पद०—घु...... तिसाम् ६। हलि ७। स०—घुश्च माश्च स्थाश्च गाश्च पाश्च जहातिश्च साश्च घुमास्थागापाजहातिसाः तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—आर्धधातुके हलादौ क्ङिति प्रत्यये परे घुसंज्ञकानां मा, स्था, गा, पा, जहाति, सा इत्येतेषामङ्गानाम् ईकारादेशः भवति। उदा०—दीयते। देदीयते। धीयते। देधीयते। मीयते। मेमीयते। गीयते। जेगीयते। अध्यगीष्ट। अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत। पीयते। पेपीयते। हीयते। जेहीयते। अवसीयते। अवसेषीयते।

६७. एर्लिङि	६८

पद०—एः १। लिङि ७। वृ०—आर्धधातुके। क्ङिति लिङि परे घुमास्थागापाजहातिसामङ्गानाम् एकारादेशो भवति। उदा०—देयात्। धेयात्। मेयात्। स्थेयात्। गेयात्। पेयात्। अवसेयात्।

६८. वाऽन्यस्य संयोगादेः

पद०—वा० अ०। अन्यस्य ६। संयोगादेः ६। स०—संयोगः आदिः यस्य सः संयोगादिः, तस्य (बहु०)। वृ०—घ्वादिभ्योऽन्यस्य संयोगादेराकारान्तस्य वा एकारादेशो भवति आर्धधातुके क्ङिति लिङि परे। उदा०—ग्लेयात्। ग्लायात्। म्लेयात्। म्लायात्।

६९. न ल्यपि ७०

पद०—न अ०। ल्यपि ७। वृ०—आर्धधातुके परे घुमास्थागापाजहातिसां यदुक्तं (ईत्वम्) तन्न भवति। उदा०—प्रदाय। प्रधाय। प्रमाय। प्रस्थाय। प्रगाय। प्रपाय। प्रहाय। अवसाय।

(उक्तमार्धधातुके कार्यम्)

७१. लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः ७५

पद०—लुङ्लङ्लृङ्क्षु ७। अट् १। उदात्तः १। स०—लुङ् च लङ् च लृङ् च लुङ्लङ्लृङः, तेषु (इ० द्व०)। वृ०—लुङ्, लङ्, लृङ् इत्येतेषु परेषु अङ्गस्य अट् आगमो भवति, उदात्तश्च स भवति। उदा०—अकार्षीत्। अकरोत्। अकरिष्यत्।

७२. आडजादीनाम् ७५

पद०—आट् १। अजादीनाम् ६। स०—अच् आदिर्येषां ते अजादयस्तेषाम् (बहु०)। वृ०—लुङ्लङ्लृङ्क्षु परेषु अजादीनामङ्गानाम् आट् आगमो भवति, उदात्तश्च स भवति। उदा०—ऐक्षिष्ट। ऐक्षत। ऐक्षिष्यत।

७४. न माङ्योगे

पद०—न अ०। माङ्योगे ७। स०—माङो योगः माङ्योगः तस्मिन् (तत्०)। वृ०—लुङ्लङ्लृङ्क्षु परेषु अडाटौ आगमौ माङ्योगे न भवतः। उदा०—मा भवान् कार्षीत्। मा स्म करोत्। मा भवानीहिष्ट। मा स्म भवानीहत। मा स्म भवानीक्षत।

७७. अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ १००, ७८, ८०

पद०—अचि ७। श्नुधातुभ्रुवाम् ६। य्वोः ६। इयङुवङौ १। स०—श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नुधातुभ्रुवः तेषाम् (इ० द्व०)। इश्च उश्च यू तयोः (इ० द्व०)। इयङ् च उवङ् च तौ (इ० द्व०)। वृ०—श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्य इयङुवङौ आदेशौ भवतः अजादौ प्रत्यये परे। उदा०—आप्नुवन्ति। राध्नुवन्ति। शक्नुवन्ति। चिक्षियतुः। चिक्षियुः। लुलुवतुः। लुलुवुः। नियौ। नियः। लुवौ। लुवः। भ्रुवौ। भ्रुवः।

७८. अभ्यासस्यासवर्णे

पद०—अभ्यासस्य ६। असवर्णे ७। स०—न सवर्णः असवर्णः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—असवर्णे अचि परे इवर्णान्तस्य उवर्णान्तस्य च अभ्यासस्य इयङुवङौ आदेशौ भवतः। उदा०—इयेष। उवोष। इयर्त्ति।

७९. स्त्रियाः   ८०

पद०—स्त्रियाः ६। वृ०—अजादौ प्रत्यये परे स्त्री इत्येतस्य अङ्गस्य इयङ् आदेशो भवति। उदा०—स्त्रियौ। स्त्रियः।

८०. वाऽम्-शसोः

पद०—वा अ०। अम्शसोः ७। स०—अम् च शस् च अम्शसौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अमि शसि च स्त्रियाः अङ्गस्य वा इयङ् आदेशो भवति। उदा०—स्त्रीं पश्य। स्त्रियं पश्य। स्त्रीः पश्य। स्त्रियः पश्य।

८१. इणो यण्   ८७

पद०—इणः ६। यण् १। वृ०—अचि परे इणोऽङ्गस्य यण् आदेशो भवति। उदा०—यन्ति। यन्तु। आयन्।

८२. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य   ८७

पद०—एः ६। अनेकाचः ६। असंयोगपूर्वस्य ६। स० - न एकः अनेकः, अनेकोऽच् यस्मिन् स अनेकाच्, तस्य (नञ्गर्भो बहु०)। अविद्यमानः संयोगः पूर्वः यस्मात् स असंयोगपूर्वस्तस्य (बहु०)। वृ०—धात्ववयवः संयोगपूर्वः यस्मात् इवर्णान्तान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्य अनेकाचोऽचि परे यण् आदेशो भवति। उदा०—निन्यतुः। निन्युः। उन्न्यौ। उन्न्यः। ग्रामण्यौ। ग्रामण्यः।

८३. ओः सुपि   ८४

पद०—ओः ६। सुपि ७। वृ०—धात्ववयवः संयोगः पूर्वः यस्मात् उवर्णान्तान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽजादौ सुपि परे यणादेशो भवति। उदा०—खलप्वौ। खलप्वः। शतस्वौ। शतस्वः। सकृल्ल्वौ। सकृल्ल्वः।

८४. वर्षाभ्वश्च

पद०—वर्षाभ्वः ६। च अ०। वृ०—अजादौ सुपि परे वर्षाभू इत्येतस्याङ्गस्य यणादेशो भवति। उदा०—वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः।

८५. न भू-सुधियोः

पद०—न अ०। भूसुधियोः ६। स०—भूश्च सुधीश्च भूसुधियौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—भू, सुधी इत्येतयोः यणादेशो न भवति अचि परे। उदा०—प्रतिभुवौ। प्रतिभुवः। सुधियौ। सुधियः।

८७. हु-श्नुवोः सार्वधातुके

पद०—हुश्नुवोः ६। सार्वधातुके ७। स०—हुश्च श्नुश्च हुश्नुवौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—हु इत्येतस्याङ्गस्य श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (उकारस्य) अजादौ सार्वधातुके परे यणादेशो भवति। उदा०—जुह्वति। जुह्वतु। सुन्वन्ति। सुन्वन्तु।

८८. भुवो वुग् लुङ्-लिटोः

पद०—भुवः ६। वुक् १। लुङ्लिटोः ७। स०—लुङ् च लिट् च लुङ्लिटौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—भुवो वुगागमो भवति लुङि लिटि चाजादौ प्रत्यये परे। उदा०—अभूवन्। अभूवम्। बभुव। बभूवतुः। बभूवुः।

८९. ऊदुपधाया गोहः ९१, १००

पद०—ऊत् १। उपधायाः ६। गोहः ६। वृ०—गोहोऽङ्गस्य (गुणस्थानीयस्य) उपधाया ऊकारादेशो भवति, अजादौ प्रत्यये परे। उदा०—निगूहति। निगूहकः। साधु निगूही। निगूहम्। निगूहन्ति।

९०. दोषो णौ ९१, ९४

पद०—दोषः ६। णौ ७। वृ०—दोष उपधाया ऊकारादेशो भवति, णौ परे। उदा०—दूषयति। दूषयतः। दूषयन्ति।

९२. मितां ह्रस्वः ९३

पद०—मिताम् ६। ह्रस्वः १। स०—म् इत् येषां ते मितस्तेषाम् (बहु०)। वृ०—मिताङ्गानामुपधाया ह्रस्वो भवति, णौ परे। उदा०—घटयति। व्यथयति।

९३. चिण्-णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्

पद०—चिण्णमुलोः ७। दीर्घः १। अन्यतरस्याम् ७। स०—चिण् च णमुल् च चिण्णमुलौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—चिण् परे णमुल् परे च णौ परतः मितामङ्गानामुपधायाः दीर्घो भवति, अन्यतरस्याम्। उदा०—अशामि। अशमि। अतामि। अतमि। शामंशामम्। शमंशमम्। तामंतामम्। तमंतमम्।

९४. खचि ह्रस्वः ९७

पद०—खचि ७। ह्रस्वः १। वृ०—खच्परे णौ परतः अङ्गस्योपधायाः ह्रस्वो भवति। उदा०—द्विषंतपः। परंतपः। पुरंदरः।

---

९२. अत्र मितः धातवः धातुपाठान्तर्गतभ्वादिगणे 'घटादयो मितः, जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' इति वाक्यं कथितम्।

९६. छादेर्घेऽद्वयुपसर्गस्य　　९७

पद०— छादेः ६। घे ७। अद्वयुपसर्गस्य ६। स०—द्वौ उपसर्गौ यस्मिन् स द्वयुपसर्गः, न द्वयुपसर्गः अद्वयुपसर्गस्तस्य (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—अद्वयुपसर्गस्य छादेरङ्गस्योपधाया ह्रस्वो भवति, घप्रत्यये परे। उदा०—उरश्छदः। प्रच्छदः। दन्तच्छदः।

९७. इस्-मन्-त्रन्-क्विषु च

पद०—इस्मन्त्रन्क्विषु ७। च अ०। स०—इस् च मन् च त्रन् च क्विश्च इस्मन्त्रन्क्वयस्तेषु (इ० द्व०)। वृ०—इस्, मन्, त्रन्, क्वि इत्येतेषु परेषु छादेरङ्गस्योपधायाः ह्रस्वः भवति। उदा०—छदिः। छद्म। छत्रम्। धामच्छत्। उपच्छत्।

९८. गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि　　१००, १२६

पद०—गमहनजनखनघसाम् ६। लोपः १। क्ङिति ७। अनङि ७। स०—गमश्च हनश्च जनश्च खनश्च घस् च गमहनजनखनघसस्तेषाम् (इ० द्व०)। क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन् (बहु०)। न अङ् अनङ् तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—गम, हन, जन, खन, घस् इत्येषामङ्गानामुपधाया लोपो भवति अनङि अजादौ क्ङिति परे। उदा०—जग्मतुः। जग्मुः। जघ्नतुः। जघ्नुः। जज्ञे। जज्ञाते। जज्ञिरे। चख्नतुः। चख्नुः। जक्षतुः। जक्षुः। अक्षन्नमीमदन्तपितरः।

१०१. हु-झल्भ्यो हेर्धिः　　१०३

पद० –हुझल्भ्यः ५। हेः ६। धिः १। स०—हुश्च झलश्च हुझलस्तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—हु इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्च परस्य हलादेर्हेः स्थाने धि इत्ययमादेशो भवति। उदा०—जुहुधि। भिन्धि। छिन्धि।

१०४. चिणो लुक्　　१०६

पद०—चिणः ५। लुक् १। वृ०—चिणः परस्य प्रत्ययस्य लुग्भवति। उदा०—अकारि। अलावि। अपाचि।

१०५. अतो हेः　　१०६

पद०—अतः ५। हेः ६। वृ०—अकारान्तादङ्गात् परस्य हेर्लुग्भवति। उदा०—पच।

---

१०१. 'हलि' इति पदं 'घसिभसोर्हलि च ६।४।१००' इति सूत्रादनुवर्तते।

१०६. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् १.१०, १०७

पद०—उतः ५। च अ०। प्रत्ययात् ५। असंयोगपूर्वात् ५। स०—अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वस्तस्मात् (बहु०)। वृ०—उकारो योऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात् प्रत्ययात् परस्य हेर्लुग्भवति। उदा०—चिनु। कुरु। सुनु।

१०७. लोपश्चास्यान्यतरस्याम् म्वोः १०९, १०८

पद०—लोपः १। च अ०। अस्य ६। अन्यतरस्याम् ७। म्वोः ७। स०—म् च व् च म्वौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—योऽयमुकारोऽसंयोगपूर्वस्तदन्तस्य प्रत्ययस्यान्यतरस्यां लोपो भवति मकारवकारादौ प्रत्यये परे। उदा०—सुन्मः। सुनुमः। सुन्वः। सुनुवः।

१०८. नित्यं करोतेः १०९, ११०

पद०—नित्यम् १। करोतेः ५। वृ०—मकारवकारादौ प्रत्यये परे करोतेः परस्य उकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति। उदा०—कुर्मः। कुर्वः।

१०९. ये च

पद०—ये ७। च अ०। वृ०—यकारादौ च प्रत्यये परे करोतेः परस्य उकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति। उदा०—कुर्यातास्। कुर्युः।

(अथ सार्वधातुके कार्यम्)

११०. अत उत् सार्वधातुके ११८

पद०—अतः ६। उत् १। सार्वधातुके ७। वृ०—उकारप्रत्ययान्तस्य करोतेरकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति सार्वधातुके क्ङिति परे। उदा०—कुरुतः। कुर्वन्ति।

१११. श्नसोरल्लोपः ११२

पद०—श्नसोः ६। अल्लोपः १। स०—श्न् च अस् च श्नसौ, तयोः (इ० द्व०)। अतो लोपः, अल्लोपः (षष्ठीतत्०)। वृ०—श्नम्प्रत्ययस्य अस्तेश्च अकारस्य लोपः भवति सार्वधातुके क्ङिति परे। उदा०—रुन्धः। रुन्धन्ति। स्तः। सन्ति।

११२. श्नाभ्यस्तयोरातः　　　　११३, ११४

पद०—श्नाभ्यस्तयोः ६। आतः ६। स०—श्ना च अभ्यस्तश्च श्नाभ्यस्तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—श्ना इत्येतस्याभ्यस्तानामङ्गानामाकारस्य लोपः भवति, सार्वधातुके क्ङिति परे। उदा०—लुनते। लुनताम्। अलुनत। मिमते। मिमताम्। अमिमत।

११३. ई हल्यघोः　　　　११६

पद०—ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। हलि ७। अघोः ६। स०—न घुः अघुः, तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—घुवर्जितानां श्नान्तानां अङ्गनामभ्यस्तानां च आतः स्थाने ईकारादेशो भवति सार्वधातुके हलादौ क्ङिति परे। उदा०—लुनीतः। लुनीथः। लुनीते। मिमीते। मिमीषे। मिमीध्वे।

११४. इद् दरिद्रस्य　　　　११६

पद०—इत् १। दरिद्रस्य ६। वृ०—दरिद्रातेः आतः इकारादेशो भवति सार्वधातुके हलादौ क्ङिति परे। उदा०—दरिद्रितः। दरिद्रिथः। दरिद्रिवः। दरिद्रिमः।

वा० दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः

उदा०—दरिद्रः (सिद्धश्च प्रत्ययविधौ। अच् पचादित्वान्न कः विवक्षिते लोपविधानात्)।

११५. भियोऽन्यतरस्याम्　　　　११७

पद०—भियः ६। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—भी इत्येतस्याङ्गस्यान्यतरस्यामिकारादेशो भवति सार्वधातुके हलादौ क्ङिति परे। उदा०—बिभितः। बिभीतः। बिभिथः। बिभीथः। बिभिवः। बिभीवः। बिभिमः। बिभीमः।

११६. जहातेश्च　　　　११८

पद०—जहातेः ६। च अ०। वृ०—जहातेश्च इकारादेशो भवति, अन्यतरस्यां सार्वधातुके हलादौ क्ङिति परे। उदा०—जहितः। जहीतः। जहिथः। जहीथः। (पक्षे ई हल्यघोः)।

११७. आ च हौ

पद०—आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। च अ०। हौ ७। वृ०—जहातेराकारश्चान्तादेशो अन्यतरस्यां भवति, इकारश्च हौ परे। उदा०—जहिहि। जहीहि। जहाहि।

११८. लोपो यि

पद०—लोपः १। यि ७। वृ०—जहातेर्लोपो भवति सार्वधातुके यकारादौ क्ङिति परे। उदा०—जह्यात्। जह्याताम्। जह्युः।

(उक्तं सार्वधातुके कार्यम्)

११९. घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च १२६

पद०—घ्वसोः ६। एत् १। हौ ७। अभ्यासलोपः १। च अ०। स०—घुश्च अस् च घ्वसौ, तयोः (इ० द्व०)। अभ्यासस्य लोपः, अभ्यासलोपः (तत्०)। वृ०—घुसंज्ञकानामङ्गानामस्तेश्च एकारादेशो भवति हौ क्ङिति परे, अभ्यासलोपश्च। उदा०—देहि। धेहि। एधि।

१२०. अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि १२६, १२१, १२१, १२६

पद०—अतः ६। एकहल्मध्ये ७। अनादेशादेः ६। लिटि ७। स०—एकश्च एकश्च एकौ, एकौ च तौ हलौ च एकहलौ, तयोर्मध्यः एकहल्मध्यस्तस्मिन् (तत्०)। अविद्यमानः आदेशः आदिर्यस्य स अनादेशादिस्तस्य (बहु०)। वृ०—लिटि परतः अनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्ये (असहाययोर्हलोर्मध्ये) योऽकारस्तस्य एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परे। उदा०—रेणतुः। रेणुः। नेदतुः। नेदुः।

१२१. थलि च सेटि १२६

पद०—थलि ७। च अ०। सेटि ७। वृ०—थलि च सेटि परतोऽनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्यगतस्य अतः स्थाने एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च। उदा०—पेचिथ। शेकिथ।

१२२. तॄ-फल-भज-त्रपश्च

पद०—तॄफलभजत्रपः ६। च अ०। स०—तॄश्च फलश्च भजश्च त्रप् च इति तेषां समाहारः, तत् तॄफलभजत्रप् तस्य (स० द्व०)। वृ०—तॄ, फल, भज, त्रप् इत्येतेषामङ्गानामकारस्य स्थाने एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि परतः थलि च सेटि। उदा०—तेरतुः। तेरुः। तेरिथ। फेलतुः। फेलुः। फेलिथ। भेजतुः। भेजुः। भेजिथ। त्रेपे। त्रेपाते। त्रेपिरे।

---

१२०. 'लिटि' इत्यस्य प्रथमपदस्य 'अनादेशादेः' इति पदेन सह सम्बन्धः। अपरस्य 'क्ङिति' इति पदेन सह सम्बन्धः।

१२४. वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् १२५

पद०—वा० अ०। जॄभ्रमुत्रसाम् ६। स० जॄश्च भ्रमुश्च त्रस् च जॄभ्रमुत्रसस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—जॄ, भ्रमु, त्रस् इत्येतेषामङ्गानामकारस्य स्थाने वा एकरादेशो भवति अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि परतः थलि च सेटि। उदा०—जेरतुः। जेरुः। जेरिथ। जजरतुः। जजरुः। जजरिथ। एवं भ्रमुत्रसोरपि।

१२५. फणां च सप्तानाम्

पद०—फणाम् ६। च अ०। सप्तानाम् ६। वृ०—फणादीनां सप्तानां धातूनामकारस्य स्थाने वा एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि परतः थलि च सेटि। उदा०—फेणतुः। फेणुः। फेणिथ। पफणतुः। पफणुः। पफणिथ। एवम् अन्येषां षण्णां धातूनामपि।

१२६. न शस-दद-वादि-गुणानाम्

पद०—न अ०। शसददवादिगुणानाम् ६। स०—वकारः आदिर्यस्य स वादिः, शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणास्तेषाम् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—शस, दद इत्येतयोर्वकारादीनां च धातूनां गुणशब्देनाभिनिर्वृत्तस्य च योऽकारस्तस्य स्थाने एकारादेशोऽभ्यासलोपश्च न भवति लिटि क्ङिति थलि च सेटि परतः। उदा०—विशशसतुः। विशशसुः। विशशसिथ। ददद। दददाते। ददिरे। ववमतुः। ववमुः। ववमिथ। विशशरतुः। विशशरुः। विशशरिथ। लुलविथ। पुपविथ।

१२७. अर्वणस्त्रसावनञः १२८

पद०—अर्वणः ६। तृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। असौ ७। अनञः ५। स०—न सुः असुः, तस्मिन् (नञ्तत्०)। न नञ् अनञ् तस्मात् (नञ्तत्०)। वृ०—नञा रहितस्य अर्वन् इत्येतस्याङ्गस्य तृ इत्ययमादेशो भवति न, तु सौ परे। उदा०—अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वन्तम्। अर्वन्तौ। अर्वतः। अर्वता। अर्वद्भ्याम्। अर्वद्भिः। अर्वती। आर्वतम्। (बहुलापकर्षान्न सर्वादेशः)।

१२८. मघवा बहुलम्

पद०—मघवा षष्ठ्यर्थे प्रथमा। बहुलम् १। वृ०—मघवन् इत्येतस्याङ्गस्य बहुलं तृ इत्ययमादेशो भवति। उदा०—मघवान्। मघवन्तौ। मघवन्तः। मघवन्तम्। मघवन्तौ। मघवतः। मघवता। मघवती। माघवतम्। मघवा। मघवानौ। मघवानः। मघवानम्। मघवानौ। मघोनः। मघोना इत्यादयः। स्त्रियाम् - मघोनी। माघवनम्। (बहुलग्रहणान्न सर्वादेशः)।

---

१२५. फण, राजृ, टुभ्राजृ, टुभाशृ, टुभ्लाशृ, स्यमु, स्वन इत्येते फणादयः।

१२९. भस्य १७५

पद०—भस्य ६। वृ०—अधिकारोऽयम् आपादपरिसमाप्तेः 'ऋत्व्य० ६।४।१७५' इति सूत्रं यावत्। यदितः ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो भस्य इत्येवं तद् वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१३०. पादः पत्

पद०—पादः ६। पत् १। वृ०—पादशब्दान्तस्याङ्गस्य भस्य पद् इत्ययमादेशो भवति। उदा०—द्विपदः पश्य। द्विपदा। द्विपदे।

१३१. वसोः सम्प्रसारणम् १३३

पद०—वसोः ६। सम्प्रसारणम् १। वृ०—वस्वन्तस्याङ्गस्य भस्य सम्प्रसारणं भवति। उदा०—विदुषः पश्य। विदुषा। विदुषे।

१३२. वाह ऊठ्

पद०—वाहः ६। ऊठ् १। वृ०—वाह् इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य ऊठ् इत्येतत् सम्प्रसारणं भवति। उदा०—प्रष्ठौहः। प्रष्ठौहा। प्रष्ठौहे।

१३३. श्व-युव-मघोनामतद्धिते

पद०—श्वयुवमघोनाम् ६। अतद्धिते ७। स०—श्वा च युवा च मघवा च श्वयुवमघवानस्तेषाम् (इ० द्व०)। न तद्धितः अतद्धितस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—श्वन्, युवन्, मघवन् इत्येतेषां भसंज्ञकानामङ्गानामतद्धिते प्रत्यये परे सम्प्रसारणं भवति। उदा०—शुनः। शुना। शुने। यूनः। यूना। यूने। मघोनः। मघोना। मघोने।

१३४. अल्लोपोऽनः १३८, १४५, १३७

पद०—अल्लोपः १। अनः ६। स०—अतो लोपः अल्लोपः (तत्०)। वृ०—अन् इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य अकारलोपो भवति। उदा०—राज्ञः पश्य। राज्ञा। राज्ञे।

१३६. विभाषा ङि-श्योः

पद०—विभाषा १। ङिश्योः ७। स०—ङिश्च शी च ङिश्यौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ङि शी इत्येतयोः परतः अन्नन्तस्याङ्गस्य विभाषा अकार-लोपो भवति। उदा०—राज्ञि। राजनि। साम्नि। सामनि। साम्नी। सामनी।

१३७. न संयोगाद् व-मन्तात्

पद०—न अ०। संयोगात् ५। वमन्तात् ५। स०—वश्च मश्च वमौ, वमौ अन्ते यस्य स वमन्तस्तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—वकारान्तात् मकारान्तात् संयोगात् परस्य अनोऽकारस्य लोपो न भवति। उदा०—पर्वणा। पर्वणे। चर्मणा। चर्मणे।

१३८. अचः १३९

पद०—अचः ६। वृ०—लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्य अकारस्य लोपो भवति। उदा०—दधीचः पश्य। दधीचा। दधीचे।

१३९. उद ईत्

पद०—उदः ५। ईत् १। उदः परस्य भसंज्ञकस्याच ईकारादेशो भवति। उदा०—उदीचः। उदीचा। उदीचे।

१४०. आतो धातोः

पद०—आतः ६। धातोः ६। वृ०—आकारान्तस्य धातोर्भस्याङ्गस्य लोपो भवति। उदा०—कीलालपः पश्य। कीलालपा। कीलालपे।

१४२. ति विंशतेर्डिति १४३

पद०—ति लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। विंशतेः ६। डिति ७। स०—ड् इत् यस्य स डित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—भस्य विंशतेस्तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परे लोपो भवति। उदा०—विंशत्या क्रीतः विंशकः। विंशं शतम्। ('शदन्त-विंशतेश्च: ५।२।४६' इति डः)। विंशतेः पूरणो विंशः। एकविंशः। ('तस्य पूरणे डट् ५।४।४८' इति डट्)।

१४३. टेः १४५

पद०—टेः ६। वृ०—भस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति डिति प्रत्यये परे। उदा०—कुमुद्वान्। उपसरजः। त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः।

१४४. नस्तद्धिते १४९

पद०—नः ६। तद्धिते ७। वृ०-नकारान्तस्य भस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति, तद्धिते परे। उदा०—आग्निशर्म्मिः।

---

१४२. तेन क्रीतमित्यर्थे 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन् संज्ञायाम् ५।१।२४' इति ड्वुन् विंशकः।

१४५. अह्नष्ट-खोरेव

पद०—अह्नः ६। टखोः ७। एव अ०। स०—टश्च खश्च टखौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अहन् इत्येतस्याङ्गस्य टखोरेव परतः टेर्लोपो भवति। उदा०—द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः। त्र्यहः। द्वे अहनी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा द्व्यहीनः। त्र्यहीनः। अह्नां समूहः क्रतुः अहीनः क्रतुः।

१४६. ओर्गुणः १४७

पद०—ओः ६। गुणः १। वृ०—उवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परे। उदा०—बाभ्रव्यः। माण्डव्यः।

१४७. ढे लोपोऽकद्र्वाः १५६

पद०—ढे ७। लोपः १। अकद्र्वाः ६। स०—न कद्रूः अकद्रूः, तस्याः (नञ्तत्०)। वृ०—कद्रूवर्जितस्योवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य ढे परे लोपो भवति। उदा०—कामण्डलेयः। जाम्बेयः। माद्रवाहेयः। शैतिवाहेयः।

१४८. यस्येति च १५०

पद०—यस्य ६। ईति ७। च अ०। स०—इश्च अश्च इति तयोः समाहारः, यम् तस्य (स० द्व०)। वृ०—इवर्णान्तस्य अवर्णान्तस्य चाङ्गस्य भस्य ईकारे परे तद्धिते च लोपो भवति। उदा०—दाक्षी। दौलेयः। कुमारी। प्लाक्षिः।

वा० औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः

उदा०—कुड्ये। सौर्ये हिमवतः शृङ्गे।

१४९. सूर्य-तिष्यागस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः १५२, १५०

पद०—सूर्य ... मत्स्यानाम् ६। यः ६। उपधायाः ६। स०—सूर्यश्च तिष्यश्च अगस्त्यश्च मत्स्यश्च सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्याः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—सूर्य, तिष्य, अगस्त्य, मत्स्य इत्येतेषां यकारस्य उपधाया भस्य लोपो भवति, ईति परे तद्धिते च। उदा०—सौरी वलाका। तैषमहः। तैषी रात्रिः। आगस्ती। आगस्तीयः। मत्सी।

१५०. हलस्तद्धितस्य १५२

पद०—हलः ५। तद्धितस्य ६। च अ०। वृ०—हलः परस्य तद्धितयकारस्य उपधाया ईति परे लोपो भवति। उदा०—गार्गी। वात्सी।

१५४. तुरिष्ठेमेयस्सु　　　१६३

पद०—तुः ६। इष्ठेमेयस्सु ७। स०—इष्ठश्च इमा च ईयश्च इष्ठेमेयसस्तेषु (इ० द्व०)। वृ०—इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् इत्येतेषु परेषु तृ इत्येतस्य भस्याङ्गस्य लोपो भवति। उदा०—आसुतिं करिष्ठः। विजयिष्ठः। बहिष्ठः। दोहीयसी धेनुः।

१५५. टेः

पद०—टेः ६। वृ०—इष्ठेमेयस्सु परेषु भस्य टेर्लोपो भवति। उदा०—पटिष्ठः। पटिमा। पटीयान्। लघिष्ठः। लघिमा। लघीयान्।

१५६. स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः

पद० – स्थूल······णाम् ६। यणादिपरम् १। पूर्वस्य ६। च अ०। गुणः १। स०—स्थूलञ्च दूरञ्च युवा च ह्रस्वश्च क्षिप्रश्च क्षुद्रश्च स्थूल···क्षुद्राः, तेषाम् (इ० द्व०)। यण् आदिर्यस्य तद् यणादि, यणादि च तत् परं यणादिपरम् (बहुव्रीहिगर्भः कर्मधारयस्तत्०)। वृ०—इष्ठेमेयस्सु परेषु स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत्येतेषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुणो भवति। उदा०—स्थविष्ठः। स्थवीयान्। दविष्ठः। दवीयान्। यविष्ठः। यवीयान्। ह्रसिष्ठः। ह्रसीयान्। ह्रसिमा। क्षेपिष्ठः। क्षेपीयान्। क्षेपिमा। क्षोदिष्ठः। क्षोदीयान्। क्षोदिमा।

१५७. प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्बंहि-गर्वर्षि-त्रब्द्राघि-वृन्दाः

पद० – प्रिय······काणाम् ६। प्रस्थ···वृन्दाः १। स०—प्रियश्च स्थिरश्च स्फिरश्च उरुश्च बहुलश्च गुरुश्च वृद्धश्च तृप्रश्च दीर्घश्च वृन्दारकश्च प्रिय·········वृन्दारकाः, तेषाम् (इ० द्व०)। प्रश्च स्थश्च स्फश्च वर् च बंहिश्च गर् च वर्षिश्च त्रप् च द्राघिश्च वृन्दश्च प्र······वृन्दाः (इ० द्व०)। वृ०—इष्ठेमेयस्सु परेषु प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति। उदा०—प्रेष्ठः। प्रेयान्। स्थेष्ठः। स्थेयान्। स्फेष्ठः। स्फेयान्। वरिष्ठः। वरिमा। वरीयान्। बंहिष्ठः। बंहिमा। बंहीयान्। गरिष्ठः। गरीयान्। गरिमा। वर्षिष्ठः। वर्षीयान्। त्रपिष्ठः। त्रपीयान्। द्राघिष्ठः। द्राघीयान्। द्राघिमा। वृन्दिष्ठः। वृन्दीयान्।

१५८. बहोर्लोपो भू च बहोः १५९

पद०—बहोः ५ । लोपः १ । भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । च अ० । बहोः ६ । वृ०—बहोः परेषामिष्ठेमेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति । उदा०—भूयान् । भूमा ।

१५९. इष्ठस्य यिट् च

पद०—इष्ठस्य ६ । यिट् १ । च अ० । वृ०—बहोः परस्य इष्ठन् इत्येतस्य यिडागमो भवति, बहोश्च भूरादेशो भवति । उदा०—भूयिष्ठः ।

१६०. ज्यादादीयसः

पद०—ज्यात् ५ । आत् १ । ईयसः ६ । वृ०—ज्यात् परस्य ईयस आकारादेशो भवति । उदा०—ज्यायान् ।

१६१. र ऋतो हलादेर्लघोः १६२

पद०—रः १ । ऋतः ६ । हलादेः ६ । लघोः ६ । स०—हल् आदिः यस्य तद् हलादिः तस्य (बहु०) । वृ०—इष्ठेमेयस्सु परेषु हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र आदेशो भवति । उदा०—प्रथिष्ठः । प्रथिमा । प्रथीयान् ।

१६३. प्रकृत्यैकाच् १७०

पद०—प्रकृत्या ३ । एकाच् १ । स०—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच् (बहु०) । वृ०—इष्ठेमेयस्सु परेषु एकाज् यद्भसंज्ञकं तत् प्रकृत्या भवति । उदा०—स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । स्रजयति । स्रुचिष्ठः । स्रुचीयान् । स्रुचयति ।

१६४. इनण्यनपत्ये १६६, १७१

पद०—इन् १ । अणि ७ । अनपत्ये ७ । स०—न अपत्यः अनपत्यस्तस्मिन् (नञ्तत्०) । वृ०—अनपत्यार्थेऽणि परे इन्नन्तं भसंज्ञकाङ्गं प्रकृत्या भवति । उदा०—सांकूटिनम् । सांराविणम् । सांमार्जिनम् । स्रग्विणं इदं स्राग्विणम् ।

१६५. गाथि-विदथि-केशि-गणि-पणिनश्च

पद०—गाथि······पणिनः १ । च अ० । स०—गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च गाथि ···· पणिनः (इ० द्व०) । वृ०—गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इत्येते च अणि परे प्रकृत्या भवन्ति । उदा०—गाथिनः । वैदथिनः । कैशिनः । गाणिनः । पाणिनः ।

१६७. अन् १७०

पद०—अन् १। वृ०—अन्नन्तं भसंज्ञकमङ्गं प्रकृत्या भवति अणि परे। उदा०—सामनः। वैमनः।

१६८. ये चाभाव-कर्मणोः

पद०—ये ७। च अ०। अभावकर्मणोः ७। स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, न भावकर्मणी अभावकर्मणि, तयोः (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—यकारादौ च तद्धिते अभावकर्मणोरन् प्रकृत्या भवति। उदा०—सामसु साधुः सामन्यः। ब्राह्मण्यः।

१६९. आत्माध्वानौ खे

पद०—आत्माध्वानौ १। खे ७। स०—आत्मा च अध्वा च आत्माध्वानौ (इ० द्व०)। वृ०—खे प्रत्यये परे आत्मन्, अध्वन् इत्येतौ प्रकृत्या भवतः। उदा०—आत्मने हितः आत्मनीनः। अध्वानमलङ्गामी अध्वनीनः।

(अङ्गस्य[1] राल्लोपः[2] विड्वनो०[3] वाऽऽक्रोश०[4] इणो[5] हुझल्भ्यो[6] थलि[7] मन्त्रेष्वा[8] र ऋतो पञ्चदश च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये षष्ठाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ इति शिवम् ॥ १३५ ॥

अथ सप्तमाध्याये

प्रथमः पादः

(अथ प्रत्ययादेशप्रकरणम्)

१. यु-वोरनाकौ

पद०—युवोः ६। अनाकौ १। स०—युश्च वुश्च तयोः समाहारः युवु, तस्य (स० द्व०)। अनश्च अकश्च अनाकौ (इ० द्व०)। वृ०—यु वु इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यम् अन, अक इत्येतौ आदेशौ भवतः। उदा०—नन्दनः। कारकः।

२. आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम् ५

पद०—आयनेयीनीयियः १। फढखछघाम् ६। प्रत्ययादीनाम् ६। स०—आयन् च एय् च ईन् च ईय् च इय् च आयनेयीनीयियः (इ० द्व०)। फश्च ढश्च खश्च छश्च घ् च फढखछघः, तेषाम् (इ० द्व०)। प्रत्ययस्य आदयः प्रत्ययादयस्तेषाम् (तत्०)। वृ०—प्रत्ययादीनां फ, ढ, ख, छ, घ इत्येतेषां स्थाने यथासंख्यम् आयन्, एय्, ईन्, ईय्, इय् इत्येते आदेशा भवन्ति। उदा०—नाडायनः। सौपर्णेयः। आढ्यकुलीनः। गार्गीयः। क्षत्रियः।

३. झोऽन्तः ७

पद०—झः ६। अन्तः १। वृ०—प्रत्ययावयवस्य झ इत्यस्य स्थाने अन्त इत्ययमादेशो भवति। उदा०—कुर्वन्ति।

४. अदभ्यस्तात् ७

पद०—अत् १। अभ्यस्तात् ५। वृ०—अभ्यस्तात् अङ्गात् परस्य झ् इत्यस्य स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति। उदा०—ददति। ददतु।

५. आत्मनेपदेष्वनतः

पद०—आत्मनेपदेषु ७। अनतः ५। स०—न अत् अनत् तस्मात् (नञ्तत्०)। वृ०—अनकारान्तादङ्गात् परस्य झस्य स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति आत्मनेपदेषु। उदा०—चिन्वते। चिन्वताम्। अचिन्वत।

६. शीङो रुट्　　　　　　८

पद०—शीङः ५। रुट् १। वृ०—शीङोऽङ्गात् परस्य झादेशस्यादौ रुडागमो भवति। उदा०—शेरते। शेरताम्। अशेरत।

७. वेत्तेर्विभाषा

पद०- वेत्तेः ५। विभाषा १। वृ०—वेत्तेरङ्गात् परस्य झादेशस्यातो विभाषा रुडागमो भवति। उदा०—संविद्रते। संविदते। संविद्रताम्। संविदताम्। समविद्रत। समविदत।

९. अतो भिस ऐस्　　　　　　१७, ११, ११

पद०—अतः ५। भिसः ६। ऐस् १। वृ०—अदन्तादङ्गात् परस्य भिसः स्थाने ऐस् इत्ययमादेशो भवति। उदा०—वृक्षैः।

११. नेदमदसोरकोः

पद०—न अ०। इदमदसोः ६। अकोः ६। स०—इदम् च अदस् च इदमदसौ, तयोः (इ० द्व०)। अविद्यमानः 'क्' ययोस्तौ अकौ, तयोः (बहु०)। वृ०—इदम् अदस् इत्येतयोरककारयोः भिसः स्थाने ऐस् न भवति। उदा०—एभिः। अमीभिः।

१२. टा-ङसि-ङसामिनात्-स्याः

पद०—टाङसिङसाम् ६। इनात्स्याः १। स०—टा च ङसिश्च ङस् च इति ते, तेषाम् (इ० द्व०)। इनश्च आत् च स्यश्च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—अदन्तादङ्गात् परेषां टा, ङसि, ङस् इत्येतेषां स्थाने यथासंख्यम् इन, आत्, स्य इत्येते आदेशाः भवन्ति। उदा०—वृक्षेण। वृक्षात्। वृक्षस्य। ('न विभक्तौ० १।३।४' इति न 'त्' इत्)।

१३. ङेर्यः　　　　　　१४

पद०—ङेः ६। यः १। वृ०—अकारान्तादङ्गात् परस्य ङेः स्थाने यः आदेशो भवति। उदा०— वृक्षाय।

(अथ निरनुबन्धस्यादेशः)

१४. सर्वनाम्नः स्मै

पद०—सर्वनाम्नः ५। स्मै १। वृ०—अकारान्तात् सर्वनाम्नः परस्य ङेः स्थाने स्मै इत्ययमादेशो भवति। उदा०—सर्वस्मै। विश्वस्मै।

१५. ङसि-ङ्योः स्मात्-स्मिनौ १६

पद०—ङसिङ्योः ६। स्मात्स्मिनौ १। स०—ङसिश्च ङिश्च ङसिङी, तयोः (इ० द्व०)। स्मात् च स्मिन् च स्मात्स्मिनौ (इ० द्व०)। वृ०—अकारान्तात् सर्वनाम्नः परयोः ङसि, ङि इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं स्मात् स्मिन् इत्येतौ, आदेशौ भवत.। उदा०—सर्वस्मात्। सर्वस्मिन्।

१६. पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा

पद०—पूर्वादिभ्यः ५। नवभ्यः ५। वा अ०। स०—पूर्वं आदिर्येषां ते पूर्वादयस्तेभ्यः (बहु०)। वृ०—पूर्वादिभ्यो नवभ्यः सर्वनामभ्यः परयोः ङसिङ्योः स्थाने स्मात्स्मिनौ आदेशौ वा भवतः। उदा०—पूर्वस्मात्। पूर्वस्मिन्। पूर्वात्। पूर्वे।

१७. जशः शी १९

पद०—जशः ६। शी लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। वृ०—अकारान्तात् सर्वनाम्नः परस्य जसः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति। उदा०—सर्वे। (शित्वात् सर्वादेशः)।

१८. औङ आपः १९

पद०—औङः ६। आपः ५। वृ०—आबन्तादङ्गात् परस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति। उदा०—खट्वे तिष्ठतः। खट्वे पश्य। बहुराजे। कारीषगन्ध्ये।

१९. नपुंसकाच्च २०

पद०—नपुंसकात् ५। च अ०। वृ०—नपुंसकादङ्गात् परस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति। उदा०—कुण्डे तिष्ठतः। कुण्डे पश्य।

२०. जश्शसोः शिः २२

पद०—जश्शसोः ६। शिः १। स०—जस् च शस् च जश्शसौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—नपुंसकादङ्गात् परयोः जश्शसोः स्थाने शिः आदेशो भवति। उदा०—कुण्डानि तिष्ठन्ति। कुण्डानि पश्य।

२१. अष्टाभ्य औश्

पद०—अष्टाभ्यः ५। औश् १। वृ०—कृताकारेभ्य अष्टाभ्यः परयोः जश्शसोः स्थाने औश् आदेशो भवति। (अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति)। उदा०—अष्टौ तिष्ठन्ति। अष्टौ पश्य (आत्वाभावे अष्ट, अष्ट)।

२२. षड्भ्यो लुक् २३

पद०—षड्भ्यः ५ । लुक् १ । वृ०—षट्संज्ञकेभ्यः परयोः जश्शसोर्लुग् भवति । उदा०—षट् तिष्ठन्ति । षट् पश्य । पञ्च । सप्त । नव । दश ।

२३. स्वमोर्नपुंसकात् २६, २४

पद०—स्वमोः ६ । नपुंसकात् । ५ । स०—सुश्च अम् च स्वमौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—नपुंसकादङ्गात् परयोः स्वमोर्लुग्भवति । उदा०—दधि तिष्ठति । दधि पश्य ।

२४. अतोऽम्

पद०—अतः ५ । अम् १ । वृ०—अदन्तान्नपुंसकादङ्गात् परयोः स्वमोः स्थाने अम् आदेशो भवति । उदा०—कुण्डं तिष्ठति । कुण्डं पश्य ।

२५. अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः २६

पद० – अद्ड् १ । डतरादिभ्यः ५ । पञ्चभ्यः ५ । स०—डतर आदिर्येषां ते डतरादयस्तेभ्यः (बहु०) । वृ०—डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः परयोः स्वमोः 'अद्ड्' इत्ययमादेशो भवति । उदा०—कतरत् तिष्ठति । कतरत् पश्य ।

२७. युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ३३

पद०—युष्मदस्मद्भ्याम् ५ । ङसः ६ । अश् १ । स०—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदी, ताभ्याम् (इ० द्व०) । वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽश् आदेशो भवति । उदा०—तव स्वम् । मम स्वम् ।

२८. ङे प्रथमयोरम्

पद०—ङे लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः । प्रथमयोः ६ । अम् १ । वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमयोश्च विभक्त्योः (प्रथमाद्वितीययोः) स्थाने अम् इत्ययमादेशो भवति । उदा०—तुभ्यं दीयते । मह्यं दीयते । त्वम् । अहम् । युवाम् । आवाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् ।

२९. शसो न

पद०—शसः ६ । न लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति (अमोऽपवादः) । उदा०—('आदेः परस्य १।१।५४', 'संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३') युष्मान् ब्राह्मणान् । अस्मान् ब्राह्मणान् ।

३०. भ्यसो भ्यम् ३१

पद०—भ्यसः ६। भ्यम् १। वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसः स्थाने भ्यम् आदेशो भवति। उदा०—युष्मभ्यं दीयते। अस्मभ्यं दीयते।

३१. पञ्चम्या अत् ३२

पद०—पञ्चम्याः ६। अत् १। वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य पञ्चम्याः भ्यसः स्थाने 'अत्' आदेशो भवति। उदा०—युष्मद् गच्छन्ति। अस्मद् गच्छन्ति।

३२. एकवचनस्य च

पद०—एकवचनस्य ६। च अ०। वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य पञ्चम्या एकवचनस्य च स्थाने अत् आदेशो भवति। उदा०—त्वत्। मत्।

३३. साम आकम्

पद०—सामः ६। आकम् १। वृ०—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य सामः स्थाने आकम् आदेशो भवति। उदा०—युष्माकम्। अस्माकम्।

३४. आत औ णलः

पद०—आतः ५। औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। णलः ६। वृ०—अकारान्ताद‌ङ्गात् परस्य णलः स्थाने औकारादेशो भवति। उदा०—पपौ।

३५. तु-ह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ३६

पद०—तुह्योः ६। तातङ् १। आशिषि ७। अन्यतरस्याम् ७। स०—तुश्च हिश्च तुही तयोः (इ० द्व०)। वृ०- आशिषि विषये तुह्योः स्थाने तातङ् आदेशो भवत्यन्यतरस्याम् (अन्यार्थं ङित्वमिति सर्वादेशः)। उदा०—जीवताद् भवान्। जीवतात् त्वम्। जीवतु भवान्। जीव त्वम्।

३६. विदेः शतुर्वसुः

पद०—विदेः ५। शतुः ६। वसुः १। वृ०—'विद ज्ञाने' इत्येतस्माद्धातोः शतुः स्थाने वसुः आदेशो भवति अन्यतरस्याम्। उदा०—विद्वान्। विद्वांसौ। विद्वांसः। विदन्। विदन्तौ। विदन्तः।

---

३०. अत्र केचित् 'अभ्यम्' इति पदच्छेदं कुर्वन्ति।

३६. केचित् अन्यतरस्यां ग्रहणं नानुवर्त्तयन्ति।

३७. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ३८

पद०—समासे ७। अनञ्पूर्वे ७। क्त्वः ६। ल्यप् १। स०—न नञ् अनञ्, अनञ् पूर्वो यस्मिन् सोऽनञ्पूर्वस्तस्मिन् (नञ्गर्भो बहु०)। वृ०—अनञ्पूर्वे समासे क्त्वा इत्येतस्य स्थाने ल्यप् आदेशो भवति। उदा०—प्रकृत्य। प्रहृत्य। पार्श्वतः कृत्य। नानाकृत्य। द्विधाकृत्य।

३८. क्त्वापि छन्दसि ५०

पद०—क्त्वा १। अपि अ०। छन्दसि ७। वृ०—छन्दसि विषये समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वा इत्ययमादेशो भवति, अपि शब्दात् ल्यप् च। उदा०—कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा। प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा। उद्धृत्य जुहोति।

३९. सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्णाच्छे-या-डा-ड्या-याजालः

पद०—सुपाम् ६। सु…लः १। स०—सुश्च लुक् च पूर्वसवर्णश्च आ च आत् च शे च या च डा च ड्या च याच् च आल् च इति ते (इ० द्व०)। वृ०—छन्दसि विषये सुपां स्थाने स्वादयः आदेशा भवन्ति। उदा०—सु—अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः। पन्थान इति प्राप्ते। लुक्-लोहिते चर्मन्। चर्म्मणीति प्राप्ते। पूर्वसवर्णः—धीती। मती। सुष्टुती। धीत्या मत्या सुष्टुत्या इति प्राप्ते। आ - उभा यन्तारौ। उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। आत्—न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि। तान् ब्राह्मणानिति प्राप्ते। शे—न युष्मे बाजबन्धवः। अस्मे इन्द्रा बृहस्पती। यूयं वयमिति प्राप्ते। या—उरुया। धृष्णुया। उरुणा धृष्णुना इति प्राप्ते। डा—नाभा पृथिव्याम्। नाभौ पृथिव्यामिति प्राप्ते। ड्या—अनुष्ट्या च्यावयतात्। अनुष्टुभेति प्राप्ते। याच्—साधुया। साध्विति सोलुकि प्राप्ते। आल्—वसन्ता यजेत। वसन्त इति प्राप्ते।

वा० इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्

उदा०—इया—उर्विया परिधानम्। दार्विया। उरुणा दारुणा इति प्राप्ते। डियाच्—सुक्षेत्रिया। सुगात्रिया। सुक्षेत्रिणा सुगात्रिणेति प्राप्ते। ईकारः—दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्। सरसि शयानम् इति प्राप्ते।

वा०—आङ्याजयाराणामुपसंख्यानम्

उदा०—आङ्—प्रबाहवा। प्रबाहुनेति प्राप्ते। अयाच्—स्वप्नया स च सेवनम्। स्वप्नेनेति प्राप्ते। अयार्—सिन्धुमिव नावया। नावेति प्रा॰।

५०. आज्जसेरसुक् ५२, ५१

पद०—आत् ५। जसेः ६। असुक् १। वृ०—छन्दसि विषये अवर्णान्तादङ्गात् परस्य जसेरसुक् आगमो भवति। उदा०—ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः। ब्राह्मणाः सोम्या इति प्राप्ते।

५१. अश्व-क्षीर-वृष-लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि

पद०—अश्वक्षीरवृषलवणानाम् ६। आत्मप्रीतौ ७। क्यचि ७। स०—अश्वश्च क्षीरञ्च वृषश्च लवणञ्च अश्वक्षीरवृषलवणानि, तेषाम् (इ० द्व०)। आत्मनः प्रीतिः आत्मप्रीतिस्तस्याम् (तत्०)। वृ० - अश्व, क्षीर, वृष, लवण इत्येतेषामङ्गानामात्मप्रीतिविषये क्यचि परे असुक् आगमो भवति। उदा०—अश्वस्यति वडवा। क्षीरस्यति माणवकः। वृषस्यति गौः। लवणस्यत्युष्ट्रः।

५२. आमि सर्वनाम्नः सुट् ५७

पद०—आमि ७। सर्वनाम्नः ५। सुट् १। वृ०—अवर्णान्तात् सर्वनाम्नः परस्यामः सुट् आगमो भवति। उदा०—सर्वेषाम्। विश्वेषाम्। (पूर्वत्र पञ्चमी सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्पयतीति परिभाषया वृत्तिनिर्माणम्। टित्त्वादाम आदौ सुट्)।

५३. त्रेस्त्रयः

पद०—त्रेः ६। त्रयः १। वृ०—त्रि इत्येतस्याङ्गस्य त्रयः आदेशो भवति, आमि परे। उदा०—त्रयाणाम्।

५४. ह्रस्वनद्यापो नुट् ५७

पद०—ह्रस्वनद्यापः ५। नुट् १। स०—ह्रस्वश्च नदी च आप् च इति तेषां समाहारः ह्रस्वनद्याप्, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—ह्रस्वान्तात् नद्यन्तात् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुट् आगमो भवति। उदा०—वृक्षाणाम्। कुमारीणाम्। खट्वानाम्।

५५. षट्-चतुर्भ्यश्च

पद०—षट्चतुर्भ्यः ५। च अ०। स०—षट् च चत्वारश्च षट्चत्वारस्तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—षट्संज्ञकेभ्यश्चतुःशब्दाच्च परस्यामो नुट् आगमो भवति। उदा०—षण्णाम्। पञ्चानाम्। सप्तानाम्। नवानाम्। दशानाम्। चतुर्णाम्।

५८. इदितो नुम् धातोः ८३

उदा०—इदितः ६। नुम् १। धातोः ६। स०—इत् इत् यस्य स इदित्, तस्य (बहु०)। वृ०—इदितो धातोर्नुमागमो भवति। उदा०—कुण्डिता। कुण्डितुम्। कुण्डितव्यम्। कुण्डा। ('गुरोश्च हलः' ३।३।१०३' इति स्त्रियाम-प्रत्ययः)।

५९. शे मुचादीनाम्

पद०—शे ७। मुचादीनाम् ६। स०—मुच् आदिर्येषां ते मुचादयस्तेषाम् (बहु०)। वृ०—शे प्रत्यये परे मुचादीनामङ्गानां नुमागमो भवति। उदा०—मुञ्चति। लुम्पति।

वा० तृम्फादीनामुपसंख्यानम्

उदा०—तृम्फति। दृम्फति।

६०. मस्जि-नशोर्झलि

पद०—मस्जिनशोः ६। झलि ७। स०—मस्जिश्च नश् च मस्जिनशौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—मस्जि नशि इत्येतयोरङ्गयोर्झलादौ प्रत्यये परे नुमागमो भवति। उदा०—मङ्क्ता। मङ्क्तुम्। मङ्क्तव्यम्। नंष्टा। नंष्टुम्। नंष्टव्यम्।

वा० मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः

उदा०—मग्नः। मग्नवान्।

६१. रधि-जभोरचि ६४

पद०—रधिजभोः ६। अचि ७। स०—रधिश्च जभ् च रधिजभौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अजादौ प्रत्यये परे रधि जभि इत्येतयोरङ्गयोर्नुमागमो भवति उदा०—रन्धयति। रन्धकः। साधुरन्धी। रन्धं रन्धम्। रन्धो वर्त्तते। जम्भयति। जम्भकः। साधुजम्भी। जम्भञ्जम्भम्। जम्भो वर्त्तते।

६२. नेटचलिटि रधेः

पद०—न अ०। इटि ७। अलिटि ७। रधेः ६। स०—न लिट् अलिट्, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—इडादावलिटि प्रत्यये परे रधेरङ्गस्य नुमागमो न भवति। उदा०—रधिता। रधितुम्। रधितव्यम्।

६३. रभेरशब्लिटोः ६४

पद०—रभेः ६। अशब्लिटोः ७। स०—शप् च लिट् च शब्लिटौ, न शब्लिटौ अशब्लिटौ तयोः (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—शब्लिड्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये परे रभेरङ्गस्य नुमागमो भवति। उदा०—आरम्भयति। आरम्भकः। साध्वारम्भी। आरम्भमारम्भम्। आरम्भो वर्त्तते।

६४. लभेश्च ६९

पद०—लभेः ६। च० अ०। वृ०—शब्लिड्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये परे लभेरङ्गस्य च नुमागमो भवति। उदा०—लम्भयति। लम्भकः। साधुलम्भी। लम्भं लम्भम्। लम्भो वर्त्तते।

७०. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७२

पद०—उगिदचाम् ६। सर्वनामस्थाने ७। अधातोः ६। स०—उक् इत् येषां ते उगितः, उगितश्च अच्च उगिदचस्तेषाम् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। न धातुरधातुस्तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—धातुवर्जितानामुगितामङ्गानामञ्चतेश्च नुमागमो भवति सर्वनामस्थाने परे। उदा०—भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। श्रेयान्। श्रेयांसौ। श्रेयांसः। पचन्। पचन्तौ। पचन्तः। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः।

७१. युजेरसमासे

पद०—युजेः ६। असमासे ७। स०—न समासः असमासः, तस्मिन् (नञतत्०)। वृ०—युजेरङ्गस्यासमासे सर्वनामस्थाने परे नुमागमो भवति। उदा०—युङ्। युञ्जौ। युञ्जः।

७२. नपुंसकस्य झलचः ७७

पद०—नपुंसकस्य ६। झलचः ६। स०—झल् च अच् च इति तयोः समाहारः झलच्, तस्य (स० द्व०)। वृ०—नपुंसकस्य झलन्तस्य अजन्तस्य च नुमागमः भवति सर्वनामस्थाने परे। उदा०—यशांसि। कुण्डानि।

७३. इकोऽचि विभक्तौ ७४, ७५

पद०—इकः ६। अचि ७। विभक्तौ ७। वृ०—इगन्तस्य नपुंसकस्याङ्गस्याजादौ विभक्तौ परे नुमागमो भवति। उदा०—त्रपुणी। जतुनी। तुम्बुरुणी। त्रपुणे। जतुने। तुम्बुरुणे।

७४. तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम् पुंवद्गालवस्य　　७६

पद०—तृतीयादिषु ७। भाषितपुंस्कम् १। पुंवत् अ०। गालवस्य ६। स०—तृतीया आदिर्येषां ताः तृतीयादयस्तासु (बहु०)। भाषितः पुमान् येन तत् भाषितपुंस्कम् (बहु०)। वृ०—तृतीयादिषु विभक्तिष्वजादिषु भाषितपुंस्क-नपुंसकलिङ्गमिगन्तं गालवस्याचार्यमतेन पुंवद् भवति। उदा०—ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन। ग्रामणिना ब्राह्मणकुलेन इत्येवमादयः।

७५. अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः　　७७, ७६, ७७

पद०—अस्थि……णाम् ६। अनङ् १। उदात्तः १। स०—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च अस्थि ……क्षीणि तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानामङ्गानां तृतीयादिषु अजादिषु विभक्तिषु परेषु 'अनङ्' आदेशो भवति, स चोदात्तो भवति। उदा०—अस्थ्ना। अस्थ्ने। दध्ना। दध्ने। सक्थ्ना। सक्थ्ने। अक्ष्णा। अक्ष्णे।

७८. नाभ्यस्ताच्छतुः　　७९, ८१

पद०—न अ०। अभ्यस्तात् ५। शतुः ६। वृ०—अभ्यस्तादङ्गात् परस्य शतुर्नुम् न भवति। उदा०—ददत्। ददतौ। ददतः।

७९. वा नपुंसकस्य　　८०

पद०—वा अ०। नपुंसकस्य ६। वृ०—अभ्यस्तादङ्गात् परो यः शतृप्रत्य-यस्तदन्तस्य नपुंसकस्य वा नुमागमो भवति। उदा०—ददति कुलानि। ददन्ति कुलानि।

८० आच्छीनद्योर्नुम्　　८१

पद०—आत् ५। शीनद्योः ७। नुम् १। स०—शी च नदी च शीनद्यौ, तयोः (इ०द्व०)। वृ०—अवर्णान्तादङ्गात् परस्य शतुर्वा नुमागमो भवति शीनद्योः परयोः। उदा०—तुदती कुले। तुदन्ती कुले। तुदती ब्राह्मणी। तुदन्ती ब्राह्मणी।

८१. शप्-श्यनोर्नित्यम्

पद०—शप्श्यनोः ६। नित्यम् १। स०—शप् च श्यन् च शप्श्यनौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—शप्श्यनोः शतुः शीनद्योः परयोः नित्यं नुमागमो भवति। उदा०—पचन्ती कुले। दीव्यन्ती कुले। पचन्ती ब्राह्मणी। दीव्यन्ती ब्राह्मणी।

८२. सावनडुहः ८५

पद०—सौ ७। अनडुहः ६। वृ०—सौ परे अनुडुहोऽङ्गस्य नुमागमो भवति। उदा०—अनड्वान्। हे अनड्वन्। (अत्र आदित्यधिकारात् विशेष-विहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। अमा च नुम् न बाध्यते। सोर्लोपः। संयोगान्तलोपासिद्धया नलोपो न।)

८४. दिव औत्

पद०—दिवः ६। औत् १। वृ०—दिव इत्येतस्य प्रातिपदिकस्य सौ परे औत् इत्ययमादेशो भवति। उदा०—द्यौः।

८५. पथि-मथ्यृभुक्षामात् ८८

पद०—पथिमथ्यृभुक्षाम् ६। आत् ५। स०—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च पथिमथ्यृभुक्षाणस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् इत्येतेषामङ्गानां सौ परे अकारादेशो भवति। उदा०—पन्थाः। मन्थाः। ऋभुक्षाः।

८६. इतोऽत्सर्वनामस्थाने ९८

पद०—इतः ६। अत् १। सर्वनामस्थाने ७। वृ०—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् इत्येतेषामिकारस्य स्थाने अकारादेशो भवति सर्वनामस्थाने परे। उदा०—पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ। एवमन्यद्वयमपि ज्ञेयम्।

८७. थो न्थः

पद०—थः ६। न्थः १। वृ०—पथिमथोस्थकारस्य स्थाने न्थः आदेशो भवति सर्वनामस्थाने परे। उदा०—पन्थाः। पन्थानौ इत्येवमादयः।

८८. भस्य टेर्लोपः

पद०—भस्य ६। टेः ६। लोपः १। वृ०—पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेर्लोपो भवति। उदा०—पथः। पथा। पथे। एवमन्यद्वयमपि ज्ञेयम्।

८९. पुंसोऽसुङ्

पद०—पुंसः ६। असुङ् १। वृ०—पुंस इत्येतस्याङ्गस्य सर्वनामस्थाने परेऽसुङ् आदेशो भवति। उदा०—पुमान्। पुमांसौ। पुमांसः। पुमांसम्। पुमांसौ।

९०. गोतो णित् ९२

पद०—गोतः ५। णित् १। स०—णकार इत् यस्य स णित् (बहु०)। वृ०—गोशब्दात् परं सर्वनामस्थानं णिद्वद् भवति। उदा०—गौः। गावौ। गावः। गाम्। गावौ। (अत्र गकारोऽविवक्षितः। तेन द्यौः द्यावौ द्याव इत्यादि। अतिदेशसूत्रम्)।

९१. णलुत्तमो वा

पद०—णल् १। उत्तमः १। वा अ०। वृ०—उत्तमो णल् वा णिद् भवति। उदा०—अहं चकर। अहं चकार।

९२. सख्युरसम्बुद्धौ ९३, ९५

पद०—सख्युः ५। असम्बुद्धौ ७। स०—न सम्बुद्धिः असम्बुद्धिस्तस्याम् (नञ्तत्०)। वृ०—असम्बुद्धौ यः सखिशब्दस्तस्मात् परं सर्वनामस्थानं णिद्वद् भवति। उदा०—सखायौ। सखायः। सखायम्। सखायौ।

९३. अनङ् सौ ९४

पद०—अनङ् १। सौ ७। वृ०—सखिशब्दस्य असम्बुद्धौ सौ परे अनङ् आदेशो भवति। उदा०—सखा।

९४. ऋदुशनस्-पुरुदंसोऽनेहसां च

पद०—ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ६। च अ०। स०—ऋच्च उशनश्च पुरुदंसश्च अनेहश्च ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—ऋकारान्तानामङ्गानाम् उशनस्, पुरुदंसस्, अनेहस् इत्येतेषां चाङ्गानाम् असम्बुद्धौ सौ परेऽनङ् आदेशो भवति। उदा०—कर्त्ता। उशना। पुरुदंसा। अनेहा।

९८. चतुरनडुहोराम्उदात्तः ९९

पद०—चतुरनडुहोः ६। आम् १। उदात्तः १। स०—चतुश्च अनड्वांश्च चतुरनडुहौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सर्वनामस्थाने परे चतुरनडुहोः आम् आगमो भवति, स चोदात्तः। उदा०—चत्वारः। अनड्वान्। अनड्वाहः। अनड्वाहम्। अनड्वाहौ।

९९. अम् सम्बुद्धौ

पद०—अम् १। सम्बुद्धौ ७। वृ०—सम्बुद्धौ परे चतुरनडुहोरमागमो भवति। उदा०—हे प्रियचत्वः। हे प्रियानड्वन्।

१००. ऋत इद्धातोः १०३, १०१, १०३

पद०—ऋतः ६। इत् १। धातोः ६। वृ०—ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य इकारादेशो भवति। उदा०—किरति।

१०१. उपधायाश्च

पद०—उपधायाः ६। च अ०। वृ०—धातोरङ्गस्योपधायाश्च ऋकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति। उदा०—कीर्त्तयति। कीर्त्तयतः। कीर्त्तयन्ति।

१०२. उदोष्ठ्यपूर्वस्य १०३

पद०—उत् १। ओष्ठ्यपूर्वस्य ६। स०—ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् स ओष्ठ्यपूर्वस्तस्य (बहु०)। वृ०—ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् ऋकारात् तदन्तस्य धातोरङ्गस्य उकारादेशो भवति। उदा०—पूर्त्ताः पिण्डाः। पुपूर्षति। मुमूर्षति। ('हलि च ८। २। ७७' इति दीर्घः)।

(युवो०[१] अष्टाभ्य०[२] लोपस्त[३] रधि०[४] शप्०[५] उपधायाश्च त्रीणि च इति प्रथमः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये सप्तमाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ७७ ॥

अथ द्वितीयः पादः

(अथ वृद्धिप्रकरणम्)

१. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७

पद०—सिचि ७। वृद्धिः १। परस्मैपदेषु ७। वृ०—परस्मैपदेषु परेषु सिचि परे इगन्तस्याङ्गस्य वृद्धिः भवति। उदा०—अचैषीत्। अकार्षीत्। ('इको गुणवृद्धी १।१।३' इतीक उपलब्धिः। 'येन विधि० १।१।७२' इति तदन्तविधिः)।

२. अतो ल्रान्तस्य

पद०—अतः ६। ल्र लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। अन्तस्य ६। स०—ल् च रश्च तयोः समाहारः ल्रम् तस्य (स० द्व०)। वृ०—अकारसमीपौ यौ रेफलकारौ तदन्तस्याङ्गस्य अत एव स्थाने वृद्धिर्भवति परस्मैपदे सिचि परे। उदा०—अज्वालीत्। अक्षारीत्।

३. वद-व्रज-हलन्तस्याचः ४

पद०—वदव्रजहलन्तस्य ६। अचः ६। स०—हल् अन्ते यस्य स हलन्तः, वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च तेषां समाहारः वदव्रजहलन्तम्, तस्य (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—वद व्रज इत्येतयोः हलन्तानां चाङ्गानामचः स्थाने वृद्धिर्भवति परस्मैपदे सिचि परे। उदा०—अवादीत्। अव्राजीत्। अपाक्षीत्। अभैत्सीत्।

४. नेटि ७

पद०—न अ०। इटि ७। वृ०—परस्मैपदे इडादौ सिचि परे हलन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्न भवति। उदा०—अदेवीत्। असेवीत्। अकोषीत्। अमोषीत्।

५. ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम्

पद०—ह्म्यन्त ···दिताम् ६। स०—ह् च म् च य् च ह्म्यः, ह्म्योऽन्ते यस्य स ह्म्यन्तः, एकार इत् यस्य स एदित्, ह्म्यन्तश्च क्षणश्च श्वसश्च जागृ च णिश्च श्विश्च एदित् च ह्म्यन्त······दितस्तेषाम् (द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—ह्, म्, य् इत्यन्तानाम्, क्षणादेः, ण्यन्तस्य, श्वयतेः, एदिता-

ञ्चाङ्गानाम् इडादौ सिचि परस्मैपदे परे वृद्धिर्न भवति। उदा०—अग्रहीत्। अस्यमीत्। अव्ययीत्। अक्षणीत्। अश्वसीत्। अजागरीत्। औनयीत्। अश्वयीत्। अकखीत्। अरगीत्। अहसीत्।

६. ऊर्णोतेर्विभाषा ७

पद०—ऊर्णोतेः ६। विभाषा १। वृ०—उर्णुञ्धातोरिडादौ सिचि परस्मैपदे परे विभाषा वृद्धिर्न भवति। उदा०—प्रौर्णावीत्। प्रौर्णवीत्।

७. अतो हलादेर्लघोः

पद०—अतः ६। हलादेः ६। लघोः ६। स०—हल् आदिर्यस्य स हलादिस्तस्य (बहु०)। वृ०—हलादेरङ्गस्य लघोरकारस्य इडादौ सिचि परस्मैपदे परे विभाषा वृद्धिर्न भवति। उदा०—अकणीत्। अकाणीत्।

(उक्ता वृद्धिः)।

(अथ अनिट्प्रकरणम्)

८. नेड् वशि कृति ३४, ९

पद०—न अ०। इट् १। वशि ७। कृति ७। वृ०—वशादौ कृति प्रत्यये परे इडागमो न भवति। उदा०—ईशिता। ईशितुम्। ईश्वरः। दीपिता। दीपितुम्। दीप्रः। भासिता। भासितुम्। भस्म। याचिता। याचितुम्। याच्ञा।

९. ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च

पद०—ति··· सेषु ७। च अ०। स०—तिश्च तुश्च त्रश्च तश्च थश्च सिश्च सुश्च सरश्च कश्च सश्च ति····कसाः तेषु (इ० द्व०)। वृ०—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इत्येतेषु कृत्सु परेषु इडागमो न भवति। उदा०—तन्तिः। दीप्तिः। सक्तुः। पत्रम्। हस्तः। कुष्ठम्। कुक्षिः। इक्षुः। अक्षरम्। शल्कः। वत्सः।

१०. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्

पद०—एकाचः ५। उपदेशे ७। अनुदात्तात् ५। स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्मात् (बहु०)। न विद्यते उदात्तो यस्मिन् स अनुदात्तस्तस्मात् (बहु०)। वृ०—उपदेशे यो धातुरेकाच् अनुदात्तश्च तस्माद् इडागमो न भवति। उदा०—दाता। कर्त्ता।

---

७. हलः सेट् सिचि वृद्धिर्नातो हलादेर्लघोस्तुवा।
स्याल्लान्तस्य वदव्रज्यो न श्वसक्षणह्मयेदिताम्॥ इति संक्षेपः।

९. 'ति' इति क्तिन्क्तिचोः सामान्यग्रहणम्।

११. श्र्युकः किति १२

पद०—श्र्युकः ६। किति ७। स०—श्रिश्च उक् च तयोः समाहारः श्र्युक्, तस्य (स० द्व०)। क् इत् यस्य स कित् तस्मिन् (बहु०)। वृ०—श्रि इत्येतस्य उगन्तानां च किति प्रत्यये परे इडागमो न भवति। उदा० - श्रित्वा। श्रितः। श्रितवान्। युत्वा। युतः। युतवान्। लूत्वा। लूनः। लूनवान्। वृत्वा। वृतः। वृतवान्। तीर्त्वा। तीर्णः। तीर्णवान्।

१२. सनि ग्रह-गुहोश्च

पद०—सनि ७। ग्रहगुहोः ६। च अ०। स०—ग्रहश्च गुह् च ग्रहगुहौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ग्रहगुहोः उगन्तानां च सनि प्रत्यये परे इडागमो न भवति। उदा० – जिघृक्षति। जुघुक्षति। रुरूषति। लुलूषति।

१३. कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि

पद०—कृ······श्रुवः ६। लिटि ७। स०—कृश्च सृश्च भृश्च वृश्च स्तुश्च द्रुश्च स्रुश्च श्रुश्च तेषां समाहारः कृ·········श्रु तस्य (स० द्व०)। वृ०—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु इत्येतेषामङ्गानां लिटि प्रत्यये परे इडागमो न भवति। उदा०—चकृव। चकृम। ससृव। ससृम। बभृव। बभृम। ववृव। ववृम। ववृवहे। ववृमहे। तुष्टुव। तुष्टुम। दुद्रुव। दुद्रुम। सुस्रुव। सुस्रुम। शुश्रुव। शुश्रुम।

१४. श्वीदितो निष्ठायाम् ३४

पद०—श्वीदितः ६। निष्ठायाम् ७। स०—ईत् इत् यस्य स ईदित्, श्विश्च ईदिच्च तयोः समाहारः श्वीदित् तस्य (बहुव्रीहिगर्भः स० द्व०)। वृ०—श्वि इत्येतस्य ईदितश्च निष्ठायाम् इडागमो न भवति। उदा०—शूनः। शूनवान्। लग्नः। लग्नवान्। दीप्तः। दीप्तवान्।

१५. यस्य विभाषा

पद०—यस्य ६। विभाषा १। वृ० - यस्य धातोर्विभाषा इट् उक्तस्तस्य निष्ठायाम् इडागमो न भवति। उदा०—('स्वरतिसूति ७। २। ४४') विधूतः। विधूतवान्। ('उदितो वा ७। २। ५६') गूढः। गूढवान्। वृद्धः। वृद्धवान्।

१६. आदितश्च १७

पद०—आदितः ६। च अ०। स०—आत् इत् यस्य स आदित्, तस्य (बहु०)। वृ०—आदितश्च धातोर्निष्ठायाम् इडागमो न भवति। उदा०—मिन्नः। मिन्नवान्।

---

१२. 'सनीवन्त ७।२।४९' इति वि ल्पविधानात् 'श्रि' इत्येतस्यात्र नानुवर्त्तनम्।

(अथ इडागमप्रकरणम्)

३५. आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७५, ७८

पद०—आर्धधातुकस्य ६। इट् १। वलादेः ६। स०—वल् आदिर्यस्य स वलादिस्तस्य (बहु०)। वृ०—वलादेरार्धधातुकस्य इडागमो भवति। उदा०—लविता। लवितुम्। लवितव्यम्।

३७. ग्रहोऽलिटि दीर्घः ३८, ४०

पद०—ग्रहः ५। अलिटि ७। दीर्घः १। स०—न लिट् अलिट् तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—ग्रहः परस्य इटः अलिटि दीर्घो भवति। उदा०—ग्रहीता। ग्रहीतुम्। ग्रहीतव्यम्।

३८. वृतो वा ४२

पद०—वृतः ५। वा अ०। स०—वृश्च ऋत् च तयोः समाहारः वृत् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—वृ इत्येतस्मात् ऋकारान्तेभ्यश्च इटो अलिटि वा दीर्घो भवति। उदा०—वरिता। वरीता। प्रावरिता। प्रावरीता। तरिता। तरीता। आस्तरिता। आस्तरीता।

३९. न लिङि ४०

पद०—न अ०। लिङि ७। वृ०—वृतः परस्य इटो लिङि दीर्घो न भवति। उदा०—विवरिषीष्ट। प्रावरिषीष्ट। आस्तरिषीष्ट। विस्तरिषीष्ट।

४०. सिचि च परस्मैपदेषु

पद०—सिचि ७। च अ०। परस्मैपदेषु ७। वृ०—वृतः परस्य परस्मैपदेषु सिचि परे इटो दीर्घो न भवति। उदा०—प्रावारिष्टाम्। प्रावारिषुः। अतारिष्टाम्। अतारिषुः। आस्तारिष्टाम्। आस्तारिषुः।

४१. इट् सनि वा ४३

पद०—इट् १। सनि ७। वा० अ०। वृ०—वृतः परस्य सनो वा इडागमो भवति। उदा०—वुवूर्षते। विवरिषते। विवरीषते। प्रावुवूर्षति। प्राविवरिषति। प्राविवरीषति। तितीर्षति। तितरिषति। तितरीषति। आतिस्तीर्षति। आतिस्तरिषति। आतिस्तरीषति।

४२. लिङ्-सिचोरात्मनेपदेषु ४३

पद०—लिङ्सिचोः ७। आत्मनेपदेषु ७। स०—लिङ् च सिच् च लिङ्-सिचौ, तयोः (इ० द्व०) वृ०।—वृतः परस्य लिङि सिचि चात्मनेपदे परे

वा इडागमो भवति। उदा०—वृषीष्ट। वरिषीष्ट। प्रावृषीष्ट। प्रावरिषीष्ट। आस्तरिषीष्ट। आस्तीर्षीष्ट। अवृत। अवरिष्ट। अवरीष्ट। प्रावृत। प्रावरिष्ट। प्रावरीष्ट। आस्तीर्ष्ट। आस्तरिष्ट। आस्तरीष्ट।

४३. ऋतश्च संयोगादेः

पद०—ऋतः ५। च अ०। संयोगादेः ५। स०—संयोगः आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्य (बहु०)। वृ० - ऋदन्तात् संयोगादेर्धातोः परयोः लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु वा इडागमो भवति। उदा०—ध्वृषीष्ट। ध्वरिषीष्ट। स्मृषीष्ट। स्मरिषीष्ट। अध्वृषाताम्। अध्वरिषाताम्। अस्मृषाताम्। अस्मरिषाताम्।

४४. स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा ५१

पद०—स्वरति……दितः ५। वा अ०। स०—ऊत् इत् यस्य स ऊदित्, स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदित् च तेषां समाहारः स्वरति…दित् तस्य (बहुव्रीहिगर्भः स० द्व०)। वृ०—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् इत्येतेभ्यः ऊदिद्भ्यश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति। उदा०—स्वर्त्ता। स्वरिता। (अदादिः) प्रसोता। प्रसविता। (दिवादिः षूङ्) सोता। सविता। धोता। धविता। गोप्ता। गोपिता। विगाढा। विगाहिता।

४५. रधादिभ्यश्च

पद०—रधादिभ्यः ५। च अ०। स० रध आदिर्येषां ते रधादयस्तेभ्यः (बहु०)। वृ०—रधादिभ्यः परस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति। उदा०—रद्धा। रधिता इत्येवमादयः।

४८. तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः

पद०—ति ७। इषसहलुभरुषरिषः ५। स०—इषश्च सहश्च लुभश्च रुषश्च रिट् च तेषां समाहारः इष……रिट् तस्य (स० द्व०)। वृ०—इषु, सह, लुभ, रुष, रिष इत्येतेभ्यः तकारादावार्धधातुके परे वा इडागमो भवति। उदा०—एष्टा। एषिता। सोढा। सहिता। लोब्धा। लोभिता। रोष्टा। रोषिता। रेष्टा। रेषिता।

५०. क्लिशः क्त्वा-निष्ठयोः ५४

पद०—क्लिशः ५। क्त्वानिष्ठयोः ६। स०—क्त्वा च निष्ठा च क्त्वानिष्ठे तयोः (इ० द्व०)। वृ०—क्लिशः परयोः क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमो भवति। उदा०—क्लिष्ट्वा। क्लिशित्वा। क्लिष्टः। क्लिष्टवान्। क्लिशितः। क्लिशितवान्।

---

४४. वेति वर्त्तमाने पुनर्वा ग्रहणम् लिङ्सिचोर्निवृत्त्यर्थम्।

५१. पूङश्च

पद०—पूङः ५ । च अ० । वृ०—पूङश्च परयोः क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमो भवति । उदा०—पूत्वा । पवित्वा । सोमोऽतिपूतः । सोमोऽतिपवितः । पूतवान् । पवितवान् ।

५२. वसति-क्षुधोरिट् ७८

पद०—वसतिक्षुधोः ६ । इट् १ । स०—वसतिश्च क्षुध् च वसतिक्षुधौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—वसतेः क्षुधेश्च परयोः क्त्वानिष्ठयोः इडागमो भवति । उदा०—उषित्वा । उषितः । उषितवान् । क्षुधित्वा । क्षुधितः । क्षुधितवान् ।

५३. अञ्चेः पूजायाम्

पद०—अञ्चेः ५ । पूजायाम् ७ । वृ०—पूजायामर्थे अञ्चेः परयोः क्त्वा निष्ठयोरिडागमो भवति । उदा०—अञ्चित्वा जानु जुहोति । अञ्चिता अस्य गुरवः ।

५५. जॄ-व्रश्च्योः क्त्वि ५६

पद०—जॄव्रश्च्योः ६ । क्त्वि ७ । स०—जॄश्च व्रश्चिश्च जॄव्रश्ची, तयोः जॄव्रश्च्योः (इ० द्व०) । वृ०—जॄव्रश्च्योः क्त्वाप्रत्यये परे इडागमो भवति । उदा०—जरित्वा । जरीत्वा । व्रश्चित्वा ।

५६. उदितो वा ५७

पद०—उदितः ५ । वा अ० । स०—उत् इत् यस्य स उदित्, तस्मात् (बहु०) । वृ०—उदितो धातोः क्त्वाप्रत्यये परे वा इडागमो भवति । उदा०—शमित्वा । शान्त्वा ।

५७. सेऽसिचि कृत-चृत च्छृद-तृद-नृतः ६०

पद०—से ७ । असिचि ७ । कृतचृतच्छृदतृदनृतः ५ । स०—न सिच् असिच् तस्मिन् (नञ्तत्०) । कृतश्च चृतश्च च्छृदश्च तृदश्च नृत् च तेषां समाहारः कृत……नृत् तस्मात् (स० द्व०) । वृ०—सकारादावसिच्यार्धधातुके कृत, चृत, च्छृद, तृद, नृत इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वा इडागमो भवति । उदा०—कर्त्स्यति । अकर्त्स्यत् । चिकृत्सति । कर्त्तिष्यति । अकर्तिष्यत् । चिकर्त्तिषति । चर्त्स्यति । अचर्त्स्यत् । चिचृत्सति । चर्त्तिष्यति । अचर्त्तिष्यत् । चिचर्त्तिषति । छर्त्स्यति । अच्छर्त्स्यत् । चिच्छृत्सति । छर्दिष्यति । अच्छर्दिष्यत् । चिच्छर्दिषति । तर्त्स्यति । अतर्त्स्यत् । तितृत्सति । तर्दिष्यति । अतर्दिष्यत् । तितर्दिषति । नर्त्स्यति । अनर्त्स्यत् । निनृत्सति । नर्तिष्यति । अनर्तिष्यत् । निनर्तिषति ।

५२. विकल्पप्रकरणे इड्ग्रहणं नित्यार्थं नो चेत् सर्वत्र विकल्प एव स्यात् ।

५८. गमेरिट् परस्मैपदेषु ६०

पद०—गमेः ५। इट् १। परस्मैपदेषु ७। वृ०—गमेः परस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो भवति। उदा०—गमिष्यति। अगमिष्यत्। जिगमिषति।

५९. न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ६५

पद०—न अ०। वृद्भ्यः ५। चतुर्भ्यः ५। वृ०—वृतादिभ्यश्चतुर्भ्यः परस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति। उदा०—वर्त्स्यति। अवर्त्स्यत्। विवृत्सति। वर्त्स्यति। अवर्त्स्यत्। विवृत्सति। शर्त्स्यति। अशर्त्स्यत्। शिशृत्सति। स्यन्त्स्यति। अस्यन्त्स्यत्। सिस्यन्त्स्यति।

६०. तासि च क्लृपः ६२

पद०—तासि लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। च अ०। क्लृपः ५। वृ०—क्लृपः परस्य तासेः सकारादेश्चार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति। उदा०—श्वः कल्ता। कल्प्स्यति। अकल्प्स्यत्। चिक्लृप्सति।

६१. अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् ६२, ६६, ६३, ६२

पद०—अचः ५। तास्वत् अ०। थलि ७। अनिटः ५। नित्यम् १। स०—न इट् अनिट्, तस्मात् (नञ्तत०)। वृ०-तासौ नित्यानिटामजन्तानां धातूनां तासाविव थलि इडागमो न भवति। उदा०—ययाथ। चिचेथ। निनेथ। जुहोथ।

६२. उपदेशेऽत्वतः

पद०—उपदेशे ७। अत्वतः ५। वृ०—तासौ नित्यानिटः उपदेशे अकारवतो धातोः तासाविव थलि इडागमो न भवति। उदा०—पपक्थ। इयष्ठ। शशक्थ।

६३. ऋतो भारद्वाजस्य

पद०—ऋतः ५। भारद्वाजस्य ६। वृ०—तासौ नित्यानिटः ऋकारान्ताद्धातोर्भारद्वाजस्याचार्यस्य मतेन तासाविव थलि इडागमो न भवति। उदा०—सस्मर्थ। दध्वर्थ।

---

५८. विकल्पप्रकरणे इड्ग्रहणं नित्यार्थं नो चेत् सर्वत्र विकल्प एव स्यात्।

६१. अनुगमः—अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥

६५. विभाषा सृजि-दृशोः

पद०—विभाषा १। सृजिदृशोः ६। स०—सृजिश्च दृश् च सृजिदृशौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सृजिदृशोः थलि विभाषा इडागमो न भवति। उदा०—सस्रष्ठ। ससर्जिथ। दद्रष्ठ। ददर्शिथ।

६६. इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम् ७८

पद०—इट् १। अत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ६। स०—अत्तिश्च अर्तिश्च व्ययतिश्च अत्त्यर्तिव्ययतयः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—अत्ति, अर्ति, व्ययति इत्येतेषामङ्गानां थलि इडागमो भवति। उदा०—आदिथ। आरिथ। संविव्ययिथ।

७०. ऋद्धनोः स्ये

पद०—ऋद्धनोः ६। स्ये ७। स०—ऋच्च हन् च ऋद्धनौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०-ऋकारान्तानां धातूनां हन्तेश्च स्ये इडागमो भवति। उदा०—करिष्यति। हनिष्यति।

७१. अञ्जेः सिचि ७२

पद०—अञ्जेः ५। सिचि ७। वृ०—अञ्जेः सिचि इडागमो भवति। उदा०—आञ्जीत्। आञ्जिष्टाम्। आञ्जिषुः।

७२. स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७३

पद०—स्तुसुधूञ्भ्यः ५। परस्मैपदेषु ७। स०—स्तुश्च सुश्च धूञ् च स्तुसुधूञस्तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०-स्तु, सु, धूञ् इत्येतेभ्यः सिचि इडागमो भवति परस्मैपदेषु। उदा०—अस्तावीत्। असावीत्। अधावीत्।

७३. यम-रम-नमातां सक् च

पद०—यमरमनमाताम् ६। सक् १। च अ०। स०—यमश्च रमश्च नमश्च आच्च यमरमनमातस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—यम, रम, नम इत्येतेषामङ्गानामाकारान्तानाञ्च परस्मैपदे सिचि इडागमो भवति, सक् चागमः। उदा०—अयंसीत्। अयंसिष्टाम्। अयंसिषुः। व्यरंसीत्। व्यरंसिष्टाम्। व्यरंसिषुः। अनंसीत्। अनंसिष्टाम्। अनंसिषुः। अयासीत्। अयासिष्टाम्। अयासिषुः।

७४. स्मि-पूङ्-रञ्ज्वशां सनि ७५

पद०—स्मि···शाम् ६। सनि ७। स०—स्मिश्च पूङ् च ऋश्च अञ्जूश्च अशूश्च इति स्मिपूङ्रञ्ज्वशवस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू इत्येतेषां धातूनां सनीडागमो भवति। उदा०—सिस्मयिषते। पिपविषते। अरिरिषति। अञ्जिजिषति। अशिशिषते।

---

६६. विकल्पप्रकरणे इड्ग्रहणं नित्यार्थं नो चेत् सर्वत्र विकल्प एव स्यात्।

७५. किरश्च पञ्चभ्यः ७६

पद०—किरः ५। च अ०। पञ्चभ्यः ५। वृ०—किरादिभ्यः पञ्चभ्यः धातुभ्यः सनीडागमो भवति। उदा०—कॄ-चिकरिषति। गॄ-जिगरिषति। दृङ्-दिदरिषते। धृङ्-दिधरिषते। प्रच्छ-पिपृच्छिषति।

७६. रुदादिभ्यः सार्वधातुके ८१

पद०—रुदादिभ्यः ५। सार्वधातुके ७। स०—रुद आदिर्येषां ते रुदादयस्तेभ्यः (बहु०)। वृ०—रुदादिभ्यः पञ्चभ्यो धातुभ्यः परस्य वलादेः सार्वधातुकस्य इडागमो भवति। उदा०—रोदिति। स्वपिति। श्वसिति। प्राणिति। जक्षिति।

७७. ईशः से ७८

पद०—ईशः ५। से लुप्तसप्तमीकं पदम्। वृ०—ईशः परस्य 'से' इत्येतस्य सार्वधातुकस्य इडागमो भवति। उदा०—ईशिषे। ईशिष्व।

७८. ईड-जनोर्ध्वे च

पद०—ईडजनोः ६। ध्वे पञ्चम्यर्थे लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। स०—ईडश्च जन् च ईडजनौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ईड, जन इत्येताभ्यां धातुभ्यां परस्य 'ध्वे' इत्येतस्य च सार्वधातुकस्य इडागमो भवति। उदा०—ईडिध्वे। ईडिध्वम्। ईडिषे। ईडिष्व। जनिध्वे। जनिध्वम्। जनिषे। जनिष्व। (ध्वेशब्दे ईशेरपि इडागम इष्यते) ईशिध्वे। ईशिध्वम्।

(उक्त इट्)

७९. लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य

पद०—लिङः ६। सलोपः १। अनन्त्यस्य ६। स०—सस्य लोपः सलोपः (तत्०)। अन्ते भवोऽन्त्यः, न अन्त्यः अनन्त्यस्तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—सार्वधातुकस्य लिङोऽनन्त्यस्य सकारस्य लोपो भवति। उदा०—कुर्यात्। कुर्याताम्। कुर्युः। कुर्वीत। कुर्वीयाताम्। कुर्वीरन्।

८०. अतो येयः ८२, ८१

पद०—अतः ५। या लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। इयः १। वृ०—अदन्तादङ्गात् परस्य 'या' इत्येतस्य सार्वधातुकस्य 'इय' इत्ययमादेशो भवति। उदा०—पचेत्। पचेताम्। पचेयुः।

---

७७. पूर्वत्र पञ्चमी परत्र सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्पयति इति परिभाषार्थः।

८१. आतो ङितः

पद०—आतः ६। ङितः ६। स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, तस्य (बहु०)। वृ० - अदन्तादङ्गात् परस्य ङितामाकारस्य सार्वधातुकस्य 'इय्' इत्ययमादेशो भवति। उदा०—पचेते। पचेथे। पचेताम्। पचेथाम्।

८२. आने मुक् ८३

पद०—आने ७। मुक् १। वृ०—आने परेऽङ्गस्यातो मुक् आगमो भवति। उदा०—पचमानः।

८३. ईदासः

पद०—ईत् १ । आसः ५ । वृ०—आसः परस्य आनस्य ईकारादेशो भवति। उदा०—आसीनो यजते।

(अथ विभक्तावादेशप्रकरणम्)

८४. अष्टन आ विभक्तौ ८८, ११३

पद०—अष्टनः ६ । आः १ । विभक्तौ ७। वृ०—अष्टनो विभक्तौ परे आकारादेशो भवति। उदा०—अष्टभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु।

८५. रायो हलि

पद०—रायः ६। हलि ७। वृ०—'रै' इत्येतस्याङ्गस्य हलादौ विभक्तौ परे आकारादेशो भवति। उदा०—राः। राभ्याम्। राभिः।

८६. युष्मदस्मदोरनादेशे ९८, ८९

पद०—युष्मदस्मदोः ६ । अनादेशे ७। स०—युष्मच्च अस्मच्च युष्मदस्मदी, तयोः (इ० द्व०)। न आदेशः अनादेशस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—युष्मदस्मदोरनादेशे विभक्तौ परे आकारादेशो भवति। उदा०—युष्माभिः। अस्माभिः। युष्मासु। अस्मासु।

८७. द्वितीयायां च

पद०—द्वितीयायाम् ७ । च अ० । वृ०—द्वितीयायां च विभक्तौ परे युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति। उदा०—त्वाम्। माम्। युवाम्। आवाम्। युष्मान्। अस्मान्।

---

८३. 'आदेः परस्य १।१।५४' इति आनाकारस्यैव ई भवति।

८८. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्

पद०—प्रथमायाः ६ । च अ० । द्विवचने ७ । भाषायाम् ७ । वृ०—प्रथमायाश्च द्विवचने विभक्तौ परे (औङीति सुवचम्) युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति भाषायां विषये । उदा०—युवाम् । आवाम् ।

८९. योऽचि

पद०—यः १ । अचि ७ । वृ०—अजादौ अनादेशे विभक्तौ परे युष्मदस्मदोर्यकारादेशो भवति । उदा०—त्वया । मया । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः ।

९०. शेषे लोपः

पद०—शेषे ७ । लोपः १ । वृ०—शेषे (यत्राकारः यकारश्च न विहितः, स शेषस्तस्मिन्) विभक्तौ युष्मदस्मदोर्लोपो भवति । उदा०—त्वम् । अहम् । यूयम् । वयम् । तुभ्यम् । मह्यम् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । त्वत् । मत् । युष्मत् । अस्मत् । तव । मम । युष्माकम् । अस्माकम् ।

९१. मपर्यन्तस्य ९८

पद०—मपर्यन्तस्य ६ । स०—मः पर्यन्तो यस्य स मपर्यन्तस्तस्य (बहु०) । वृ०—अधिकारोऽयम् 'प्रत्ययोत्तर० ७ । २ । ९८' इति सूत्रं यावत् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो मपर्यन्तस्येत्येवं तद्वेदितव्यम् । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

९२. युवावौ द्विवचने

पद०—युवावौ १ । द्विवचने १ । स०—युवश्च आवश्च युवावौ (इ० द्व०) । वृ०—द्विवचने द्व्यर्थयोर्युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य स्थाने युवावौ आदेशौ भवतः । उदा०—युवाम् । आवाम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः ।

---

९०. इति सूत्रस्य द्विधाऽर्थः १—शेषे आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ—अन्त्यलोपः । २—मपर्यन्तादन्यः शेषः अद् इति टेर्लोपः । 'पूर्वत्र पञ्चमी'ति परिभाषयास्य शेषलोप इत्यर्थः । सोऽपि 'अतो गुणे ६।१।९७' इत्यन्तरङ्गप्रवृतौ सत्यां जायते । इत्येवमर्थद्वयेऽपि न कोऽपि दोषः । टाबभावस्तु—अलिङ्गे युष्मदस्मदी इति सिद्ध एव ।
पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र शेषे लोपो विधीयते ॥ (स चान्त्यलोपः) ।

९३. यूय-वयौ जसि

पद०—यूयवयौ १। जसि ७। स०—यूयश्च वयश्च यूयवयौ (इ० द्व०)। वृ०—जसि विभक्तौ परे युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य स्थाने यूयवयौ आदेशौ भवतः। उदा०—यूयम्। वयम्।

९४. त्वाहौ सौ

पद०—त्वाहौ १। सौ ७। स०—त्वाश्च अहश्च त्वाहौ (इ० द्व०)। वृ०—सौ विभक्तौ परे युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य स्थाने त्वाहौ आदेशौ भवतः। उदा०—त्वम्। अहम्।

९५. तुभ्य-मह्यौ ङयि

पद०—तुभ्यमह्यौ १। ङयि ७। स०—तुभ्यश्च मह्यश्च तुभ्यमह्यौ (इ० द्व०)। वृ०—ङयि विभक्तौ परे युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य स्थाने तुभ्यमह्यौ आदेशौ भवतः। उदा०—तुभ्यम्। मह्यम्।

९६. तव-ममौ ङसि

पद०—तवममौ १। ङसि ७। स०—तवश्च ममश्च तवममौ (इ० द्व०)। वृ०—ङसि विभक्तौ परे युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य स्थाने तवममौ आदेशौ भवतः। उदा०—तव। मम।

९७. त्व-मावेकवचने ९८

पद०—त्वमौ १। एकवचने १। स०—त्वश्च मश्च त्वमौ (इ० द्व०)। वृ०—एकार्थयोः युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ आदेशौ भवतः। उदा०—त्वाम्। माम्। त्वया। मया। त्वत्। मत्। त्वयि। मयि।

९८. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च

पद०—प्रत्ययोत्तरपदयोः ७। च अ०। स०—प्रत्ययश्च उत्तरपदञ्च प्रत्ययोत्तरपदे, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—प्रत्यये उत्तरपदे च परे एकार्थयोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ आदेशौ भवतः। उदा०—तवायं त्वदीयः। मदीयः। अतिशयेन त्वम् त्वत्तरः। मत्तरः। त्वामिच्छति त्वद्यति। मद्यति। त्वमिवाचरति त्वद्यते। मद्यते। तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः। त्वं नाथोऽस्य त्वन्नाथः। मन्नाथः।

९९. त्रि-चतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ १००

पद०—त्रिचतुरोः ६। स्त्रियाम् ७। तिसृ-चतसृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। स०—त्रिश्च चतुर् च त्रिचतुरौ तयोः (इ० द्व०)। तिसृ च चतसृ च तयोः समाहारः तिसृचतसृ (स० द्व०)। वृ०—त्रिचतुरोः स्त्रियां क्रमेण तिसृ, चतसृ इत्येतौ आदेशौ भवतः विभक्तौ परे। उदा०—तिस्रः। चतस्रः। तिसृभिः। चतसृभिः।

१००. अचि र ऋतः १०१

पद०—अचि ७। रः १। ऋतः ६। वृ०—तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋतः स्थाने रेफादेशो भवति, अजादौ विभक्तौ परे। उदा०—तिस्रस्तिष्ठन्ति। तिस्रः पश्य। चतस्रस्तिष्ठन्ति। चतस्रः पश्य। (गुणदीर्घोत्वानामपवादः)।

१०२. त्यदादीनामः

पद०—त्यदादीनाम् ६। अः १। स०—त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयस्तेषाम् (बहु०)। वृ०—त्यदादीनामङ्गानामकारादेशो भवति विभक्तौ परे। उदा०—स्यः। त्यौ। त्ये। सः। तौ। ते। यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते। (द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः)।

१०३. किमः कः १०५

पद०—किमः ६। कः १। वृ०—किमः स्थाने कः आदेशो भवति विभक्तौ परे। उदा०—कः। कौ। के।

१०४. कु ति-होः

पद०—कु १। तिहोः ७। स०—तिश्च हश्च तिहौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ परे किमः 'कु' इत्ययमादेशो भवति। उदा०—कुतः। कुत्र। कुह।

१०५. क्वाति

पद०—क्व लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। अति ७। वृ०—अति विभक्तौ परे किमः 'क्व' इत्ययमादेशो भवति। उदा०—क्व गमिष्यसि।

१०६. त-दोः स सावनन्त्ययोः १०८

पद०—तदोः ६। सः १। सौ ७। अनन्त्ययोः ६। स०—तश्च दश्च तदौ, तयोः (इ० द्व०)। न अन्त्यौ अनन्त्यौ तयोः (नञ्तत्०)। वृ०—त्यदादीनामनन्त्ययोस्तकारदकारयोः स्थाने सकारादेशो भवति, सौ परे। उदा०—स्यः। सः। एषः। असौ।

१०७. अदस औ सुलोपश्च

पद०—अदसः ६ । औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । सुलोपः १ । च अ० । स०—सोर्लोपः सुलोपः (तत्०) । वृ०—अदसः सौ परे औकारादेशो भवति, सोश्च लोपो भवति । उदा०—असौ ।

१०८. इदमो मः ११३, १०९

पद०—इदमः ६ । मः १ । वृ०—इदमः सौ परे मकारोऽन्तादेशो भवति । उदा०—अयम् । इयम् ।

१०९. दश्च ११०

पद०—दः ६ । च अ० । वृ०—इदमो दकारस्य च स्थाने मकारादेशो भवति, विभक्तौ परे । उदा०—इमौ । इमे । इमम् । इमौ । इमान् ।

११०. यः सौ १११

पद०—यः १ । सौ ७ । वृ०—इदमो दकारस्य स्थाने यकारादेशो भवति, सौ विभक्तौ परे । उदा०—इयम् ।

१११. इदोऽय् पुंसि ११३

पद०—इदः ६ । अय् १ । पुंसि ७ । वृ०—इदम् इद्रूपस्य पुंसि सौ विभक्तौ परे अय् आदेशो भवति । उदा०—अयं ब्राह्मणः ।

११२. अनाप्यकः ११३

पद०—अन लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । आपि ७ । अकः ६ । स०—न विद्यते ककारो यस्मिन् तत् अक्, तस्य (बहु०) । वृ०—इदमोऽककारस्य इद्रूपस्य स्थाने अन इत्ययमादेशो भवति, आपि विभक्तौ परे । उदा०—अनेन । अनयोः ।

११३. हलि लोपः

पद०—हलि ७ । लोपः १ । वृ०—इदमोऽककारस्य इद्रूपस्य लोपो भवति हलादौ विभक्तौ परे । उदा०—आभ्याम् । एभिः । एभ्यः । एषाम् । एषु ।

११४. मृजेर्वृद्धिः ७।३।३५

पद०—मृजेः ६ । वृद्धिः १ । वृ०—मृजेरङ्गस्य इकः स्थाने वृद्धिर्भवति । उदा०—मार्ष्टि । मार्ष्टा । मार्ष्टुम् । मार्ष्टव्यम् ।

११५. अचो ञ्णिति ७।२।११५

पद०—अचः ६। ञ्णिति ७। स०—ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—अजन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति ञिति णिति च प्रत्यये परे। उदा०—एकस्तण्डुलनिचायः। द्वौ शूर्पनिष्पावौ। कारः। गौः। गावौ। गावः। सखायौ। सखायः।

११६. अत उपधायाः

पद०—अतः ६। उपधायाः ६। वृ०—अङ्गस्योपधायाः अकारस्य स्थाने वृद्धिर्भवति ञिति णिति च प्रत्यये परे। उदा०—भागः। पाकः। पाचयति। पाचकः।

११७. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७

पद०—तद्धितेषु ७। अचाम् ६। आदेः ६। वृ०—तद्धिते ञिति णिति च प्रत्यये परे अङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति। उदा०—गार्ग्यः। औपगवः।

११८. किति च ७।२।११८

पद०—किति ७। च अ०। स०—क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—किति च तद्धिते परे अङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति। उदा०—नाडायनः। आक्षिकः।

(सिचि०[१] प्रभौ०[२] इट् सनि०[३] अचस्ता०[४] आतो ङितः०[५] जराया अष्टादश च इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये सप्तमाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ९० ॥

---

११५. द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

अथ तृतीयः पादः

३. न य्-वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ५

पद०—न अ० । य्वाभ्याम् ५ । पदान्ताभ्याम् ५ । पूर्वौ १ । तु अ० । ताभ्याम् ५ । ऐच् १ । स०—य् च वश्च य्वौ, ताभ्याम् (इ० द्व०) । पदस्य अन्तौ पदान्तौ, ताभ्याम् (तत्०) । वृ०—पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य अचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति ञिति णिति किति च तद्धिते परे, ताभ्यां तु पूर्वमैजागमो भवति । उदा०—व्यसने भवं वैयसनम् । वैयाकरणः । स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः ।

४. द्वारादीनां च

पद०—द्वारादीनाम् ६ । च अ० । स०—द्वारम् आदिर्येषां ते द्वारादयस्तेषाम् (बहु०) । वृ०—द्वारादीनां य्वाभ्यां परस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति, ञिति णिति किति च तद्धिते परे, ताभ्यां तु पूर्वमैजागमो भवति । उदा०—द्वारे नियुक्तः दौवारिकः । द्वारपालस्येदं दौवारपालम् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः ।

(अथ उत्तरपदवृद्धिप्रकरणम्)

१०. उत्तरपदस्य ३१

पद०—उत्तरपदस्य ६ । वृ०—अधिकारोऽयम् 'यथातथ० ७।३।३१' इति सूत्रं यावत् । 'हनस्त० ७।३।३२' इति प्रागेतस्मात् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम उत्तरपदस्येत्येवं तद्वेदितव्यम् । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

१९. हृद्-भग-सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च २५

पद०—हृद्भगसिन्ध्वन्ते ७ । पूर्वपदस्य ६ । च अ० । स०—हृत् च भगञ्च सिन्धुश्च इति तेषां समाहारः हृद्भगसिन्धु तदन्ते यस्य तद् हृद्भगसिन्ध्वन्तम् तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०) । वृ०—हृद, भग, सिन्धु इत्येवमन्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परे । उदा०—सौहार्दम् । सौहार्द्यम् । सौभाग्यम् । दौर्भाग्यम् । सौभागिनेयः । दौर्भागिनेयः । सक्तुप्रधानाः सिन्धवः (सिन्धुः कच्छादिषु पठ्यते । तदन्तविधिना अण्) सक्तुसिन्धवः । साक्तुसैन्धवः । पानसैन्धवः ।

२०. अनुशतिकादीनां च

पद०—अनुशतिकादीनाम् ६। च अ०। स०—अनुशतिक आदिर्येषां तेऽनुशतिकादयस्तेषाम् (बहु०)। वृ०—अनुशतिकादीनां चाङ्गानां पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परे। उदा०—अनुशतिकस्येदं आनुशातिकम्।

(उक्त उत्तरपदाधिकारः)

३२. हनस्तोऽचिण्-णलोः

पद०—हनः ६। तः १। अचिण्णलोः ७। स०—चिण् च णल् च चिण्णलौ, न चिण्णलौ अचिण्णलौ, तयोः (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—हनस्तकारादेशो भवति ञिति णिति च प्रत्यये परे चिण्णलौ वर्जयित्वा। उदा०—घातयति। घातकः। साधुघाती। घातंघातम्। घातो वर्त्तते।

३३. आतो युक् चिण्-कृतोः ३५

पद०—आतः ६। युक् १। चिण्कृतोः ७। स०—चिण् च कृत् च चिण्कृतौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—आकारान्तस्याङ्गस्य युक् आगमो भवति चिणि कृति ञ्णिति च प्रत्यये परे। उदा०—अदायि। अधायि। दायः दायकः। धायः। धायकः।

३४. नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ३५

पद०—न अ०। उदात्तोपदेशस्य ६। मान्तस्य ६। अनाचमेः ६। स०—उपदेशे उदात्तः उदात्तोपदेशस्तस्य (तत्०)। मोऽन्ते यस्य स मान्तस्तस्य (बहु०)। न आचमिः अनाचमिस्तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—उदात्तोपदेशस्य मकारान्तस्याङ्गस्य आचमिवर्जितस्य चिणि कृति ञ्णिति च परे वृद्धिर्न भवति। उदा०—अशमि। अतमि। अदमि। शमकः। तमकः। दमकः। शमः। तमः। दमः।

३५. जनि-वध्योश्च

पद०—जनिवध्योः ६। च अ०। स०—जनिश्च वधिश्च जनिवधी, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—जनिवध्योः चिणि कृति ञ्णिति च परे वृद्धिर्न भवति। उदा०—अजनि। अवधि। जनकः। प्रजनः। वधकः। वधः।

(उक्तं ञ्णिति)

(अथ आगमप्रकरणम्)

३६. अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नुयी-क्ष्माय्यातां पुङ् णौ ४३

पद०—अर्ति......व्याताम् ६। पुक् १। णौ ७। स०—अर्तिश्च ह्रीश्च व्लीश्च रीश्च क्नूयीश्च क्ष्मायीश्च आत् च अर्ति......आतस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी इत्येतेषामाकारान्तानां चाङ्गानां पुक् आगमो भवति णौ परे। उदा०—अर्पयति। ह्रेपयति। व्लेपयति। रेपयति। क्नोपयति। क्ष्मापयति। दापयति। धापयति।

३७. शा-च्छा-सा-ह्वा-व्या-वे-पां युक्

पद०—शा......पाम् ६। युक् १। स०—शा च छा च सा च ह्वा च व्या च वे च प् च शा......पस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—शा, छा, सा, ह्वा, व्या, वे, पा, इत्येतेषामङ्गानां युक् आगमो भवति णौ परे। उदा०—निशाययति। अवच्छाययति। अवसाययति। ह्वाययति। संव्याययति। वाययति। पाययति।

४०. भियो हेतुभये षुक्

पद०—भियः ६। हेतुभये ७। षुक् १। स०—हेतोर्भयम् हेतुभयम् तस्मिन् (तत्०)। वृ०—भी इत्येतस्य हेतुभयेऽर्थे षुक् आगमो भवति णौ परे। उदा०—मुण्डो भीषयते। जटिलो भीषयते।

(अथ आदेशप्रकरणम्)

४१. स्फायो वः

पद०—स्फायः ६। वः १। वृ०—स्फायः वकारादेशो भवति णौ परे। उदा०—स्फावयति।

४२. शदेरगतौ तः

पद०—शदेः ६। अगतौ ७। तः १। स०—न गतिरगतिस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अगतौ अर्थे शदेः तकारादेशो भवति णौ परे। उदा०—पुष्पाणि शातयति।

४३. रुहः पोऽन्यतरस्याम्

पद०—रुहः ६। पः १। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—रुहः पकारादेशो भवति अन्यतरस्यां णौ परे। उदा०—व्रीहीन् रोपयति। रोहयति।

४४. प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः   ४९, ४८

पद०—प्रत्ययस्थात् ५। कात् ५। पूर्वस्य ६। अतः ६। इत् १। आपि ७। असुपः ५। स०—प्रत्यये तिष्ठतीति प्रत्ययस्थस्तस्मात् (उपपदतत्०)। न सुप् असुप् तस्मात् (नञ्तत्०)। वृ०—प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्याकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति आपि परे, स आप् सुपः परो न चेत्। उदा०—जटिलिका। मुण्डिका। कारिका। हारिका। एतिकाश्चरन्ति। (बहुपरिव्राजका नगरीत्यत्र नेह। आपः सुपः परत्वात्)।

५०. ठस्येकः   ५१

पद०—ठस्य ६। इकः १। वृ०—अङ्गात् परस्य ठस्येकःआदेशो भवति। उदा०—आक्षिकः। शालाकिकः।

५१. इसुसुक्-तान्तात् कः

पद०—इसुसुक्तान्तात् ५। कः १। स०—इस् च उस् च उक् च तश्च तेषां समाहारः इसुसुक्तम्, इसुसुक्तमन्ते यस्य स इसुसुक्तान्तस्तस्मात् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। इसन्तात्, उसन्तात्, उगन्तात्, तकारान्तात् चाङ्गात् परस्य ठस्य कः आदेशो भवति। उदा०—सार्पिष्कः। धानुष्कः। मातृकम्। औदश्वित्कः।

५२. च-जोः कु घिण्ण्यतोः   ६९

पद०—चजोः ६। कु १। घिण्ण्यतोः ७। स०—चश्च जश्च चजौ तयोः (इ० द्व०)। घ् इत् यस्य स घित्, घित् च ण्यत् च घिण्ण्यतौ तयोः (बहुव्रीहिगर्भो द्व०)। वृ०—चकारजकारयोः स्थाने कवर्गादेशो भवति घिति ण्यति च प्रत्यये परे। उदा०—पाकः। पाक्यम्। भोगः। भाग्यम्।

५४. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु   ५६, ५५

पद—हः ६। हन्तेः ६। ञ्णिन्नेषु ७। स०—ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ येषां ते ञ्णितः, ञ्णितश्च नश्च ञ्णिन्नास्तेषु (द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिगर्भो द्व०)। वृ०—हन्तेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति ञिति णिति प्रत्यये परे नकारे च। उदा०—घातो वर्त्तते। घातयति। घातकः। साधुघाती। घातंघातम्। घ्नन्ति। घ्नन्तु। अघ्नन्।

५५. अभ्यासाच्च   ५८

पद०—अभ्यासात् ५। च अ०। वृ०—अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति। उदा०—जिघांसति। जङ्घन्यते। अहं जघन।

५६. हेरचङि

पद०—हेः ६। अचङि ७। स०—न चङ् अचङ् तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अभ्यासात् परस्य हिनोतेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति अचङि परे। उदा०—प्रजिघीषति। प्रजेघीयते। प्रजिघाय।

५७. सन्-लिटोर्जेः ५८

पद०—सन्लिटोः ७। जेः ६। स०—सन् च लिट् च सन्लिटौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—जेरङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्मात् परस्य कवर्गादेशो भवति सनि लिटि च प्रत्यये परे। उदा०—जिगीषति। जिगाय।

५८. विभाषा चेः

पद०—विभाषा १। चेः ६। वृ०—अभ्यासात् परस्य चेः (चिनोतेः) अङ्गस्य विभाषा कवर्गादेशो भवति सनि लिटि च प्रत्यये परे। उदा०—चिचीषति। चिकीषति। चिचाय। चिकाय।

५९. न क्वादेः ६९

पद०—न अ०। क्वादेः ६। स०—कुः आदिर्यस्य स क्वादिस्तस्य (बहु०)। वृ०—कवर्गादेर्धातोः चजोः कवर्गादेशो न भवति। उदा०—कूजो वर्त्तते। कूज्यं भवता।

६५. ण्य आवश्यके ६९

पद०—ण्ये ७। आवश्यके ७। वृ०—ण्ये परे आवश्यके अर्थेऽङ्गस्य चजोः कवर्गादेशो न भवति। उदा०—अवश्यपाच्यम्। अवश्यवाच्यम्। अवश्यरेच्यम्।

७०. घोर्लोपो लेटि वा ७२

पद०—घोः ६। लोपः १। लेटि ७। वा अ०। वृ०—घुसंज्ञकानामङ्गानां लेटि परे वा लोपो भवति। उदा०—दधद् रत्नानि दाशुषे। सोमो ददद् गन्धर्वाय। न च भवति—यदग्निरग्नये ददात्।

७१. ओतः श्यनि

पद०—ओतः ६। श्यनि ७। वृ०—ओकारन्तस्याङ्गस्य श्यनि परे लोपो भवति। उदा०—निश्यति। अवद्यति।

७२. क्सस्याचि ७३

पद०—क्सस्य ६। अचि ७। वृ०—क्सस्याजादौ प्रत्यये परे लोपो भवति। उदा०—अधुक्षाताम्। अधुक्षाथाम्। अधुक्षि।

७३. लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये

पद०—लुक् १। दुहदिहलिहगुहाम् ६। आत्मनेपदे ७। दन्त्ये ७। स०—दुहश्च दिहश्च लिहश्च गुह् च दुहदिहलिहगुहस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—दुह, दिह, लिह, गुह इत्येतेषामात्मनेपदे दन्त्यादौ परे क्सस्य वा लुग् भवति। उदा०—अदुग्ध। अधुक्षत। अदुग्धाः। अधुक्षथाः। अधुग्ध्वम्। अधुक्षध्वम्। अदुह्वहि। अधुक्षावहि। अदिग्ध। अधिग्ध। अधिक्षत। अलीढ। अलिक्षत। न्यगूढ। न्यघुक्षत।

७४. शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ७६

पद०—शमाम् ६। अष्टानाम् ६। दीर्घः १। श्यनि ७। वृ०—शमादीनामष्टानां श्यनि परे दीर्घो भवति। उदा०—शाम्यति। ताम्यति। दाम्यति। श्राम्यति। भ्राम्यति। क्षाम्यति। क्लाम्यति। माद्यति।

७५. ष्ठिवु-क्लमुचमां शिति ८२

पद०—ष्ठिवुक्लम्याचमाम् ६। शिति ७। स०—ष्ठिवुश्च क्लमुश्च आचम् च ष्ठिवुक्लम्याचमस्तेषाम् (इ० द्व०)। श् इत् यस्य स शित् तस्मिन् (बहु०)। वृ०—ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति परे दीर्घो भवति। उदा०—ष्ठीवति। क्लामति। आचामति।

७६. क्रमः परस्मैपदेषु

पद०—क्रमः ६। परस्मैपदेषु ७। वृ०—क्रमः परस्मैपदे शिति परे दीर्घो भवति। क्रामति। क्रामतः। क्रामन्ति।

७७. इषु-गमि-यमां छः

पद०—इषुगमियमाम् ६। छः १। स०—इषुश्च गमिश्च यम् च इषुगमियमस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—इषुगमियमां शिति परे छकारादेशो भवति। उदा०—इच्छति। गच्छति। यच्छति।

७८. पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्त्ति-सर्त्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः

पद०—पाघ्रा......सदाम् ६। पिब......सीदाः १। स०—पाश्च घ्राश्च ध्माश्च स्थाश्च म्नाश्च दाण् च दृशिश्च अर्तिश्च सर्तिश्च शदश्च सद् च पाघ्रा...सदः तेषाम् (इ० द्व०)। पिबश्च जिघ्रश्च धमश्च तिष्ठश्च मनश्च यच्छश्च पश्यश्च ऋच्छश्च धौश्च शीयश्च सीदश्च इति पिब......सीदाः (इ० द्व०)।

वृ०—पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशि, अर्ति (ऋ), सर्ति (सृ) शद, सद इत्येतेषां स्थाने क्रमशः पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद इत्येते आदेशा भवन्ति, शिति प्रत्यये परे। उदा०—पिबति। जिघ्रति। धमति। तिष्ठति। मनति। यच्छति। पश्यति। ऋच्छति। धावति। शीयते। सीदति।

७९. ज्ञा-जनोर्जा

पद०–ज्ञाजनोः ६। जा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। स०–ज्ञा च जन् च ज्ञाजनौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ज्ञाजनोर्जा आदेशो भवति शिति प्रत्यये परे। उदा०—जानाति। जायते।

८०. प्वादीनां ह्रस्वः ८१

पद०—प्वादीनाम् ६। ह्रस्वः १। स०–पूः आदिः येषां ते प्वादयस्तेषाम् (बहु०)। वृ०—शिति प्रत्यये परे प्वादीनां ह्रस्वो भवति। उदा०—पुनाति। लुनाति।

८२. मिदेर्गुणः ८८

पद०—मिदेः ६। गुणः १। वृ०—शिति प्रत्यये परे मिदेरङ्गस्य इको गुणो भवति। उदा०—मेद्यति।

८३. जुसि च

पद०—जुसि ७। च अ०। वृ०—जुसि च प्रत्यये परे इगन्तस्य अङ्गस्य गुणो भवति। उदा०—अजुहवुः।

८४. **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** ८६

पद०—सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७। स०—सार्वधातुकञ्च आर्धधातुकञ्च सार्वधातुकार्धधातुके तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सार्वधातुके आर्धधातुके च प्रत्यये परे इगन्तस्य अङ्गस्य गुणो भवति। उदा०—तरति। कर्त्ता। ('इको गुणवृद्धी १।१।३' तदन्तविधिश्च)।

८५. जाग्रोऽवि-चिण्-णल्-ङित्सु

पद०—जाग्रः ६। अविचिण्णल्ङित्सु ७। स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, विश्च चिण् च णल् च ङित् च विचिण्णल्ङितः, न विचिण्णल्ङितः अविचिण्णल्ङितस्तेषु (बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—जागृ इत्येतस्याङ्गस्य गुणो भवति अविचिण्णल्ङित्सु सार्वधातुकार्धधातुकेषु परेषु। उदा०—जागरयति। जागरकः। साधुजागरी। जागरं जागरम्। जागरो वर्त्तते। जागरितः। जागरितवान्।

८६. पुगन्त-लघूपधस्य च ८७

पद०—पुगन्तलघूपधस्य ६। च अ०। स०—पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी चासौ उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च तयोः समाहारः पुगन्तलघूपदम्, तस्य (सप्तमीतत्पुरुषगर्भकर्मधारयतत्पुरुषगर्भः स० द्व०)। वृ०—पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य च इकः सार्वधातुकार्धधातुकयोः गुणो भवति। उदा०—क्लेपयति। भेदनम्। भेत्ता।

(अथ सार्वधातुके विधानम्)

८७. नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ८८, ९४, १०१

पद०—न अ०। अभ्यस्तस्य ६। अचि ७। पिति ७। सार्वधातुके ७। स०—पकार इत् यस्य स पित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्य इकः अजादौ पिति सार्वधातुके परे गुणो न भवति। उदा०—नेनिजानि। अनेनिजम्।

८८. भू-सुवोस्तिङि

पद०—भूसुवोः ६। तिङि ७। स०—भूश्च सूश्च भूसुवौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—भूसुवोस्तिङि पिति सार्वधातुके गुणो न भवति। उदा०—अभूत्। अभूः। अभूवम्। सुवै। सुवावहै। सुवामहै।

८९. उतो वृद्धिर्लुकि हलि ९०, १००

पद०—उतः ६। वृद्धिः १। लुकिः ७। हलि ७। वृ०—उकारान्तस्याङ्गस्य वृद्धिः भवति लुकि सति हलादौ पिति सार्वधातुके परे। उदा०—यौति। यौषि। यौमि।

९०. ऊर्णोतेर्विभाषा ९१

पद०—ऊर्णोतेः ६। विभाषा १। वृ०—ऊर्णोतेर्विभाषा वृद्धिर्भवति हलादौ पिति सार्वधातुके परे। उदा०—प्रोर्णौति। प्रोर्णोति। प्रोर्णौषि। प्रोर्णोषि। प्रोर्णौमि। प्रोर्णोमि।

९१. गुणोऽपृक्ते

पद०—गुणः १। अपृक्ते ७। वृ०—ऊर्णोतेः अपृक्ते हलि पिति सार्वधातुके परे गुणो भवति। उदा०—प्रौर्णोत्। प्रौर्णोः।

९२. तृणह इम्

पद०—तृणहः ६। इम् १। वृ०—तृणह इत्येतस्याङ्गस्य इमागमो भवति, हलादौ पिति सार्वधातुके परे। उदा०—तृणेढि। तृणेक्षि। तृणेह्मि। अतृणेट्।

९३. ब्रुव ईट् ९८

पद०—ब्रुवः ५। ईट् १। वृ०—ब्रूञ् इत्येतस्मात् परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईट् आगमो भवति। उदा०—ब्रवीति। ब्रवीषि। ब्रवीमि।

९४. यङो वा ९५

पद०—यङः ५। वा० अ०। वृ०—यङः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईट् आगमो वा भवति। उदा०—शाकुनिको लालपीति। लालप्ति। दुन्दुभिर्वावदीति। वावत्ति। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति रोरोति महोदेवो मर्त्यां आविवेश। न च भवति—वर्वर्त्ति चक्रम्। वर्वर्मि।

९५. तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुके

पद०—तुरुस्तुशम्यमः ५। सार्वधातुके ७। स०—तुश्च रुश्च स्तुश्च शमिश्च अम् च इति तेषां समाहारः तुरुस्तुशम्यम् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—तु, रु, ष्टुञ्, शम, अम इत्येतेभ्यः परस्य हलादेः सार्वधातुकस्य वा ईट् आगमो भवति। उदा०—उत्तवीति। उत्तौति। उत्तवीतः। उत्तुतः। उपरवीति। उपरौति। उपरवीतः। उपरुतः। उपस्तवीति। उपस्तौति। उपस्तवीतः। उपस्तुतः। शाम्यध्वम्। शमीध्वम्। अभ्यमीति। अभ्यमति। अभ्यमीतः। अभ्यमतः।

९६. अस्ति-सिचोऽपृक्ते ९७, १००

पद०—अस्तिसिचः ५। अपृक्ते ७। स०—अस्तिश्च सिच् च इति तयोः समाहारः अस्तिसिच् तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—अस्तेरङ्गात् सिजन्ताच्च परस्यापृक्तस्य हलादेः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति। उदा०—आसीत्। आसीः। अकार्षीत्।

---

९३. अत्र 'सार्वधातुके' आदिसप्तम्यन्तपदानि 'तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६६' इति सूत्रेण षष्ठ्यां विपरिणमन्ते। पूर्वत्र पञ्चमी परत्र सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्पयतीति परिभाषया।

९५. पुनः सार्वधातुकग्रहणमपिदर्थम्। अत्र केषाञ्चिन्मतेन तुरुस्तुशम्यमः छन्दसि विषये भवन्ति। शम्यमोस्तु छन्दसि बहुलं भवति।

९६. 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' अत्र भट्टोजीदीक्षितकल्पना निरर्थिका सिचो लुक्त्वादेव अभूदित्यत्र ईटोऽप्राप्तेः अङ्गकार्यत्वात्।

९८. रुदश्च पञ्चभ्यः ९९

पद०—रुदः ५। च अ०। पञ्चभ्यः ५। वृ०—रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः धातुभ्यः परस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति। उदा०—अरोदीत्। अरोदीः। अस्वपीत्। अस्वपीः। अश्वसीत्। अश्वसीः। प्राणीत्। प्राणीः। अजक्षीत्। अजक्षीः।

९९. अड् गार्ग्य-गालवयोः १००

पद०—अट् १। गार्ग्यगालवयोः ६। स०—गार्ग्यश्च गालवश्च गार्ग्यगालवौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य अट् आगमो भवति गार्ग्यगालवयोर्मतेन। उदा०—अरोदत्। अरोदः। अस्वपत्। अस्वपः। अश्वसत्। अश्वसः। प्राणत्। प्राणः। अजक्षत्। अजक्षः।

१००. अदः सर्वेषाम्

पद०—अदः ५। सर्वेषाम् ६। वृ०—अदः परस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य अट् आगमो भवति सर्वेषामाचार्याणां मतेन। उदा०—आदत्। आदः।

१०१. अतो दीर्घो यञि १०४, १०२

पद०—अतः ६। दीर्घः १। यञि ७। वृ०—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति, यञादौ सार्वधातुके परे। उदा०—पचामि। पक्ष्यामि।

(उक्तं सार्वधातुके)

१०२. सुपि च १२०

पद०—सुपि ७। च अ०। वृ०—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति यञादौ सुपि च परे। उदा०—वृक्षाय। वृक्षाभ्याम्।

१०३. बहुवचने झल्येत् १०६

पद०—बहुवचने ७। झलि ७। एत् १। वृ०—अकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति बहुवचने झलादौ सुपि परे। उदा०—वृक्षेभ्यः। वृक्षेषु।

१०४. ओसि च १०५

पद०—ओसि ७। च अ०। वृ०—ओसि च परे अकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति। उदा०—वृक्षयोः स्वम्। वृक्षयोर्निधेहि।

---

९८. व्यत्ययेन बहुवचनस्यैकत्वम् 'रुदः' इति।

१०५. आङि चापः १०६

पद०—आङि ७। च अ०। आपः ६। वृ०—आबन्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति आङि ओसि च परे। उदा०—खट्वया। खट्वयोः।

१०६. सम्बुद्धौ च १०८

पद०—सम्बुद्धौ ७। च अ०। वृ०—सम्बुद्धौ च परे आबन्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति। उदा०—हे खट्वे।

१०७. अम्बार्थ-नद्योर्ह्रस्वः

पद०—अम्बार्थनद्योः ६। ह्रस्वः १। स०—अम्बार्थश्च नदी च अम्बार्थनद्यौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सम्बुद्धौ परे अम्बार्थानां नद्यन्तानां चाङ्गानां ह्रस्वो भवति। उदा०—हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। हे कुमारि।

वा० डलकवतीनां प्रतिषेधो वाच्यः

उदा०—हे अम्बाडे (ले) अम्बिके।

१०८. ह्रस्वस्य गुणः १०९, १११

पद०—ह्रस्वस्य ६। गुणः १। वृ०—सम्बुद्धौ परे ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति। उदा०—हे अग्ने।

१०९. जसि च

पद०—जसि ७। च अ०। वृ०—जसि च परे ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति। उदा०—अग्नयः।

११०. ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः

पद०—ऋतः ६। ङिसर्वनामस्थानयोः ७। स०—ङिश्च सर्वनामस्थानञ्च ङिसर्वनामस्थाने, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—ङौ सर्वनामस्थाने च परे ऋकारान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति। उदा०—मातरि। कर्त्तारौ। कर्त्तारः। कर्त्तारम्। कर्त्तारौ।

१११. घेर्ङिति ११५

पद०—घेः ६। ङिति ७। स०—ङकार इत् यस्य स ङित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—ङिति सुपि परे घ्यन्तस्याङ्गस्य गुणो भवति। उदा०—अग्नये। अग्नेरागच्छति। अग्नेः स्वम्।

११२. आण् नद्याः

पद०—आट् १। नद्याः ५। वृ०—नद्यन्तादङ्गात् परस्य ङितः प्रत्ययस्य आट् आगमो भवति। उदा०—कुमार्यै। कुमार्याः। ('आटश्च ६। १। ९०' इति वृद्धिः)।

११३. याडापः ११४

पद०—याट् १। आपः ५। वृ०—आबन्तादङ्गात् परस्य ङितः प्रत्ययस्य याट् आगमो भवति। उदा०—खट्वायै। खट्वायाः।

११४. सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ११५

पद०—सर्वनाम्नः ५। स्याट् १। ह्रस्वः १। च अ०। वृ०—सर्वनाम्न आबन्तादङ्गात् परस्य ङितः प्रत्ययस्य स्याट् आगमो, ह्रस्वश्च भवति। उदा०—सर्वस्यै। सर्वस्याः।

११५. विभाषा द्वितीया-तृतीयाभ्याम्

पद०—विभाषा १। द्वितीयातृतीयाभ्याम् ५। स०—द्वितीया च तृतीया च द्वितीयातृतीये ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—द्वितीयातृतीयाभ्यां परस्य ङितः प्रत्ययस्य विभाषा स्याट् आगमो, ह्रस्वश्च भवति। उदा०—द्वितीयस्यै। द्वितीयायै। तृतीयस्यै। तृतीयायै।

११६. ङेराम् नद्याम्नीभ्यः ११९, ११७

पद०—ङेः ६। आम् १। नद्याम्नीभ्यः ५। स०—नदी च आप् च नीश्च नद्याम्न्यस्तेभ्यः (इ० द्व०)। वृ०—नद्यन्तादाबन्तात् नी इत्येतस्माच्च परस्य ङेः 'आम्' इत्ययमादेशो भवति। उदा०—कुमार्याम्। खट्वायाम्। राजन्याम्।

११७. इदुद्भ्याम् ११८

पद०—इदुद्भ्याम् ५। स०—इत् च उत् च इदुतौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—इकारोकाराभ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम् आदेशो भवति। उदा०—कृत्याम्। धेन्वाम्।

११८. औत् ११९

पद०—औत् १। वृ०—इकारोकाराभ्यां परस्य ङेः औकारादेशो भवति। उदा०—सख्यौ। पत्यौ।

११९. अच्च घेः १२०

पद०—अत् १ । च अ० । घेः ६ । वृ०—घिसंज्ञकात् परस्य ङेः औकारादेशो भवति, तस्य च घेरकारादेशो भवति । उदा०—अग्नौ । वायौ । कृतौ ।

१२०. आङो नाऽस्त्रियाम्

पद०—आङः ६ । ना १ । अस्त्रियाम् ७ । स०—न स्त्री अस्त्री तस्याम (नञ्तत्०) । वृ०—घेः परस्य आङो 'ना' इत्ययमादेशो भवति अस्त्रियाम् । उदा०—अग्निना । वायुना । पटुना । वारिणा । मधुना ।

(देविका०[१] देवता०[२] स्फायो०[३] भुज०[४] मीनाते०[५] अतो० षट् च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहद्लघुपाणिनीये सप्तमाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ७५ ॥

---

११९. अत्र घेः इत्यस्य पञ्चम्यन्तकल्पनया ङेरामि षष्ठ्यकल्पनया घेरत्त्वेऽपि कार्यम् । आहो इदुद्भ्यामित्यनुवर्त्य ङेरौत्वं घेरत्त्वं पूर्ववत् ।

अथ चतुर्थः पादः

१. णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ८, ३

पद०—णौ ७। चङि ७। उपधायाः ६। ह्रस्वः १। वृ०—चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्वो भवति। उदा०—अचीकरत्।

२. नाग्लोपि-शास्वृदिताम्

पद०—न अ०। अग्लोपिशास्वृदिताम् ६। स०—अकः लोपः अग्लोपः, सोऽस्यास्तीति-अग्लोपी, मतुबर्थे इनिप्रत्ययः। ऋत् इत् यस्य स ऋदित्, अग्लोपी च शासुश्च ऋदित् च अग्लोपिशास्वृदितस्तेषाम् (तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः)। वृ०—अग्लोपिनामङ्गानां शासेर्ऋदितां चाङ्गानां णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो न भवति। उदा०—मालामाख्यत् अममालत्। मातरमाख्यत् अममातत्। राजानमतिक्रान्तवान् अत्यरराजत्। लोमान्यनुमृष्टवान् अन्वलुलोमत्। अशशायत्। अबबाधत्। अययाचत्।

५. तिष्ठतेरित् ६

पद०—तिष्ठतेः ६। इत् १। वृ०—तिष्ठतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया इकारादेशो भवति। उदा०—अतिष्ठिपत्। अतिष्ठिपताम्। अतिष्ठिपन्।

६. जिघ्रतेर्वा ७

पद०—जिघ्रतेः ६। वा अ०। वृ०—जिघ्रतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधायाः वा इकारादेशो भवति। उदा०—अजिघ्रिपत्। अजिघ्रिपताम्। अजिघ्रिपन्। अजिघ्रपत्। अजिघ्रपताम्। अजिघ्रपन्।

७. उर्ऋत् ८

पद०—उः ६। ऋत् १। वृ०—णौ चङ्युपधाया ऋवर्णस्य स्थाने वा ऋकारादेशो भवति। उदा०—अचिकीर्त्तत्। अचीकृतत्।

९. दयतेर्दिगि लिटि ११

पद०—दयतेः ६। दिगि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। लिटि ७। वृ०—दयतेरङ्गस्य लिटि परे 'दिगि' इत्ययमादेशो भवति। उदा०—अवदिग्ये। अवदिग्याते। अवदिग्यिरे।

१०. ऋतश्च संयोगादेर्गुणः १२

पद०—ऋतः ६। च अ०। संयोगादेः ६। गुणः १। स०–संयोग आदिः यस्य स संयोगादिः, तस्य (बहु०)। वृ०—संयोगादेः ऋकारान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति लिटि परे। उदा०—सस्वरतुः। सस्वरुः। दध्वरतुः। दध्वरुः।

११. ऋच्छत्यॄताम्

पद०—ऋच्छत्यॄताम् ६। स०—ऋच्छतिश्च ऋश्च ॠत् च ऋच्छत्यॄतस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—(तौदादिकस्य) ऋच्छतेरङ्गस्य ऋ इत्येतस्य धातोः ॠकारान्तानां च लिटि परे गुणो भवति। उदा०—आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। आनर्च्छुः। आर। आरतुः। आरुः। निचकरतुः। निचकरुः।

१२. शॄ-दॄ-प्रां ह्रस्वो वा १५

पद०—शॄ-दॄ-प्राम् ६। ह्रस्वः १। वा० अ०। स०—शॄ च दॄ च पॄ च शॄदॄप्रस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—शॄ, दॄ, पॄ इत्येतेषामङ्गानां लिटि परे वा ह्रस्वो भवति। उदा०—विशश्रतुः। विशश्रुः। विशशरतुः। विशशरुः। विदद्रतुः। विदद्रुः। विददरतुः। विददरुः। निपप्रतुः। निपप्रुः। निपपरतुः। निपपरुः।

१३. केऽणः १४

पद० –के ७। अणः ६। वृ० –के प्रत्यये परे अणो ह्रस्वो भवति। उदा०—ज्ञका। कुमारिका। किशोरिका।

१४. न कपि १५

पद०—न अ०। कपि ७। स०—कपि प्रत्यये परे अणो ह्रस्वो न भवति। उदा०—बहुकुमारीकः विद्यालयः।

१५. आपोऽन्यतरस्याम्

पद०—आपः ६। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—आबन्तस्याङ्गस्य कपि परे अन्यतरस्यां ह्रस्वो न भवति। उदा०—बहुखट्वकः। बहुखट्वाकः।

१६. ऋ-दृशोऽङि गुणः २०

पद०—ऋदृशः ६। अङि ७। गुणः १। स०—ऋश्च दृश् च तयोः समाहारः ऋदृश्, तस्मात् (स द्व०)। वृ०—ऋवर्णान्तानामङ्गानां दृशेश्च अङि परे गुणो भवति। उदा०—शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अहं तेभ्योऽकरं नमः। असरत्। आरत्। जरा। अदर्शत्। अदर्शताम्। अदर्शन्।

१७. अस्यतेस्थुक्

पद०—अस्यतेः ६। थुक् १। वृ०—अस्यतेरङ्गस्य थुक् आगमो भवत्यङि परे। उदा०—आस्थत्। आस्थताम्। आस्थन्।

१८. श्वयतेरः

पद०—श्वयतेः ६। अः १। वृ०—श्वयतेरङ्गस्य अकारादेशो भवति अङि परे। उदा०—अश्वत्। अश्वताम्। अश्वन्।

१९. पतः पुम्

पद०—पतः ६। पुम् १। वृ०—पतेरङ्गस्य पुमागमो भवत्यङि परे। उदा०—अपप्तत्। अपप्तताम्। अपप्तन्।

२०. वच उम्

पद०—वचः ६। उम् १। वृ०—वचेरङ्गस्य उमागमो भवति अङि परे। उदा०—अवोचत्। अवोचताम्। अवोचन्।

२१. शीङः सार्वधातुके गुणः　　२२

पद०—शीङः ६। सार्वधातुके ७। गुणः १। वृ०—शीङोऽङ्गस्य गुणो भवति सार्वधातुके परे। उदा०—शेते। शयाते। शेरते।

२२. अयङ् यि क्ङिति　　२९, २५

पद०—अयङ् १। यि ७। क्ङिति ७। स०—क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—यकारादौ क्ङिति च प्रत्यये परे शीङोऽङ्गस्य अयङ् इत्ययमादेशो भवति। उदा०—शय्यते। शाशय्यते। प्रशय्य। उपशय्य।

२३. उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः　　२४

पद०—उपसर्गात् ५। ह्रस्वः १। ऊहतेः ६। वृ०—उपसर्गात् परस्य ऊहतेरङ्गस्य ह्रस्वो भवति यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परे। उदा०—समुह्यते। समुह्य गतः।

२४. एतेर्लिङि

पद०—एतेः ६। लिङि ७। वृ०—उपसर्गात् परस्य ऊहतेरङ्गस्य यकारादौ क्ङिति आर्धधातुके प्रत्यये परे ह्रस्वो भवति। उदा०—उदियात्। समियात्। अन्वियात्।

---

२४. क्दियोगादार्धधातुकयोगः 'किदाशिषि ३।४।१०४' इति सूत्रम्।

२५. अकृत्-सार्वधातुकयोर्दीर्घः २९, २६

पद०—अकृत्सार्वधातुकयोः ७। दीर्घः १। स०—कृच्च सार्वधातुकञ्च कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके, तयोः (द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—अजन्ताङ्गस्य दीर्घो भवति यकरादौ क्ङिति प्रत्यये परे अकृत्सार्वधातुकयोः। उदा०—भृशायते। सुखायते। दुःखायते। चीयते। चेचीयते। स्तूयते। तोष्टूयते। चीयात्। स्तूयात्।

२६. च्वौ च २७

पद०—च्वौ ७। च अ०। वृ०—च्वौ प्रत्यये परेऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति। उदा०—शूचीकरोति। पटूकरोति।

२७. रीङ् ऋतः ३०

पद०—रीङ् १। ऋतः ६। वृ०—अकृद्यकारेऽसार्वधातुकयकारे च्वौ च परे ऋदन्तस्याङ्गस्य रीङ् आदेशो भवति। उदा०—मात्रीयति। पित्रीयति। मात्रीयते। पित्रीयते। चेक्रीयते। मात्रीभूतः। पित्र्यम्।

२८. रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु २९

पद०—रिङ् १। शयग्लिङ्क्षु ७। स०—शश्च यक् च लिङ् च शयग्लिङस्तेषु (इ० द्व०)। वृ०—ऋदन्तस्याङ्गस्य श, यक् इत्येतयोः लिङि च यकारादौ असार्वधातुके परतः रिङ् आदेशो भवति। उदा०—आद्रियते। आध्रियते। क्रियते। ह्रियते। क्रियात्। ह्रियात्।

२९. गुणोऽर्त्ति-संयोगाद्योः ३२

पद०—गुणः १। अर्त्तिसंयोगाद्योः ६। स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, अर्त्तिश्च संयोगादिश्च अर्त्तिसंयोगादी, तयोः (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः)। वृ०—अर्त्तेः संयोगादीनाम् ऋदन्तानामङ्गानां गुणो भवति, यकि लिङि च यकारादौ असार्वधातुके परे। उदा०—अर्यते। अर्यात्। स्मर्यते। स्मर्यात्।

३०. यङि च ३१

पद०—यङि ७। च अ०। वृ०—यङि च परे अर्त्तेः संयोगादीनाम् ऋदन्तानामङ्गानां गुणो भवति। उदा०—अरार्यते। सास्वर्यते। दाध्वर्यते। सास्मर्यते।

---

२५. 'अकृद्यकारे असार्वधातुकयकारे च क्ङिति प्रत्यये परे' इत्यर्थः। 'अचश्च १।२।२८' इति परिभाषासूत्रबलात् 'अजन्तस्याङ्गस्य दीर्घः' इत्यर्थः।

२९. 'श' इत्यत्रासम्भवात् नानुवर्त्तते।

३१. ई घ्रा-ध्मोः ३३

पद०—ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। घ्राध्मोः ६। स०—घ्राश्च ध्माश्च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०--यङि परे घ्रा, ध्मा इत्येतयोरङ्गयोः ईकारादेशो भवति। उदा०—जेघ्रीयते। देध्मीयते।

३२. अस्य च्वौ ३५

पद०—अस्य ६। च्वौ ७। वृ०—च्वौ परे अवर्णान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति। उदा०—शुक्लीभवति।

३३. क्यचि च ३९

पद०—क्यचि ७। च अ०। वृ०—क्यचि च परे अवर्णान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति। उदा०—पुत्रीयति।

४०. द्यति-स्यति-मा-स्थामित् ति किति ४१, ४७

पद०—द्यतिस्यतिमास्थाम् ६। इत् १। ति ७। किति ७। स०—द्यतिश्च स्यतिश्च माश्च स्थ् च द्यति......स्थस्तेषाम् (इ० द्व०)। क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—द्यति, स्यति, मा, स्था इत्येतेषामङ्गानामिकारादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परे। उदा०—निर्दितः। निर्दितवान्। अवसितः। अवसितवान्। मितः। मितवान्। स्थितः। स्थितवान्। ('घुमास्था० ६।४।६६' इत्यस्यापवादः परत्वात्)।

४२. दधातेर्हिः ४४

पद०—दधातेः ६। हिः १। वृ०—दधातेरङ्गस्य 'हि' इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परे। उदा०—हितः। हितवान्। हित्वा।

४३. जहातेश्च क्त्वि ४४

पद०—जहातेः ६। च अ०। क्त्वि ७। वृ०—जहातेश्चाङ्गस्य 'हि' इत्ययमादेशो भवति क्त्वि (क्त्वाप्रत्यये) परे। उदा०—हित्वा राज्यं वनं गतः। हित्वा गच्छति। हित्वा मृगेन्द्रं नरराशिवश्याः।

४६. दो दद् घोः ४७

पद०—दः ६। दद् १। घोः ६। वृ०—घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्य स्थाने दद् इत्ययमादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परे। उदा०—दत्तः। दत्तवान्। दत्तिः।

---

४६. तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद्दान्ते दोषो निष्ठानत्वम्।
घान्ते दोषो घत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तम्॥
'दस्ति ६।३।१२४' इत्युपसर्गदीर्घः।

४७. अच उपसर्गात् तः ४९

पद०—अचः ५ । उपसर्गात् ५ । तः १ । वृ०—अजन्तादुपसर्गात् परस्य घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्य तः आदेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परे। उदा०—प्रत्तम् । अवत्तम् । नीत्तम् । परीत्तम् ।

४८. अपो भि

पद०—अपः ६ । भि ७ । वृ०—अपः तः आदेशो भवति, भादौ प्रत्यये परे । उदा०—अद्भिः । अद्भ्यः ।

४९. सः स्यार्धधातुके ५२, ५७

पद०—सः ६ । सि ७ । आर्धधातुके ७ । वृ०—सादौ आर्धधातुके परे सस्य तः आदेशो भवति । उदा०—वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवत्सति । जिघत्सति ।

५०. तासस्त्योर्लोपः ५२, ५३

पद०—तासस्त्योः ६ । लोपः १ । स०—तास् च अस्तिश्च तासस्ती, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—तासेरस्तेश्च सस्य लोपो भवति सादौ प्रत्यये परे । उदा०—कर्त्तासि । कर्त्तासे । त्वम् असि । व्यतिसे ।

५१. रि च

पद०—रि ७ । च अ० । वृ०—रादौ च प्रत्यये परे तासेरस्तेश्च सस्य लोपो भवति । उदा०—कर्त्तारौ । कर्त्तारः । अध्येतारौ । अध्येतारः ।

५२. ह एति

पद०—हः १ । एति ७ । वृ०—एति (एकारे) परे तासस्त्योः सस्य हः आदेशो भवति । उदा०—कर्त्ताहे । व्यतिहे ।

५४. सनि मी-मा-घु-रभ-लभ-शक-पत-पदामच इस् ५७, ५६

पद०—सनि ७ । मीमा……पदाम् ६ । अचः ६ । इस् १ । स०—मीश्च माश्च घुश्च रभश्च लभश्च शकश्च पतश्च पद् च मीमा……पदस्तेषाम् (इ० द्व) । वृ० – सकारादौ सनि प्रत्यये परे मी, मा, घु, रभ, लभ, शक, पत, पद, इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने इस् इत्ययमादेशो भवति । उदा० – मित्सति । प्रमित्सति । मित्सते । अपमित्सते । दित्सति । धित्सति । आरिप्सते । आलिप्सते । शिक्षति । पित्सति । प्रपित्सते ।

५५. आप्-ज्ञप्यृधामीत् ५६

पद०—आप्ज्ञप्यृधाम् ६। ईत् १। स०—आप् च ज्ञपिश्च ऋध् च आप्ज्ञप्यृधस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—सनि सकारादौ प्रत्यये परे आप्, ज्ञपि, ऋध् इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने ईकारादेशो भवति। उदा०—ईप्सति। ज्ञीप्सति। ईर्त्सति।

(अथ अभ्यासस्य विधानप्रकरणम्)

५८. अत्र लोपोऽभ्यासस्य ९७

पद०—अत्र अ०। लोपः १। अभ्यासस्य ६। वृ०—अत्र 'सनि मीमा० ७।४।५४' इत्यारभ्य 'मुचोऽकर्मकस्य ७। ४। ५७' इति सूत्रं यावत् यदुक्तं तत्राभ्यासस्य लोपो भवति। उदाहरणानि तेषु पूर्वसूत्रेष्वेव द्रष्टव्यानि।

५९. ह्रस्वः

पद०—ह्रस्वः १। वृ०—अभ्यासस्याङ्गस्य ह्रस्वो भवति। उदा०—डुढौकिषते। डुढौके। अडुढौकत्।

६०. हलादिः शेषः ६१

पद०—हलादिः १। शेषः १। स०—हल् चासौ आदिश्च हलादिः (कर्मधारयतत्०)। वृ०—अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अनादिर्लुप्यते। उदा०—जग्लौ। मम्लौ। पपाच। पपाठ। आट। आटतुः। आटुः।

६१. शर्पूर्वाः खयः

पद०—शर्पूर्वाः १। खयः १। स०—शर् पूर्वो येषां ते शर्पूर्वाः (बहु०)। वृ०—अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्तेऽन्ये हलो लुप्यन्ते। उदा०—चुश्च्योतिषति। तिष्ठासति। पिस्पन्दिषसे।

६२. कु-होश्चुः ६४

पद०—कुहोः ६। चुः १। स०—कुश्च ह् च कुहौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अभ्यासस्य कवर्गहकारयोश्चवर्गादेशो भवति। उदा०—चकार। चखान। जगाम। जघास। जघान। जहार।

६६. उरत्

पद०—उः ६। अत् १। वृ०—ऋवर्णान्तस्याभ्यासस्य अकारादेशो भवति। उदा०—ववृते। ववृधे। नर्नर्त्ति। नरिनर्त्ति। नरीनर्त्ति।

६७. द्युति-स्वाप्योः **सम्प्रसारणम्** ६८

पद०—द्युतिस्वाप्योः ६। सम्प्रसारणम् १। स०—द्युतिश्च स्वापिश्च द्युतिस्वाप्यौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—द्युति स्वापि इत्येतयोरभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति। उदा०—विदिद्युते। व्यदिद्युतत्। विदिद्योतिषते। विविद्युतिषते। विदेद्युत्यते। सुष्वापयिषति।

६८. व्यथो **लिटि** ७४

पद०—व्यथः ६। लिटि ७। वृ०—लिटि परे व्यथः सम्प्रसारणं भवति। उदा०—विव्यथे। विव्यथाते। विव्यथिरे।

६९. **दीर्घ** इणः किति ७०

पद०—दीर्घः १। इणः ६। किति ७। स०—क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन् (बहु०)। वृ०—इणोऽभ्यासस्य दीर्घो भवति किति लिटि परे। उदा०—ईयतुः। ईयुः।

७०. अत आदेः

पद०—अतः ६। आदेः ६। वृ०—अभ्यासस्यादेरकारस्य दीर्घो भवति लिटि परे। उदा०—आट। आटतुः। आटुः।

७१. **तस्मान्नुड्** द्विहलः ७२

पद०—तस्मात् ५। नुट् १। द्विहलः ६। स०—द्वौ हलौ यस्य तद् द्विहल्, तस्य (बहु०)। वृ०—तस्माद् (दीर्घीभूतात्) अभ्यासात् परस्य द्विहलोऽङ्गस्य नुडागमो भवति लिटि परे। उदा०—आनङ्ग। आनङ्गतुः। आनङ्गुः।

७२. अश्नोतेश्च

पद०—अश्नोतेः ६। च अ०। वृ०—अश्नोतेश्च तस्मात् (दीर्घीभूतात्) अभ्यासात् परस्य नुडागमो भवति। उदा०—व्यानशे। व्यानशाते। व्यानशिरे।

७३. भवतेरः ७४

पद०—भवतेः ६। अः १। वृ०—भवतेरभ्यासस्य अकारादेशो भवति लिटि परे। उदा०—बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। अनुबभूवे।

७५. निजां **त्रयाणां** गुणः श्लौ ७६, ७८

पद०—निजाम् ६। त्रयाणाम् ६। गुणः १। श्लौ ७। वृ०—निजादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्य गुणो भवति श्लौ सति। उदा०—नेनेक्ति। वेवेक्ति। वेवेष्टि।

---

७५. निजादीनां त्रयाणां धातूनां 'णिजिर्, विजिर्, विष्लृ' इत्येतेषामेवेत्यर्थः।

७६. भृञामित्　　　　८१

पद०—भृञाम् ६। इत् १। वृ०—भृञादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्य इकारादेशो भवति श्लौ सति। उदा०—बिभर्ति। मिमीते। जिहीते।

७७. अर्ति-पिपर्त्योश्च

पद०—अर्तिपिपर्त्योः ६। च अ०। स०—अर्तिश्च पिपर्तिश्च अर्तिपिपर्ती, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—अर्ति पिपर्ति इत्येतयोरभ्यासस्य इकारादेशो भवति श्लौ सति। उदा०—इयर्ति धूमम्। पिपर्ति सोमम्।

७९. सन्यतः　　　　८१

पद०—सनि ७। अतः ६। वृ०—सनि परे अकारान्तस्याभ्यासस्य इकारादेशो भवति। उदा०—पिपक्षति। पिपासति।

८०. ओः पु-यण्-ज्यपरे　　　　८१

पद०—ओः ६। पुयण्जि ७। अपरे ७। स०—पुश्च यण् च ज् च इति तेषां समाहारः पुयण्ज्, तस्मिन् (स० द्वः)। अः परो यस्मात् तदपरम् तस्मिन् (बहु०)। वृ०—उवर्णान्ताभ्यासस्य पवर्गे यणि जकारे चावर्णपरे परतः इकारादेशो भवति सनि प्रत्यये परे। उदा०—पिपविषते। पिपावयिषति। बिभावयिषति। यियविषति। यियावयिषति। रिरावयिषति। लिलावयिषति। जिजावयिषति।

८२. गुणो यङ्-लुकोः　　　　९०

पद०—गुणः १। यङ्लुकोः ७। स०—यङ् च लुक् च यङ्लुकौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—यङि यङ्लुकि च परे अभ्यासस्य गुणो भवति। उदा०—चेचीयते। जोहवीति।

८३. दीर्घोऽकितः

पद० -दीर्घः १। अकितः ६। स०—क् इत् यस्य स कित्, न कित् अकित् तस्य (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो भवति यङि यङ्लुकि च परे। उदा०—पापच्यते। पापचीति।

---

७६. भृञादीनां त्रयाणां धातूनां 'भृञ्, माङ्, ओहाङ्' इत्येतेषामेवेत्यर्थः।

८२. 'लुक्' शब्दात् समीपस्थो यङः लुक् इति बोध्यम्। अतः 'यङ्, यङ्लुक्' इति ज्ञेयम्।

८५. नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ८७

पद०—नुक् १ । अतः ६ । अनुनासिकान्तस्य ६ । स०—अनुनासिकोऽन्ते यस्य तद् अनुनासिकान्तम्, तस्य (बहु०) । वृ०—अनुनासिकान्तस्य अकारान्तस्याभ्यासस्य नुमागमो भवति यङि यङ्लुकि च परे। उदा० जङ्गम्यते । जङ्गमीति ।

वा० पदान्तवच्चेति वक्तव्यम्

उदा० - यंयम्यते । यंयमीति । जङ्गम्यते । जङ्गमीति ।

८७. चर-फलोश्च ८९

पद०—चरफलोः ६ । च अ० ! स०—चरश्च फल् च चरफली, तयोः (इ० द्व०) । वृ० - चर फल इत्येतयोरभ्यासस्य नुमागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परे। उदा०—चञ्चूर्यते । चञ्चुरीति । पम्फुल्यते । पम्फुलीति ।

८८. उत् परस्यातः ८९

पद०—उत् १ । परस्य ६ । अतः ६ । वृ०—चर फल इत्येतयोरभ्यासात् परस्य अकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति यङि यङ्लुकि च परे। उदा०—चञ्चूर्यते । चञ्चुरीति । पम्फुल्यते । पम्फुलीति । ('हलि च ८ । २ । ७७' इति दीर्घः) ।

९०. रीगृदुपधस्य च ९२, ९१

पद०—रीक् १ । ऋदुपधस्य ६ । च अ० । स०— ऋकार उपधा यस्य तद् ऋदुपधम्, तस्य (बहु०) । वृ०—ऋदुपधस्याभ्यासस्य च रीक् आगमो भवति यङि यङ्लुकि च परे। उदा०—नरीनृत्यते । नरीनृतीति ।

वा० रीगृत्वत इति वक्तव्यम्

उदा०—वरीवृश्च्यते । परीपृच्छ्यते ।

९१. रुग्रिकौ च लुकि ९२

पद०—रुग्रिकौ १ । च अ० । लुकि ७ । स०—रुक् च रिक् च रुग्रिकौ (इ० द्व०) । वृ० –ऋदुपधस्याभ्यासस्य रुक्, रिक्, रीक् इत्येते आगमाः भवन्ति यङ्लुकि परे । उदा०—नर्नर्त्ति । नरिनर्त्ति । नरीनर्त्ति ।

९२. ऋतश्च

पद०—ऋतः ६ । च अ० । वृ०—ऋकारान्तस्य चाभ्यासस्य रुक्, रिक्, रीक् इत्येते आगमा भवन्ति यङ्लुकि परे । उदा०—चर्कर्त्ति । चरिकर्त्ति । चरीकर्त्ति ।

---

९१. 'लुकि' शब्दाद् यङ्लुकि एव बोध्यम् । न तु 'यङि' ।

९३. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ९४, ९७, ९४

पद०—सन्वत् अ० । लघुनि ७ । चङ्परे ७ । अनग्लोपे ७ । स०—चङ्परो यस्मात् तच्चङ्परं तस्मिन् (बहु०) । अको लोपः, अग्लोपः, नास्ति अग्लोपो यस्मिन् तदनग्लोपम् तस्मिन् (षष्ठीतत्पुरुषगर्भो बहु०) । वृ०—लघुनि धात्वक्षरे परे योऽभ्यासस्तस्य सन्वत् कार्यं भवति चङ्परे णौ अनग्लोपे । उदा०—अचीकरत् । अपीपवत् । असिस्रवत् । असुस्रवत् ।

९४. दीर्घो लघोः

पद०—दीर्घः १ । लघोः ६ । वृ०—लघोरभ्यासस्य दीर्घो भवति लघुनि णौ चङ्परेऽनग्लोपे । उदा०—अचीकरत् । अलीलवत् । अपीपचत् ।

९५. अत् स्मृ-दॄ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तॄ-स्पशाम् ९७

पद०—अत् १ । स्मृ ····स्पशाम् ६ । स०—स्मृश्च दॄश्च त्वरश्च प्रथश्च म्रदश्च स्तॄश्च स्पश् च इति तेषां समाहारः स्मृदॄत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पश् तेषाम् (स० द्व०) । वृ०—स्मृ, दॄ, त्वर, प्रथ, म्रद, स्तॄ, स्पश् इत्येतेषामभ्यासस्य 'अत्' इत्ययमादेशो भवति चङ्परे णौ परे । उदा०—अससमरत् । अददरत् । अतत्वरत् । अपप्रथत् । अमम्रदत् । अतस्तरत् । अपस्पशत् ।

९६. विभाषा वेष्टि-चेष्टयोः

पद०—विभाषा १ । वेष्टिचेष्टयोः ६ । स०—वेष्टिश्च चेष्टिश्च तौ, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—वेष्टि चेष्टि इत्येतयोरभ्यासस्य विभाषा 'अत्' इत्ययमादेशो भवति, चङ्परे णौ परे । उदा०—अववेष्टत् । अविवेष्टत् । अचचेष्टत् । अचिचेष्टत् ।

९७. ई च गणः

पद०—ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । च अ० । गणः ६ । वृ०—गणेरभ्यासस्य ईकारादेशो भवति, चकारात् अत् च चङ्परे णौ परे । उदा०—अजीगणत् । अजगणत् । 'अजीगणद्दाशरथं न वाच्यम्' (भट्टि०) ।

(णौ चङ्यु०[१] शीङः०[२] शाच्छो०[३] शर्पूर्वाः[४] स्रवति० सप्तदश च

इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीये सप्तमाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ इति शिवम् ॥ ७२ ॥

अथ अष्टमाध्याये

प्रथमः पादः

(अथ द्विरुक्तिप्रकरणम्)

१. सर्वस्य द्वे १५

पद०—सर्वस्य ६। द्वे १। वृ०—अधिकारोऽयम् 'द्वन्द्वं० ८।१।१५' इति सूत्रं यावत्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः पदस्येत्यतः प्राक् सर्वस्य द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् (सर्वसंस्कृतसुबन्ततिङन्तशब्दस्येत्यर्थः)। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

२. तस्य परमाम्रेडितम् ३

पद०—तस्य ६। परम् १। आम्रेडितम् १। वृ०—तस्य द्विरुक्तस्य यत्परं शब्दरूपं तदाम्रेडितसंज्ञं भवति। उदा०—चौर चौर ३।

४. नित्य-वीप्सयोः

पद०—नित्यवीप्सयोः ७। स०—नित्यञ्च वीप्सा च नित्यवीप्से, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—नित्ये चार्थे वीप्सायां च यः शब्दो वर्त्तते, तस्य सर्वस्य द्वे भवतः। उदा०—पचति पचति। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। लुनीहि लुनीहि इत्येवमयं लुनाति। ग्रामो ग्रामो रमणीयः। पुरुषः पुरुषः निधनमुपैति।

७. उपर्यध्यधसः सामीप्ये

पद०—उपर्यध्यधसः ६। सामीप्ये ७। स०—उपरि च अधि च अधस् च इति तेषां समाहारः उपर्यध्यधस् तस्य (स० द्व०)। वृ०—उपरि, अधि, अधस् इत्येतेषां द्वे भवतः सामीप्ये। उदा०—उपर्युपरि दुःखम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो नगरम्।

११. कर्मधारयवदुत्तरेषु १५

पद०—कर्मधारयवत् अ०। उत्तरेषु ७। वृ०—इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत् कार्यं भवतीति तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

---

४. आभीक्ष्ण्यम् नित्यता। सा च तिङव्ययकृत्सु—पचति पचति। इति।

१५. द्वन्द्वं रहस्य-मर्यादावचन-व्युत्क्रमण-यज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु

पद०—द्वन्द्वम् १। रह०........व्यक्तिषु ७। स०—मर्यादायाः वचनं मर्यादावचनम्, यज्ञपात्राणां प्रयोगः यज्ञपात्रप्रयोगः, रहस्यञ्च मर्यादावचनं च व्युत्क्रमणं च यज्ञपात्रप्रयोगश्च अभिव्यक्तिश्चेति ते, तेषु (तत्पुरुषगर्भो द्व०)। वृ०—रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, अभिव्यक्ति इत्येतेषु अर्थेषु द्वन्द्वमिति निपात्यते, कर्मधारयवत् चास्य कार्यं भवति। उदा०—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते। आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते। द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः। द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञ-पात्राणि प्रयुनक्ति धीरः। द्वन्द्वं नारदपर्वतौ।

(अथ पदान्ते कार्यम्)

१६. पदस्य ८।३।५४

पद०—पदस्य ६। वृ०—अधिकारोऽयम् 'इडाया वा ८।३।५४' इति सूत्रं यावत्। यदितः ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः पदस्येत्येवं तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१७. पदात् ६९

पद० पदात् ५। वृ०—अधिकारोऽयम् 'कुत्सने० ८।१।६९' इति सूत्रं यावत्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः पदात् इत्येवं तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

१८. अनुदात्तं सर्वमपादादौ ७४

पद०—अनुदात्तम् १। सर्वम् १। अपादादौ ७। स०—पादस्य आदिः पादादिः, नपादादिः अपादादिस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अधिकारोऽयम् 'विभाषितं विशेषवचने ८।१।७४' इति सूत्रं यावत्। यदित उत्तरं वक्ष्यामः तद् अनुदात्तं सर्वमपादादौ इत्येवं तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

२०. युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ २६, २२

पद०—युष्मदस्मदोः ६। षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ६। वान्नावौ १। स०—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदी, तयोः (इ० द्व०)। षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया च षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः, तासु यौ तिष्ठतस्तौ षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ, तयोः (द्वन्द्वगर्भस्तत्पुरुषः)। वाम् च नौ च वान्नावौ (इ० द्व०)। वृ०—युष्मद-स्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः यथासंख्यं वान्नावौ आदेशौ भवतः, तौ चानुदात्तौ। उदा०—ग्रामो वां पश्यति। जनपदो नौ पश्यति।

२१. बहुवचनस्य वस्-नसौ

पद०—बहुवचनस्य ६। वस्नसौ १। स०—वश्च नश्च वस्नसौ (इ० द्व०)। वृ०—बहुवचनान्तयोः युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्यथासंख्यं वस् नस्

इत्येतौ आदेशौ भवतस्तौ चानुदात्तौ। उदा०—ग्रामो वः स्वम्। जनपदो नः स्वम्। ग्रामो वो दीयते। जनपदो नो दीयते। ग्रामो वः पश्यति। जनपदो नः पश्यति।

२२. ते-मयावेकवचनस्य　　२३

पद०—तेमयौ १। एकवचस्य ६। स०—तेश्च मेश्च तेमयौ (इ० द्व०)।

वृ०—युष्मदस्मदोरेकवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोर्यथासंख्यं ते मे इत्येतौ आदेशौ भवतस्तौ चानुदात्तौ। उदा०—ग्रामस्ते स्वम्। ग्रामो मे स्वम्। ग्रामस्ते दीयते। ग्रामो मे दीयते।

२३. त्वा-मौ द्वितीयायाः

पद०—त्वामौ १। द्वितीयायाः ६। स०—त्वाश्च माश्च त्वामौ (इ० द्व०)।

वृ०—द्वितीयायाः एकवचनान्तयोः युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं त्वामौ आदेशौ भवतस्तौ चानुदात्तौ। उदा०—ग्रामस्त्वा पश्यति। ग्रामो मा पश्यति।

२४. न च-वा-हाहैव-युक्ते　　२६

पद०—न अ०। चवाहाहैवयुक्ते ७। स०—चश्च वाश्च हश्च अहश्च एवश्च चवाहाहैवाः तैर्युक्तः चवाहाहैवयुक्तस्तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)।

वृ०—चवाहाहैवयुक्ते युष्मदस्मदोर्वान्नादय आदेशा न भवन्ति। उदा०—ग्रामस्तव च स्वम्। ग्रामो मम च स्वम्। युवयोश्च स्वम्। आवयोश्च स्वम्। युष्माकं च स्वम्। अस्माकं च स्वम्। ग्रामस्तुभ्यं च दीयते। ग्रामो मह्यं च दीयते। युवाभ्यां च दीयते। आवाभ्यां च दीयते। युष्मभ्यं च दीयते। अस्मभ्यं च दीयते। ग्रामस्त्वां च पश्यति। ग्रामो मां च पश्यति। युवां च पश्यति। आवां च पश्यति। युष्मांश्च पश्यति। अस्मांश्च पश्यति। ग्रामस्तव वा स्वम्। ग्रामो मम वा स्वम्। युवयोर्वा स्वम्। आवयोर्वा स्वम्। युष्माकं वा स्वम्। अस्माकं वा स्वम्। ग्रामस्तुभ्यं वा दीयते। ग्रामो मह्यं वा दीयते। युवाभ्यां वा दीयते। आवाभ्यां वा दीयते। युष्मभ्यं वा दीयते। अस्मभ्यं वा दीयते। ग्रामस्त्वां वा पश्यति। ग्रामो मां वा पश्यति। युवां वा पश्यति। आवां वा पश्यति। युष्मान् वा पश्यति। अस्मान् वा पश्यति। ग्रामस्तव ह स्वम्। एवम् अन्यान्युदाहरणान्यपि भवन्ति।

(सर्वस्य०[१] बहुवचनस्य०[२] शेषे विभाषा[३] हेति० चतुर्दश च इति प्रथमः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीयेऽष्टमाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति शिवम् ॥ १४ ॥

अथ द्वितीयः पादः

१. पूर्वत्रासिद्धम् ८।४।६८

पद०—पूर्वत्र अ० । असिद्धम् १ । स०—न सिद्धम् असिद्धम् (नञ्तत०) । वृ०—अधिकारोऽयम्, 'अ अ ८।४।६८' इति सूत्रं यावत् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः पूर्वत्रासिद्धमित्येवं तद्वेदितव्यम्, तत्रापि येयं सपादसप्ताध्याय्यनुक्रान्ता एतस्यामयं पादोनोऽध्यायोऽसिद्धो भवति । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

२. न-लोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति

पद०—नलोपः १ । सुप्···विधिषु ७ । कृति ७ । स०—नकारस्य लोपः, नलोपः (तत्०) । सुप् च स्वरश्च संज्ञा च तुक् च सुप्स्वरसंज्ञातुकः, एतेषां विधयः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधयस्तेषु (द्वन्द्वगर्भस्तत्०) । वृ०—सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ कृतः तुग्विधौ च नलोपः पूर्वत्रासिद्धो भवति । उदा०—राजभिः । राजभ्याम् । राजसु । राजवती । पञ्च ब्राह्मण्यः । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभिः । (नान्यत्र तेन राजाश्व इति सिध्यति । ऐस्त्वमात्वमेत्वं नाधः) ।

३. न मु ने

पद०—न अ० । मु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः । ने ७ । वृ०—नाभावे कर्त्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धो भवति । उदा०—अमुना ।

७. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८

पद०—न लुप्तषष्ठ्यन्तः । लोपः १ । प्रातिपदिकलुप्तषष्ठ्यन्तः । अन्तस्य ६ । वृ०—प्रातिपदिकस्य,पदस्य योऽन्त्यो नकारस्तस्य लोपो भवति । उदा०—राजा । राजभ्याम् । राजभिः । राजता । राजतरः । राजतमः ।

८. न ङि-सम्बुद्ध्योः

पद०—न अ० । ङिसम्बुद्ध्योः ७ । स०—ङिश्च सम्बुद्धिश्च ङिसम्बुद्धी, तयोः (इ० द्व०) । वृ०—ङिसम्बुद्ध्योः परयोः प्रातिपदिकस्य पदस्य योऽन्त्यो नकारस्तस्य लोपो भवति । उदा०—लोहिते चर्मन् । हे राजन् ।

---

१. पूर्वत्र इतः पूर्वसूत्रेषु परम् पादत्रयम् असिद्धम् । यदा अधिकारोऽयं पर-सूत्रे गच्छति, तदापि तत्र वक्ति, पूर्वत्र परं सूत्रम् असिद्धमिति अतश्च त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परमसिद्धमिति ।

९. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः १६, १५

पद०—मात् ५। उपधायाः ५। च अ०। मतोः ६। वः १। अयवादिभ्यः ५। स०—म् च अश्च तयोः समाहारः मम्, तस्मात् (स० द्व०)। यव आदिर्येषां ते यवादयः, न यवादयोऽयवादयस्तेभ्यः (बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्०)। वृ०—मकारान्तात् मकारोपधादवर्णान्तादवर्णोपधाद् यवादिवर्जितात् परस्य मतोर्वः आदेशो भवति। उदा०—किंवान्। शमीवान्। वृक्षवान्। पयस्वान्। विद्यावान्। भास्वान्।

१०. झयः

पद०—झयः ५। वृ०—झयः परस्य मतोर्वः आदेशो भवति। उदा०—अग्निचित्वान् ग्रामः। इन्द्रो मरुत्वान्।

१८. कृपो रो लः २२

पद०—कृपः ६। रः ६। लः १। वृ०—कृपो रेफस्य लकारादेशो भवति। उदा०—कल्प्ता। कल्प्तारौ। कल्प्तारः। क्लृप्तः। क्लृप्तवान्।

१९. उपसर्गस्यायतौ

पद०—उपसर्गस्य ६। अयतौ ७। वृ०—अयतौ परे उपसर्गरेफस्य लकारादेशो भवति। उदा०—प्लायते।

२०. ग्रो यङि २१

पद०—ग्रः ६। यङि ७। वृ०—ग्रः (गॄधातोः) रेफस्य लकारादेशो भवति यङि परे। उदा०—निजेगिल्यते। निजेगिल्येते। निजेगिल्यन्ते।

२१. अचि विभाषा २२

पद०—अचि ७। विभाषा १। वृ०—अजादौ प्रत्यये परे ग्रः रेफस्य विभाषा लकारादेशो भवति। उदा०—निगिरति। निगिलति। निगरणम्। निगलनम्। निगारकः। निगालकः।

२२. परेश्च घाङ्कयोः

पद०—परेः ६। च अ०। घाङ्कयोः ७। स०—घश्च अङ्कश्च घाङ्कौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—परे रेफस्य विभाषा लकारादेशो भवति घशब्दे अङ्कशब्दे च परतः। उदा०—परिघः। पलिघः। पर्यङ्कः। पल्यङ्कः।

२३. संयोगान्तस्य लोपः　　२४, २९

पद०—संयोगान्तस्य ६। लोपः १। स०—संयोगोऽन्ते यस्य तत् संयोगान्तं तस्य (बहु०)। वृ०—संयोगान्तस्य पदस्य लोपो भवति। उदा०—गोमान्। कृतवान्।

२४. रात् **सस्य**　　२८

पद०—रात् ५। सस्य ६। वृ०—रेफात् परस्य संयोगान्तपदस्य सकारस्यैव लोपो नान्यस्य भवति। उदा०—मातुः। पितुः। (ऊर्क्, ऊर्ग् नात्र गलोपः)।

२५. धि च

पद०—धि ७। च अ०। वृ०—धकारादौ प्रत्यये परे सकारस्य लोपः भवति। उदा०—अलविढ्वम्। अलविध्वम्। अपविढ्वम्। अपविध्वम्।

२६. झलो झलि　　३८

पद०—झलः ५। झलि ७। वृ०—झलः परस्य सकारस्य झलि परे लोपो भवति। उदा०—अभित्त। अभित्थाः। अच्छित्त। अच्छित्थाः। अवात्ताम्। अवात्त।

२७. ह्रस्वादङ्गात्

पद०—ह्रस्वात् ५। अङ्गात् ५। वृ०—ह्रस्वादङ्गात् परस्य सकारस्य झलि परे लोपो भवति। उदा०—अकृत। अकृथाः। अहृत। अहृथाः।

२८. इट ईटि

पद०—इटः ५। ईटि ७। वृ०—इटः परस्य सकारस्य ईटि परे लोपो भवति। उदा०—अदेवीत्। असेवीत्। (सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः)।

२९. स्-कोः संयोगाद्योरन्ते च　　३८

पद०—स्कोः ६। संयोगाद्योः ६। अन्ते ७। च अ०। स०—स् च कश्च स्कौ, तयोः (इ० द्व०)। संयोगस्य आदी संयोगादी, तयोः (तत्०)। वृ०—पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपो भवति। उदा०—लग्नः। लग्नवान्। साधुलक्। तष्टः। तष्टवान्। काष्ठतट्।

३०. चोः कुः

पद०—चोः ६। कुः १। वृ०—चवर्गस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति झलि परे, पदान्ते च। उदा०—पक्ता। पक्तुम्। पक्तव्यम्। ओदनपक्। वाक्।

३१. होः ढः ३५

पद०—होः ६ । ढः १ । वृ०—हकारस्य ढकारादेशो भवति झलि परे पदान्ते च । उदा०—सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् । तुषाराट् । प्रष्ठवाट् ।

३२. दादेर्धातोर्घः ३८, ३३

पद०—दादेः ६ । धातोः ६ । घः ६ । स०—दकार आदिर्यस्य स दादिस्तस्य (बहु०) । वृ०—दकारादेर्धातोर्हकारस्य स्थाने घकारादेशो भवति, झलि परे पदान्ते च । उदा०—दग्धा । दग्धुम् । दग्धव्यम् । काष्ठधक् । गोधुक् ।

३३. वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्

पद०—वा अ० । द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ६ । स०—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिह् च द्रुहमुहष्णुहष्णिहस्तेषाम् (इ० द्व०) । वृ०-द्रुह, मुह, ष्णुह, ष्णिह इत्येतेषां धातूनां हकारस्य स्थाने वा घकारादेशो भवति झलि परे पदान्ते च । उदा०—द्रोग्धा । द्रोढा । मित्रध्रुक् । मित्रध्रुट् । उन्मोग्धा । उन्मोढा । उन्मुक् । उन्मुट् । उत्स्नोग्धा । उत्स्नोढा । उत्स्नुक् । उत्स्नुट् । स्नेग्धा । स्नेढा । स्निक् । स्निट् ।

३४. नहो धः

पद०—नहः ६ । धः १ । वृ०—नहो हकारस्य स्थाने धकारादेशो भवति, झलि परे पदान्ते च । उदा०—नद्धम् । नद्धुम् । नद्धव्यम् । उपानत् । परीणत् ।

३५. आहस्थः

पद०—आहः ६ । थः १ । वृ०—आहो हकारस्य स्थाने थकारादेशो भवति, झलि परे । उदा०—किमात्थ । इदमात्थ ।

३६. व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राज-च्छ-शां षः

पद०—व्रश्च...... शाम् ६ । षः १ । स०—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च श् च व्रश्च ··· शस्तेषाम् (इ० द्व०) । वृ०—व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज, इत्येतेषां छकारान्तानां शकारान्तानां च धातूनां षकारादेशो भवति, झलि परे पदान्ते च । उदा०—व्रष्टा । मूलवृट् । भ्रष्टा । धानाभृट् । स्रष्टा । रज्जुसृट् । मार्ष्टा । कंसपरिमृट् । यष्टा । उपयट् । सम्राट् । विभ्राट् । प्रष्टा । शब्दप्राट् । वेष्टा । विट् ।

३७. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्-ध्वोः   ३८

पद०—एकाचः ६। बशः ६। भष् १। झषन्तस्य ६। स्ध्वोः ७। स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् तस्य (बहु०)। झष् अन्ते यस्य स झषन्तस्तस्य (बहु०)। स् च ध्व् च स्ध्वौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति झलादौ सकारे ध्वशब्दे च परे पदान्ते च। उदा०—भोत्स्यते। अभुद्ध्वम्। अर्थभुत्।

३८. दधस्त-थोश्च

पद०—दधः ६। तथोः ७। च अ०। स०—तश्च थ् च तथौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—दध इत्येतस्य झषन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथकारयोः परतश्चकारात् झलादौ सकारे ध्वशब्दे च परे। उदा०—धत्तः। धत्थः। धत्से। धत्स्व। धद्ध्वम्।

३९. झलां जशोऽन्ते

पद० – झलाम् ६। जशः १। अन्ते ७। वृ०—पदान्ते झलां जशः भवन्ति। उदा०—वागत्र। श्वलिडत्र। अग्निचिदत्र। त्रिष्टुबत्र।

४०. झषस्त-थोर्धोऽधः

पद०—झषः ५। तथोः ६। धः १। अधः ५। स०—तश्च थ् च तथौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—झषः परयोस्तकारथकारयोः स्थाने धकारादेशो भवति दधातिं (डुधाञ् धातुं) वर्जयित्वा। उदा०—लब्धा। लब्धुम्। लब्धव्यम्। अलब्ध। अलब्धाः। धत्तः।

४१. ष-ढोः कः सि

पद०—षढोः ६। कः १। सि ७। स०—षश्च ढ् च षढौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—षकारढकारयोः स्थाने ककारादेशो भवति सकारे परे। उदा०—वेक्ष्यति। अवेक्ष्यत्। विवक्षति। लेक्ष्यति। अलेक्ष्यत्। लिलिक्षति।

(अथ निष्ठादेशप्रकरणम्)

४२. र-दाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः   ६१

पद०—रदाभ्याम् ५। निष्ठातः ६। नः १। पूर्वस्य ६। च अ०। दः ६। स०—रश्च दश्च रदौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। निष्ठायाः तकारः निष्ठात् तस्य (तत्०)। वृ०—रेफदकाराभ्यां परस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, पूर्वस्य दकारस्य च। उदा०—आस्तीर्णम्। भिन्नः। भिन्नवान्।

४३. संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः

पद०—संयोगादेः ५। आतः ५। धातोः ५। यण्वतः ५। स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात् (बहु०)। वृ०—संयोगादिर्यो धातुराकारन्तो यण्वान् तस्मात् परस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति। उदा०—प्रद्राणः। प्रद्राणवान्।

४४. ल्वादिभ्यः

पद०—ल्वादिभ्यः ५। स०—लू (लूञ्) आदिर्येषां ते ल्वादयस्तेभ्यः (बहु०)। वृ०—ल्वादिभ्यः परस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति। उदा०—लूनः। लूनवान्।

४५. ओदितश्च

पद०—ओदितः ५। च अ०। स०—ओत् इत् यस्य स ओदित् तस्मात् (बहु०)। वृ०—ओदितो धातोः परस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति। उदा०—लग्नः। लग्नवान्।

५१. शुषः कः

पद०—शुषः ५। कः १। वृ०—शुषः धातोः परस्य निष्ठातकारस्य ककारादेशो भवति। उदा०—शुष्कः। शुष्कवान्।

५२. पचो वः

पद०—पचः ५। वः १। वृ०—पचः धातोः परस्य निष्ठातकारस्य वकारादेशो भवति। उदा०—पक्वः। पक्ववान्।

५३. क्षायो मः ५४

पद०—क्षायः ५। मः १। वृ०—क्षायः (क्षैधातोः) धातोः परस्य निष्ठातकारस्य मकारादेशो भवति। उदा०—क्षामः। क्षामवान्।

६२. क्विन्प्रत्ययस्य कुः ६३

पद०—क्विन्प्रत्ययस्य ६। कुः १। स०—क्विन् प्रत्ययः यस्मात् स क्विन्प्रत्ययः, तस्य (बहु०)। वृ०—क्विन्प्रत्ययान्तस्य पदस्य कवर्गादेशो भवति। उदा०—घृतस्पृक्।

६४. मो नो धातोः ६५

पद०—मः ६। नः १। धातोः ६। वृ०—मकारान्तस्य धातोः पदस्य नकारादेशो भवति। उदा०—प्रशान्। प्रतान्।

६५. म्-वोश्च

पद०—म्वोः ७। च अ०। स०—म् च व् च म्वौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—मकारे वकारे च परे मकारान्तस्य धातोः नकारादेशो भवति। उदा०—अगन्म तमसः पारम्। अगन्व। जगन्वान्।

६६. स-सजुषो रुः　　७१

पद०—ससजुषोः ६। रुः १। स०—सश्च सजुष् च ससजुषौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रुर्भवति। उदा०—अग्निरत्र। सजूर्ऋषिभिः।

६८. अहन्　　६९

पद०—अहन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। वृ०—अहन् इत्येतस्य पदस्य रुर्भवति। अहोभ्याम्। दीर्घाहो निदाघः।

६९. रोऽसुपि　　७१

पद०—रः १। असुपि ७। स०—न सुप् असुप्, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अहन् इत्येतस्य रेफादेशो भवति असुपि परे। उदा०—अहर्ददाति।

७२. वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां दः　　७५

पद०—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ६। दः १। स०—वसुश्च स्रंसुश्च ध्वंसुश्च अनडुह् च वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—सकारान्तस्य वस्वन्तस्य स्रंसु, ध्वंसु, अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो भवति पदान्ते। उदा०—विद्वद्भ्याम्। उखास्रद्भ्याम्। पर्णध्वद्भ्याम्। अनडुद्भ्याम्।

७३. तिप्यनस्तेः

पद०—तिपि ७। अनस्तेः ६। स०—न अस्तिः अनस्तिस्तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—अनस्तेः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति तिपि परे। उदा०—अचकाद् भवान्।

७४. सिपि धातो रुर्वा　　७५, ७९, ७५

पद०—सिपि ७। धातोः ६। रुः १। वा अ०। वृ०—सकारान्तस्य पदस्य धातोः रुः आदेशो भवति दकारो वा सिपि परे। उदा०—अचकास्त्वम्। अचकात् त्वम्।

---

७२. मण्डूकप्लुतगत्या 'ससजुषो रुः ८।२।६६' इति सूत्रात् 'सः' इत्यनुवर्तते। स च संभवात् व्यभिचाराच्च वसुनैव विशेष्यते। एवम् ७३, ७४ सूत्रेषु।

७५. दश्च

पद०—दः ६। च अ०। वृ०—दकारान्तस्य च धातो पदस्य रुः आदेशो भवति दकारो वा सिपि परे। उदा०—अभिनत् त्वम्। अभिनस्त्वम्।

७६. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ७९

पद०—र्वोः ६। उपधायाः ६। दीर्घः १। इकः ६। स०—र् च व् च र्वौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—रेफान्तस्य वकारान्तस्य च धातोः पदस्य उपधाया इको दीर्घो भवति। उदा०—गीः। धूः। पूः। आशीः। (वग्रहणमुत्तरार्थम्)।

७७. हलि च ७८

पद०—हलि ७। च अ०। वृ०—हलि च परे रेफान्तस्य वकारान्तस्य च च धातोः उपधाया इको दीर्घो भवति। उदा०—आस्तीर्णम्। दीव्यति। (अपदान्तार्थं पृथक् सूत्रम्)।

७८. उपधायां च

पद०—उपधायाम् ७। च अ०। वृ०—धातोरुपधाभूतौ यौ रेफवकारौ हल्परौ, तयोरुपधाया इको दीर्घो भवति। उदा०—हूर्छिता। ऊर्विता।

७९. न भ-कुर्छुराम्

पद०—न अ०। भकुर्छुराम् ६। स०—भश्च कुर् च छुर् च भकुर्छुरस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—रेफवकारान्तस्य भस्य कुर् छुर् इत्येतयोश्चोपधाया इको दीर्घो न भवति। उदा० -धुरं वहति धुर्यः, धुरि साधुर्धुर्यः। दिव्यम्। कुर्यात्। छुर्यात्।

८०. अदसोऽसेर्दादु दो मः ८१

पद०—अदसः ६। असेः ६। दात् ५। उलुप्तप्रथमान्तः। दः ६। मः १। स०—अविद्यमानः सिः (सकारः) यस्य स असिस्तस्य (बहु०)। वृ०—असकारान्तस्यादसो दात् परस्य वर्णस्य उवर्णादेशो भवति, दकारस्य च मकारादेशो भवति। उदा०—अमुम्। अमू। अमून्। अमुना। अमूभ्याम्।

८१. एत ईद् बहुवचने

पद०—एतः ६। ईत् १। बहुवचने ७। वृ०—असकारान्तस्यादसो दात् परस्य एकारस्य ईकारादेशो भवति, दकारस्य च मकारादेशो बहुवचने। उदा०—अमी। अमीभिः। अमीभ्यः। अमीषाम्। अमीषु।

१०८. तयोर्य्वावचि संहितायाम्　　　८।४।६८

अनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रम्।

(पूर्वत्रा०[1] अचि[2] षढोः[3] नसत्त[4] एत ईद्[5] चिदिति० अष्टौ च
इति द्वितीयः पादः)

॥ इति बृहदृजुपाणिनीयेऽष्टमाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ५५ ॥

अथ तृतीयः पादः

(अथ रुप्रकरणम्)

१. मतु-वसो रु संबुद्धौ छन्दसि १२

अनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रम् ।

२. अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ३, ४

पद०—अत्र अ० । अनुनासिकः १ । पूर्वस्य ६ । तु अ० । वा अ० । वृ०—अधिकारोऽयम् । अत्र (रुप्रकरणे) रोः पूर्वस्य तु अनुनासिको वा भवति । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

४. अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः

पद०—अनुनासिकात् ५ । परः १ । अनुस्वारः १ । वृ०—अनुनासिका-दन्यो यो वर्णः रोः पूर्वः यस्यानुनासिको न विहितस्ततः परोऽनुस्वार आगमो भवति । उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

५. समः सुटि

पद०—समः ६ । सुटि ७ । वृ०—सम इत्येतस्य रुर्भवति सुटि परे संहितायां विषये ।

वा० सं-पुं-कानां सो वक्तव्यः, समो वा लोपमेके

उदा०—सँस्स्कर्त्ता । संस्स्कर्त्ता । सँस्कर्त्ता । संस्कर्ता । एवं पुँस्कामा इत्यादि ।

६. पुमः खय्यम्परे ८

पद०—पुमः ६ । खयि ७ । अम्परे ७ । स०—अम् (प्रत्याहारः) परो यस्मात् स अम्परस्तस्मिन् (बहु०) । वृ०—पुम् इत्येतस्य रुर्भवति अम्परे खयि परे संहितायां विषये । उदा०—पुँस्कामा । पुंस्कामा । पुँश्चली । पुंश्चली ।

---

४. अन्यशब्दोऽत्राध्याहर्त्तव्यः ।

७. नश्छव्यप्रशान् १२, ८

पद०—नः ६। छवि ७। अप्रशान् षष्ठ्यर्थे प्रथमानिर्देशः। स०—न प्रशान् अप्रशान् (नञ्तत्०)। वृ०—प्रशान् वर्जितस्य नकारान्तस्य पदस्य रुर्भवत्यम्परे छवि परे संहितायाम्। उदा०— भवाँश्छादयति। भवांश्छादयति।

१३. ढो ढे लोपः १४

पद०—ढः ६। ढे ७। लोपः १। वृ०—ढकारस्य लोपो भवति ढकारे परे संहितायाम्। उदा०—लीढम्। उपगूढम्।

१४. रो रि १५

पद०—रः ६। रि ७। वृ०—पदस्य रेफस्य लोपो भवति रेफे परे संहितायाम्। उदा०—नीरक्तम्। अग्नी रथः।

१५. खरवसानयोर्विसर्जनीयः १६

पद०—खरवसानयोः ७। विसर्जनीयः १। स०—खर् च अवसानं च खरवसाने तयोः (इ० द्व०)। वृ०—रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति खरि अवसाने च परे संहितायाम्। उदा०—वृक्षश्छादयति। वृक्षः।

१६. रोः सुपि १७

पद०—रोः ६। सुपि ७। वृ०—रोः (रेफस्य) विसर्जनीयादेशो भवति सुपि परे संहितायाम्। उदा०—पयःसु।

१७. भो भगो अघो-अपूर्वस्य योऽशि २२, २०

पद०—भोभगोअघोअपूर्वस्य ६। यः १। अशि ७। स०—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च भोभगोअघोआः, भोभगोअघोआः पूर्वाः यस्य स भोभगोअघोअपूर्वस्तस्य (इतरेतरद्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—भो, भगो, अघो इत्येवं पूर्वस्य अवर्णपूर्वस्य च रोः (रेफस्य) यकारादेशो भवति, अशि परे संहितायाम्। उदा०—भो अत्र। भगो अत्र। अघो अत्र। क आस्ते। ब्राह्मणा ददति।

१८. व्-योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य २१, ३२

पद०—व्योः ६। लघुप्रयत्नतरः १। शाकटायनस्य ६। स०—व् च य् च व्यौ, तयोः (इ० द्व०)। लघुः प्रयत्नः यस्य स लघुप्रयत्नः (बहु०), अतिशयेन लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः। वृ०—भोभगोअघोअपूर्वयोः पदान्तयोः वकारयकारयोर्लघुप्रयत्नतर आदेशो भवति अशि परे शाकटायनाचार्यस्य मतेन। उदा०—भो यत्र। भो अत्र। भगो यत्र। भगो अत्र। अघो यत्र। अघो अत्र। कयास्ते। क आस्ते। असमायुद्धर। अस्मा उद्धर। असावादित्यः। असा आदित्यः।

१९. लोपः शाकल्यस्य २२

पद०—लोपः १। शाकल्यस्य ६। वृ०—अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो भवति अशि परे शाकल्याचार्यमतेन। उदा०—क आस्ते। कयास्ते। असा आदित्यः। असावादित्यः।

२२. हलि सर्वेषाम् २३

पद०—हलि ७। सर्वेषाम् ६। वृ०—भोभगोअघोअपूर्वस्य पदान्तस्य यकारस्य लोपो भवति, हलि परे सर्वेषामाचार्याणां मतेन। उदा०—भो हसति। भगो हसति। अघो हसति। वृक्षा हसन्ति।

२३. मोऽनुस्वारः २६, २४

पद०—मः ६। अनुस्वारः १। वृ०—पदान्तस्य मकारस्य अनुस्वारादेशो भवति हलि परे। उदा०—वनं याति।

२४. नश्चापदान्तस्य झलि

पद०—नः ६। च अ०। अपदान्तस्य ६। झलि ७। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तस्तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारादेशो भवति झलि परे। उदा०—पयांसि। आक्रंस्यते।

२६. हे मपरे वा २७, ३१

अनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रम्।

२८. ङ्णोः कुक्-टुक् शरि

पद०—ङ्णोः ६। कुक्टुक् १। शरि ७। स०—ङ् च ण् च ङ्णौ, तयोः (इ० द्व०)। कुक् च टुक् च तयोः समाहारः कुक्टुक् (स० द्व०)। वृ०—पदान्तयोर्ङ्णोः क्रमेण कुक्टुकौ आगमौ वा भवतः शरि परे। उदा०—प्राङ्क्शेते। प्राङ् शेते। वण्ट्शेते। वण्शेते।

३२. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ३३

पद०—ङमः ५। ह्रस्वात् ५। अचि ७। ङमुट् १। नित्यम् १। वृ०—पदान्तात् ह्रस्वात् ङमः परस्य अचः स्थाने ङमुडागमो भवति। उदा०—प्रत्यङ्ङास्ते। वण्णास्ते। कुर्वन्नास्ते।

---

३२. अत्र 'ङम्' इति प्रत्याहारग्रहणम्। 'उट्' इति अनुबन्धः प्रत्येकं सम्बध्यते। तेन- ङुट्, णुट्, नुट् इत्येवं भवति ङमुट् = ङुट्, णुट्, नुट् इति।

३४. विसर्जनीयस्य सः ५४

पद०—विसर्जनीयस्य ६। सः १। वृ०—विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, खरि परे। उदा०—वृक्षश्छादयति।

३५. शर्परे विसर्जनीयः ३६

पद०—शर्परे ७। विसर्जनीयः १। स०—शर् परो यस्मात् स शर्परस्तस्मिन् (बहु०)। वृ०—शर्परे खरि परे विसर्जनीयस्य विसर्जनीय आदेशो भवति। उदा०—शशः क्षुरम्।

३६. वा शरि

पद०—वा अ०। शरि ७। वृ०—विसर्जनीयस्य विसर्जनीय आदेश वा भवति, शरि परे। उदा०—वृक्षः शेते। वृक्षश्शेते।

वा० खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः

उदा०—वृक्षा स्थातारः। वृक्षाः स्थातारः। वृक्षास्स्थातारः।

३७. कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च ४९

पद०—कुप्वोः ७। ᳲक ᳲपौ १। च अ०। स०—कुश्च पुश्च कुपू, तयोः (इ० द्व०)। ᳲकश्च ᳲपश्च तौ (इ० द्व०)। वृ०—कवर्गपवर्गे च परे विसर्जनीयस्य यथासंख्यं ᳲक ᳲप (जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ) इत्येतौ आदेशौ भवतः, चकाराद् विसर्जनीयश्च। उदा०—वृक्ष ᳲकरोति। वृक्षः करोति। वृक्ष ᳲखनति। वृक्षः खनति। वृक्ष ᳲपचति। वृक्षः पचति। वृक्ष ᳲफलति। वृक्षः फलति।

३८. सोऽपदादौ ५४, ३९

पद०—सः १। अपदादौ ७। स०—पदस्यादिः पदादिः, न पदादिः अपदादिस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अपदाद्योः कुप्वोः परयोः विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति। उदा०—पयस्कम्। पयस्पाशम्।

३९. इणः षः ४८

पद०—इणः ५। षः १। वृ०—इणः परस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति, अपदाद्योः कुप्वोः परयोः। उदा०—सर्पिष्पाशम्। सर्पिष्कम्।

---

३४. 'खरि' 'इति' पदं मण्डूकप्लुत्यानुवर्त्तते। एवमपि ३५ सूत्रे।

४०. नमस्-पुरसोर्गत्योः

पद०—नमस्पुरसोः ६। गत्योः ६। स०—नमस् च पुरस् च तौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—नमस्पुरसोः गतिसंज्ञकयोः विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, कुप्वोः परयोः। उदा०—नमस्कर्त्ता। पुरस्कर्त्तुम्।

४१. इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य

पद०—इदुदुपधस्य ६। च अ०। अप्रत्ययस्य ६। स०—इच्च उच्च इदुतौ, इदुतौ उपधा यस्य स इदुदुपधः तस्य (इतरेतरद्वन्द्वगर्भो बहु०)। न प्रत्ययः अप्रत्ययः, तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—इकारोपधस्य उकारोपधस्य च अप्रत्ययस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति, कुप्वोः परयोः। उदा०—निष्कृतम्। दुष्कृतम्।

४८. कस्कादिषु च

पद०—कस्कादिषु ७। च अ०। स०—कस्क आदिर्येषां ते कस्कादयस्तेषु (बहु०)। वृ०—कस्कादिषु च विसर्जनीयस्य सकारः षकारो वा यथायोगमादेशो भवति, कुप्वोः परयोः। उदा०—कस्कः। कौतस्कुतः। भ्रातुष्पुत्रः।

(अथ अपदान्ते कार्यम्)

५५. अपदान्तस्य मूर्धन्यः ११९

पद०—अपदान्तस्य ६। मूर्धन्यः १। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तस्तस्य (नञ्तत्०)। वृ०—अधिकारोऽयम् 'निव्य० ८।३।११९' इति सूत्रं यावत्। आ पादपरिसमाप्तेरपदान्तस्य मूर्धन्यादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

५६. सहेः साडः सः ११९

पद०—सहेः ६। साडः ६। सः १। वृ०—सहेः साड्रूपस्य सकारस्य मूर्धन्यः आदेशो भवति। उदा०—जलषाट्। तुराषाट्।

५७. इण्-कोः ११९

पद०—इण्कोः ५। स०—इण् च कुश्च तयोः समाहारः इण्कु, तस्मात् (स० द्व०)। वृ०—आ पादपरिसमाप्तेः इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः इणः कवर्गाच्चेत्येव तद्वेदितव्यम्। उदाहरणमग्रे द्रष्टव्यम्।

५८. नुम्-विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि ११९

पद०—नुम्……वाये ७। अपि अ०। स०—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च नुम्विसर्जनीयशरः, नुम् विसर्जनीयशर्भिः व्यवायः नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाय-स्तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—नुम्व्यवायेऽपि विसर्जनीयव्यवायेऽपि शर्व्यवायेऽपि इण्कोः परस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। उदा०—सर्पींषि। सर्पिःषु। सर्पिष्षु।

५९. आदेश-प्रत्यययोः

पद०—आदेशप्रत्यययोः ६। स०—आदेशश्च प्रत्ययश्च आदेशप्रत्ययौ तयोः (इ० द्व०)। वृ०—इण्कवर्गाभ्यां परस्य आदेशः यः सकारः प्रत्ययस्य च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति। उदा०—सिषेच। अग्निषु।

६०. शासि-वसि-घसीनां च

पद०—शासिवसिघसीनाम् ६। च अ०। स०—शासिश्च वसिश्च घसिश्च शासिवसिघसयः, तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—शासि, वसि, घसि इत्येतेषां च इण्कोः परस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। उदा०—शिष्टः। उषितः। जक्षतुः।

७८. इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् ७९

पद०—इणः ५। षीध्वंलुङ्लिटाम् ६। धः ६। अङ्गात् ५। स०—षीध्वं च लुङ् च लिट् च षीध्वंलुङ्लिटस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—इणन्तादङ्गात् परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। उदा०—च्योषीढ्वम्। अच्योढ्वम्। चकृढ्वे।

७९. विभाषेटः

पद०—विभाषा १। इटः ५। वृ०—इणः परो य इट् तत इटः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धकारस्य मूर्धन्यादेशो विभाषा भवति। उदा०—लविषीध्वम्। लविषीढ्वम्। अलविध्वम्। अलविढ्वम्। लुलुविध्वे। लुलुविढ्वे।

८७. उपसर्ग-प्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः

पद०—उपसर्गप्रादुर्भ्याम् ५। अस्तिः १। यच्परः १। स०—उपसर्गश्च प्रादुश्च उपसर्गप्रादुसौ ताभ्याम् (इ० इ०)। य् च अच् च यचौ, यचौ परौ यस्मात् स यच्परः (द्वन्द्वगर्भो बहु०)। वृ०—उपसर्गेण्कोः प्रादुस्शब्दाच्च परस्य यकारपरस्य अच्परस्य चास्तेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। उदा०—अभिषन्ति। प्रादुःषन्ति। अभिष्यात्। प्रादुःष्यात्।

११०. न रपर-सृपि-सृजि-स्पृशि-स्पृहि-सवनादीनाम् ११६

पद०—न अ० । रपर......दीनाम् ६ । स०—रः परो यस्मात् स रपरः, सवनमादिर्येषां ते सवनादयः, रपरश्च सृपिश्च सृजिश्च स्पृशिश्च स्पृहिश्च सवनादयश्च रपर......दयस्तेषाम् (बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः) । वृ०—रेफपरस्य सकारस्य सृपि, सृजि, स्पृशि, स्पृहि इत्येतेषां सवनादीनां च सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति । उदा०—विस्रब्धः कथयति । पुरा क्रूरस्य विसृपः । वाचो विसर्जनात् । दिवस्पृशम् । निस्पृहं कथयति । सवने सवने ।

१११. सात्-पदाद्योः

पद०—सात्पदाद्योः ६ । स०—पदस्य आदिः पदादिः, सात् च पदादिश्च सात्पदाद्यौ, तयोः (तत्पुरुषगर्भो द्वन्द्व०) । वृ०—सात् इत्येतस्य पदादेश्च सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति । उदा०—अग्निसात् । दधि सिञ्चति ।

(इति मूर्धन्यादेशः)

(मतुवसो०[१] उञि०[२] इदुदु०[३] स्तौति०[४] भीरोः[५] ह्रस्वात्० एकोनविंशतिः च इति तृतीयः पादः)

॥ इति बृहदनुपाणिनीयेऽष्टमाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति शिवम् ॥ ३९ ॥

अथ चतुर्थः पादः

(अथ णत्वप्रकरणम्)

१. र-षाभ्यां नो णः समानपदे ३९

पद०—रषाभ्याम् ५। नः ६। णः १। समानपदे ७। स०—रश्च षश्च रषौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। समानं च तत् पदं च समानपदं तस्मिन् (कर्मधारयः)। वृ०—रेफषकाराभ्यां पदस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, समानपदे। उदा०—आस्तीर्णम्। कृष्णाति।

वा० ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्

उदा०—मातृणाम्। तिसृणाम्।

२. अट्-कु-प्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि ३९

पद०—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ७। अपि अ०। स०—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च अट्···नुमः, अट्कुप्वाङ्नुम्भिः व्यवायः अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायस्तस्मिन् (द्वन्द्वगर्भस्तत्०)। वृ०—अट्, कु, पु, आङ्, नुम् इत्येतैर्व्यवायेऽपि रेफषकाराभ्यां परस्य नकारस्य णकारादेशो भवति। उदा०—करणम्। अर्केण। दर्पेण। पर्याणद्धम्। बृंहणम्।

३. पूर्वपदात् संज्ञायामगः १३, ४

पद०—पूर्वपदात् ५। संज्ञायाम् ७। अगः ५। स०—अविद्यमानो गकारो यस्मिन् स अग्, तस्मात् (बहु०)। वृ०—गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य नकारस्य णकारादेशो भवति संज्ञायां विषये। उदा०—द्रुणसा। शूर्पणखा। (गकारयोगे न णत्वम् ऋगयनम्)।

१०. वा भाव-करणयोः ११

अनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रम्।

११. प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिषु च १३

पद०—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु ७। च अ०। स०—प्रातिपदिकस्य अन्तः प्रातिपदिकान्तः, प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तयस्तेषु (इ० द्व०)। वृ०—पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु स्थितस्य नकारस्य णकारादेशो वा भवति। उदा० माषवापिणौ। माषवापिनौ। माषवापाणि। माषवापानि। माषवापेण। माषवापेन।

१२. एकाजुत्तरपदे णः

पद०—एकाजुत्तरपदे ७ । णः १ । स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदस्तस्मिन् (बहु०)। वृ०—एकाजुत्तरपदे समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु स्थितस्य नकारस्य णकारादेशो भवति। उदा०—वृत्रहणौ। क्षीरपाणि। क्षीरपेण।

१४. उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य २३

पद०—उपसर्गात् ५। असमासे ७। अपि अ०। णोपदेशस्य ६। स०—न समासः असमासस्तस्मिन् (नञ्तत्०)। ण उपदेशे यस्य स णोपदेशस्तस्य (बहु०)। वृ०—उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नकारस्य णकारादेशो भवति, असमासेऽपि। उदा०—प्रणमति। प्रणायकः।

२८. उपसर्गाद् बहुलम् ३४

अनुवृत्यर्थमिदं सूत्रम्।

२९. कृत्यचः ३४, ३१

पद०—कृति ७। अचः ५। वृ०—उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्याचः परस्य कृति स्थितस्य नकारस्य णकारादेशो भवति। उदा०—प्रयाणम्।

३४. न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपाम् ३९

पद०—न अ०। भा······पाम् ६। स०—भाश्च भूश्च पूश्च कमिश्च गमिश्च प्यायीश्च वेप् च भा······वेपस्तेषाम् (इ० द्व०)। वृ०—उपसर्गस्थान्निमितात् परस्य भा, भू, पू, कमि, गमि, प्यायी, वेप इत्येतेभ्यः विहितस्य कृति स्थितस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति। उदा०—प्रभानम्। प्रभवनम्। प्रपवनम्। प्रकमनम्। प्रगमनम्। प्रत्यायनम्। प्रवेपनम्।

३६. नशेः षान्तस्य

पद०—नशेः ६। षान्तस्य ६। स०—ष् अन्ते यस्य स षान्तस्तस्य (बहु०)। वृ०—षकारान्तस्य नशेः णकारादेशो न भवति। उदा०—प्रनष्टः।

३७. पदान्तस्य

पद०—पदान्तस्य ६। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्य (तत्०)। वृ०—पदान्तस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति। उदा०—वृक्षान्।

---

३४. 'प्रपवणं सोमस्येति' इत्यस्मिन् स्थले पूञो हि णत्वं भवत्येव।

३९. क्षुभ्नादिषु च

पद०—क्षुभ्नादिषु ७। च अ०। स०—क्षुभ्ना आदिर्येषां ते क्षुभ्नादयस्तेषु (बहु०)। वृ०—क्षुभ्नादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति। उदा०—क्षुभ्नाति इत्यादयः।

४०. स्तोः श्चुना श्चुः ४२, ४४

पद०—स्तोः ६। श्चुना ३। श्चुः १। स०—स् च तुश्च तयोः समाहारः 'स्तुः' तस्य (स० द्व०)। श् च चुश्च तयोः समाहारः 'श्चुः' तेन (स० द्व०)। श् च चुश्च तयोः समाहारः 'श्चुः' (स० द्व०)। वृ०—सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ आदेशौ भवतः। उदा०—वृक्षश्शेते। वृक्षश्चनोति। अग्निचिच्छेते। अग्निचिच्चिनोति।

४१. ष्टुना ष्टुः ४४

पद०—ष्टुना ३। ष्टुः १। स०—ष् च टुश्च तयोः समाहारः 'ष्टुः' तेन (स० द्व०)। ष् च टुश्च तयोः समाहारः 'ष्टुः' (स० द्व०)। वृ०—सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गौ आदेशौ भवतः। उदा०—वृक्षष्षण्डे। वृक्षष्टीकते। पेष्टा। अग्निचिट्टीकते।

४२. न पदान्ताट्टोरनाम् ४४

पद०—न अ०। पदान्तात् ५। टोः ५। अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः। स०—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात (तत्०)। न नाम् अनाम् (नञ्तत्०)। वृ० – पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न भवति। उदा०—मधुलिट् तरति।

वा० अनाम्नवतिनगरीणामिति वक्तव्यम्

उदा०—षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

४५. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ४७

पद०—यरः ६। अनुनासिके ७। अनुनासिकः १। वा अ०। वृ०—पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परे अनुनासिकादेशो वा भवति। उदा०—वाङ्नयति। वाग् नयति।

वा० प्रत्यये भाषायां नित्यम्

उदा०—वाङ्मात्रम्।

---

४०. अत्र 'सूत्राणि छन्दोवत् भवन्ति' इति न्यायात् समासे 'स्तोः' इत्येतेषां न नपुंसकलिंगम्। एवं ४१ सूत्रेऽपि।

४५. 'न पदान्ता० ८।४।४२' इति सूत्रात् मण्डुकप्लुत्या 'पदान्तात्' इति अनुवर्तते।

(अथ द्वित्वप्रकरणम्)

४६. अचो र-हाभ्यां द्वे ४७, ५२

पद०—अचः ५। रहाभ्याम् ५। द्वे १। स०—रश्च हश्च रहौ, ताभ्याम् (इ० द्व०)। वृ०—अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा भवतः। उदा०—अर्कः। अर्क्कः।

४७. अनचि च

पद०—अनचि ७। च अ०। स०—न अच् अनच्, तस्मिन् (नञ्तत्०)। वृ०—अचः परस्य यरो द्वे वा भवतोऽनचि परे। उदा०—दद्ध्यत्र।

४९. शरोऽचि

पद०—शरः ६। अचि ७। वृ०—शरोऽचि परे द्वे न भवतः। उदा०—कर्षति। वर्षति। आकर्षः। अक्ष दर्शः। ('अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६' इति सूत्रस्यापवादोऽयम्)।

५०. त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य

पद०—त्रिप्रभृतिषु ७। शाकटायनस्य ६। स०—त्रिः प्रभृति येषां ते, तेषु (बहु०)। वृ०—त्रिप्रभृतिषु वर्णेषु संयुक्तेषु शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन द्वित्वं न भवति। उदा०—इन्द्रः। चन्द्रः। उष्ट्रः। राष्ट्रम्। भ्राष्ट्रम्।

५१. सर्वत्र शाकल्यस्य

पद०—सर्वत्र अ०। शाकल्यस्य ६। वृ०—शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वं न भवति। उदा०—अर्कः। मर्कः। ब्रह्मा। अपह्नुते।

५२. दीर्घादाचार्याणाम्

पद०—दीर्घात् ५। आचार्याणाम् ६। वृ०—आचार्याणां मतेन दीर्घात् परस्य संयुक्तस्य द्वित्वं न भवति। उदा०—दात्रम्। पात्रम्। मूत्रम्। सूत्रम्।

(इति द्वित्वप्रकरणम्)

५३. झलां जश् झशि ५६, ५४

पद०—झलाम् ६। जश् १। झशि ७। वृ०—झलां स्थाने जश् भवति, झशि परे। उदा०—लब्धा। दोग्धा। बोद्धा।

५४. अभ्यासे चर् च ५६

पद०—अभ्यासे ७। चर् १। च अ०। वृ०—अभ्यासे झलां चर् आदेशो भवति, जश् च। उदा०—चिखनिषति। बुभूषति।

५५. खरि च

पद०—खरि ७। च अ०। वृ०—खरि च परे झलां चर् आदेशो भवति। उदा०—भेत्ता।

५६. वावसाने ५७

पद०—वा अ०। अवसाने ७। वृ०—अवसाने झलां चर् आदेशो वा भवति। उदा०—वाक्। वाग्।

५८. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ५९, ६२

पद०—अनुस्वारस्य ६। ययि ७। परसवर्णः १। स०—परस्य सवर्णः परसवर्णः (तत्०)। वृ०—अनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णादेशो भवति। उदा०—शङ्किता।

५९. वा पदान्तस्य

पद०—वा अ०। पदान्तस्य ६। स०—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्य (तत्०)। वृ०—पदान्तस्यानुस्वारस्य परसवर्णादेशो वा भवति ययि परे। उदा०—तङ्कथञ्चित्रपक्षं डयमानन्नभःस्थम्पुरुषोऽवधीत्। तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभःस्थं पुरुषोऽवधीत्।

६०. तोर्लि

पद०—तोः ६। लि ७। वृ०—तवर्गस्य परसवर्णादेशो भवति लकारे परे। उदा०—अग्निचिल्लुनाति।

६१. उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य ६२

पद०—उदः ५। स्थास्तम्भोः ६। पूर्वस्य ६। स०—स्थाश्च स्तम्भ् च स्थातम्भौ, तयोः (इ० द्व०)। वृ०—उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णादेशो भवति। उदा०—उत्थाता। उत्तम्भिता।

६२. झयो होऽन्यतरस्याम् ६३, ६५

पद०—झयः ५। हः ६। अन्यतरस्याम् ७। वृ०—झयः परस्य हकारस्य पूर्वसवर्णादेशो भवति अन्यतरस्याम्। उदा०—वाग्हसति। वाग्घसति।

६३. शश्छोऽटि

पद०—शः ६। छः १। अटि ७। वृ०—झयः परस्य शकारस्य अटि परे छकारादेशो भवति, अन्यतरस्याम्। उदा०—वाक्छेते। वाक् शेते।

वा० छत्वममीति वाच्यम्

उदा०—तच्छ्लोकेन। तच्श्लोकेन।

६४. हलो यमां यमि लोपः ६५

पद०—हलः ५। यमाम् ६। यमि ७। लोपः १। वृ०—हलः परेषां यमां लोपो भवति, अन्यतरस्यां यमि परे। उदा०—शय्या। शय्य्या।

६५. झरो झरि सवर्णे

पद०—झरः ६। झरि ७। सवर्णे ७। वृ०—हलः परस्य झरो लोपो भवति, अन्यतरस्यां सवर्णे झरि परे। उदा०—प्रत्तम्। प्रत्त्तम्।

६८. अ अ

पद०—अ अ०। अ अ०। वृ०—विवृतस्य अकारस्य स्थाने (प्रयोगे) संवृतः अकारः भवति। उदा०—वृक्षः।

(रषाभ्यां[1] ष्टुना[2] उद० अष्टौ च इति चतुर्थः पादः)

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीयेऽष्टमाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ इति शिवम् ॥ ३२ ॥

इति क्षेमधरिणा कौशल्याजेन शाण्डिल्येन विहाराभिजनेन वाराणसीवास्तव्येन काशीपण्डितसभाध्यक्षेण राष्ट्रपतिसम्मानितेन प्रशिक्षणसंविधानप्रभृति-चत्वारिंशद्ग्रन्थराशिप्रणेत्रा गाण्डीवादिप्रमुखसंस्कृतपत्रिकासम्पादकेन न्यायतीर्थसाहित्यव्याकरणाचार्येण व्याख्यानवाग्मिना महामहोपाध्यायेन पण्डितराजेन दर्शनकेशरिणा डॉ० श्रीगोपालशास्त्रिणा विरचितं बृहदृजुपाणिनीयं ग्रन्थं सम्पूर्णम्।

॥ इति उत्तरार्धम् ॥

॥ इति बृहद्दजुपाणिनीयम् ॥

आदितः समष्टिसूत्राणि-१५८७

॥ इति शिवम् ॥

* * *

परिशिष्टकारिका

एकाजुगुणदन्तानां दीधीवेव्योश्च जीर्यतेः ।
जागर्तेश्च दरिद्रातेर्नानुनासः प्रयुज्यते ॥ १ ॥

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥ २ ॥

आमोऽमित्वमदन्तत्वादगुणत्वाद्विदेस्तथा ।
आस्कासोराम्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत् ॥ ३ ॥

ईक्षमीक्षं तदा बाला रोदं रोदं चमूमनु ।
आपमापं निवृत्ता या जीवेदेकाकिनी कथम् ॥ ४ ॥

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात्तिकितीति ल्यबुच्यते ।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गानां ल्यपा भवति बाधनम् ॥ ५ ॥

गत्वा स्नात्वा च दध्यन्नं भुक्त्वा पीत्वाम्बुशीतलम् ।
वटेशयित्वा क्रीडित्वा पातो मन्दातपे सुखी ॥ ६ ॥

ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया ।
सकारस्येष्यते लोपः शब्दशास्त्रविचक्षणैः ॥ ७ ॥

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च मिदेः क्रिया ।
भासासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया ॥ ८ ॥

तातङि ङित्वं संक्रमकृत्स्यादन्त्यविधिश्चेत्तच्च तथा न ।
हेरधिकारे हेरधिकारो लोपविधौ तु ज्ञापकमाह ॥ ९ ॥

तातङो ङित्त्वसामर्थ्यान्नायमन्त्यविधिः स्मृतः ।
त तद्वदनङादीनां तेन तेऽन्त्यविकारजाः ॥ १० ॥

गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम् ।
पुनर्वृद्धिर्निषेधोऽतो यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव ॥ ११ ॥

चिण्वद्वृद्धियुक् च हन्तेश्च घत्वं
दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति ।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णि-
र्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती ॥ १२ ॥

जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्‌दीधी-वेवी-चकास्‌ तथा ।
अभ्यस्तसंज्ञाः सप्तैतेप्यभ्यस्ता ये च धातवः ॥ १३ ॥

रोदितिः श्वसितिश्चैव स्वपितिः प्रणितिस्तथा ।
जक्षितिश्चेति विज्ञेयो रुदादिः पञ्चको गणः ॥ १४ ॥

तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद्दान्ते दोषो निष्ठानत्वम्‌ ।
धान्ते दोषो धत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तम्‌ ॥ १५ ॥

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चास अनादपि ।
आह चापमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विकल्पितः ॥ १६ ॥

मुञ्चतिलुम्पतिश्चैव विदिर्लिम्पतिरेव च ।
सिचिः कृतिः खिदिश्चैव पिशिश्चाष्टौ मुचादयः ॥ १७ ॥

यजो वपो वहिश्चैव व्येञ्वेञौ श्वयतिस्तथा ।
वद्वसौ ह्वयतिश्चैव स्मृता नव यजादयः ॥ १८ ॥

लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि ।
समो वा हिततयोर्मासस्य पचि युड्घञोः ॥ १९ ॥

शैषिकान्‌ मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥ २० ॥

हलः सेट्‌ सिचि वृद्धिर्नातो हलादेर्लघोस्तथा ।
स्याल्लृान्तस्य वदिव्रज्योर्न श्वसक्षणह्म्यॆदिताम्‌ ॥ २१ ॥

क्नूर्णोर्गित्वान्न स्थ, ईकारः क्ङितोरीत्वशासनात्‌ ।
श्र्युकोऽनिट्त्वगकोरितो गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः ॥ २२ ॥

॥ इति परिशिष्टकारिका ॥

बृहद्‌वृ‌जुपाणिनीयसूत्राणां सूची

आ

इ

उ

फ

ब

हनः सिच् १।२।१४
हनस्तोऽचिण्णलोः ७।३।३२
हनो वध लिङि २।४।४२
हन्तेर्जः ६।४।३६
हलः ६।४।२
हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३
हलदन्तात्सप्त० ६।३।९
हलन्ताच्च १।२।१०
हलन्त्यम् १।३।३
हलश्च ३।३।१२१
हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०
हलादिः शेषः ७।४।६०
हलि च ८।२।७७
हलि लोपः ७।२।११३
हलि सर्वेषाम् ८।३।२२
हलोऽनन्तराः सं० १।१।७
हलो यमां यमि ८।४।६४
हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घा० ६।१।६८
हृषि च ६।१।११४

हायनान्तयुवा० ५।१।१३०
हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१
हुश्नुवोः सार्वधा० ६।४।८७
हृदयस्य हृल्ले० ६।३।५०
हृद्भगसिन्ध्वन्ते पू० ७।३।१९
हेतुमति च ३।१।२६
हे मपरे वा ८।३।२६
हेरचङि ७।३।५६
हो ढः ८।२।३१
होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४
ह्म्यन्तक्षणश्वसजा० ७।२।५
ह्रस्वः ७।४।५९
ह्रस्वं लघु १।४।१०
ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८
ह्रस्वस्य पिति कृ० ६।१।७१
ह्रस्वादङ्गात् ८।२।२७
ह्रस्वो नपुंसके० १।२।४७
ह्वः संप्रसारणम् ६।१।३२